राजस्थानी साहित्य

की

रूपरेखा

[राजस्थानी भाषा, साहित्य तथा कवियों का विवेचनात्मक परिचय]



लेखक—

पं० मोतीलाल मेनारिया एम० ए०



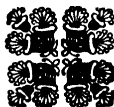
प्रकाशक—

छात्रहितकारी पुस्तकमाला,

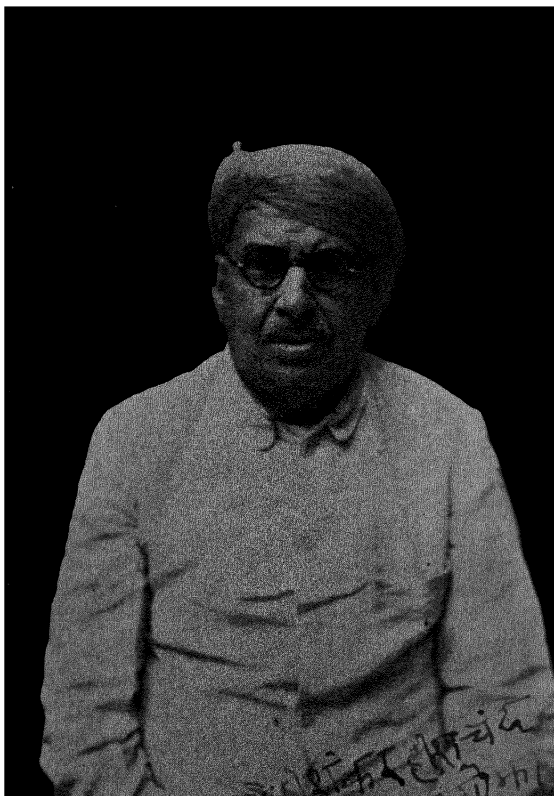
दारागंज, प्रयाग।

प्रथम संस्करण १०००] अगस्त १९३९ [मू० ३॥)

प्रकाशक—
श्री केदारनाथ गुप्त, एम० ए०
प्रोप्राइटर—छात्रहितकारी पुस्तकमाला
दारागंज, प्रयाग।



मुद्रक—
श्री रघुनाथ प्रसाद वर्मा
नागरी प्रेस, दारागंज,
प्रयाग।



डाक्टर गौरीशङ्कर-हीराचंद ओझा

समर्पण-पत्र

राजस्थानी भाषा, राजस्थानी साहित्य और राजस्थानी संस्कृति

के

अनन्य उपासक

तथा

इतिहास एवं पुरातत्व

के

प्रकांड विद्वान

महामहोपाध्याय रायबहादुर साहित्य-वाचस्पति

पंडित गौरीशंकर-हीराचन्द ओझा, डी० लिट्०

के

कर-कमलों

में—

सादर समर्पित

—मोतीलाल मेनारिया

भूमिका

इस पुस्तक का उद्देश्य राजस्थान की काव्य-धारा तथा यहाँ के प्रधान प्रधान साहित्यकारों का संक्षिप्त परिचय, उनकी रचनाओं और जीवनियों सहित, हिन्दी भाषा भाषियों से कराना है। राजस्थान का प्राचीन साहित्य विशेषतः डिंगल साहित्य बहुत विस्तृत है, जो कविता एवं इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के साथ साथ भाषा-विज्ञान के विचार से भी परम उपयोगी है। पर दुख है कि हिन्दी के विद्वानों ने इसे अभी तक उपेक्षा के भाव से देखा है। अवधी, बुँदेलखंडी आदि भाषाओं को तो हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखक हिन्दी के अंतर्गत मानते हैं पर डिंगल को यह गौरव नहीं देते। इसका मूल कारण क्या है, यह तो ठीक ठीक नहीं बतलाया जा सकता। परन्तु इस संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण उनकी बहुत हानि और हँसी हुई हैं, इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है। यदि हिन्दी के विद्वानों ने विवेक और सद्भावना के साथ राजस्थानी साहित्य का अध्ययन किया होता तो राजस्थान के प्रसिद्ध कवि पृथ्वीराज को साधारण श्रेणी का कवि तथा वृन्द को केवल मात्र सूक्तिकार वे न बतलाते और भूषण को वीररस का सर्वोत्कृष्ट कवि मानने की भयंकर भूल भी उनसे न हुई होती। एक बहुत बड़े आश्चर्य्य की बात तो यह है कि जब हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखकों को वीरगाथा-काल क़ायम करने की ज़रूरत महसूस हुई तब तो उन्होंने डिंगल के कवियों के नाम हिन्दी के कवियों में गिना कर अपना काम निकाल लिया, अपना सिद्धान्त स्थापित कर लिया। पर बाद में लिख दिया कि 'हिन्दी साहित्य के इतिहास में हम पिंगल भाषा में लिखे हुए ग्रन्थों का ही विचार कर सकते हैं।' क्यों? इस जगह प्रश्न हो सकता है कि हिन्दी साहित्य के वीर गाथा काल में से यदि डिंगल के कवियों को निकाल लिया जाय तो फिर बचता क्या है? तब तो वीरगाथा-काल का अस्तित्व ही शायद न रहेगा। फिर हिन्दी साहित्य के इतिहास में जब पिंगल (ब्रजभाषा) के ग्रन्थों का ही समावेश हो सकता है तब कोई कारण नहीं दीखता कि पद्मावत, रामचरित मानस आदि ग्रंथ,

जो अवधी भाषा में लिखे हुए हैं, हिन्दी के माने जायँ। एक बात और है। इसे कविवर बिहारीलाल के शब्दों में सुनिये :—

सीतलता अरु सुगंध की, महिमा घटी न मूर।
पीनस वारे जो तज्यौ, सोरा जानि कपूर ॥

परन्तु, जमाने के साथ साथ यह भेद-भाव अब बदल रहा है और नागरी प्रचारिणी सभा, काशी तथा हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग के सुद्योगों से यह उपेक्षित साहित्य प्रकाश में आने लगा है और बहुत कुछ आया भी है।

राजस्थान में चारण-भाटों के सैकड़ों गाँव हैं। इसमें से प्रत्येक गाँव में से एक एक कवि भी यदि चुना जाय और उसका पूरा विवरण दिया जाय तो कई हजार पृष्ठों का एक बहुत बड़ा ग्रंथ तैयार हो सकता है जो एक आदमी के बूते का काम नहीं है। अतएव मैंने राजस्थान के, डिंगल और पिंगल दोनों के, बहुत प्रसिद्ध २ कवियों को चुना है और इस चुनाव में अपनी रुचि से काम लिया है। कुछ को काव्योत्कर्ष की दृष्टि से, कुछ को भाषा-शास्त्र की दृष्टि से और कुछ को इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण समझ कर इस पुस्तक में स्थान दिया गया है। इस सम्बन्ध में मत-भेद हो सकता है। किसी देश की भौगोलिक परिस्थिति और उसके राजनैतिक इतिहास का वहाँ के साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसलिए ग्रन्थ के प्रारम्भ में मैंने भी राजस्थान का संक्षिप्त राजनैतिक इतिहास और भौगोलिक वर्णन जोड़ दिया है। इससे पाठकों को यहाँ के साहित्य की आभ्यन्तरिक भावना और विचार धारा को समझने में सहायता मिलेगी, ऐसी आशा है। राजस्थान के वर्तमान कवियों और गद्य लेखकों की संख्या भी बहुत बड़ी है। पर मैंने सिर्फ उन्हीं को चुना है जिनके ग्रंथों की सार्थकता सिद्ध हो चुकी है और जिनमें मौलिकता के चिन्ह दृष्टिगोचर होते है। कवियों और गद्य - लेखकों में बहुत से ऐसे हैं जिन्होंने साहित्य क्षेत्र के सिवा राजनैतिक आदि इतर क्षेत्रों में भी बड़ा नाम पाया है। पर पुस्तक का कलेवर बढ़ जाने के भय से मैंने उनके साहित्यिक जीवन को ही प्रधानता दी है और उनके दूसरे कार्यों की ओर केवल संकेत मात्र कर के छोड़ दिया है। यथा संभव मैंने इस बात की कोशिश की है कि राजस्थान के सभी प्रसिद्ध

प्रसिद्ध साहित्यकारों का विवरण इसमें आ जाय। फिर भी मेरी अनभिज्ञता तथा पुस्तक को छोटे से छोटे रूप में प्रस्तुत करने की धुन में यदि किसी ख्यातनामा साहित्यकार को छोड़ दिया हो तो उसके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

इस पुस्तक के लिये सामग्री आदि जुटाने में जिन सज्जनों ने मेरी सहायता की है, मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। श्रीयुत पुरोहित हरिनारायण जी, बी० ए० (जयपुर) ने बहुत से दादू पंथी संतों की कविताओं के नमूने भेजने की कृपा की तथा श्रीयुत कविवर घनश्याम जी (किशनगढ़) और श्रीयुत ठाकुर सयत्देव जी आढ़ा एम० ए०, एल-एल० बी० (जोधपुर) ने क्रमशः वृन्द कवि और दुरसा जी की जीवनियों के लिए सामग्री प्रदान की, इसके लिये इन तीनों सज्जनों का मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ। दुरसा जी के जीवन चरित्र सम्बन्धी यह सामग्री श्रीयुत ठाकुर सत्यदेव जी के स्वर्गीय पिता शङ्करदान जी ने बड़े परिश्रम से इकट्ठी की थी। इस समस्त सामग्री का उपयोग मैं इस पुस्तक में नहीं कर सका हूँ। डिङ्गल काव्य पर एक दूसरा ग्रन्थ लिखने का मेरा इरादा है। उसमें दुरसाजी का पूरा इतिवृत्त दूँगा। साहित्य रत्न पं० उमाशङ्कर जी द्विवेदी (मेवाड़) ने अपना सारा पुस्तकालय मेरे भरोसे पर छोड़ दिया और बहुत सी कविताएँ आदि देकर मेरा साहस बढ़ाया। इस सौजन्य के लिये मैं पंडित जी को धन्यवाद देना चाहता हूँ। पर क्योंकि वे मुझे अपना समझते हैं और धन्यवाद की आशा भी मुझसे नहीं रखते इसलिये ज़बरदस्ती 'धन्यवाद' का बोझ उनपर लाद कर उनको रुष्ट करना मैं नहीं चाहता। जिन लेखकों के ग्रन्थों से इस पुस्तक के प्रणयन में सहायता ली गई है, उनका आभार भी मैं हृदय से स्वीकार करता हूँ।

राजस्थानी साहित्य के इतिहास को इस प्रकार क्रमबद्ध रूप में लिखने का यह पहला प्रयत्न है और इसलिये इसमें यदि त्रुटियाँ बहुत रह गई हों तो इस में कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है। पर पुस्तक ऐसे स्थान पर बैठ कर लिखी गई है जहाँ साहित्य बाज़ार की वस्तु और साहित्यकार निठल्ले समझे जाते हैं और जहाँ का वातावरण इस तरह के कार्यो के लिये बिलकुल अनुपयुक्त है, यह सोचकर पाठक मुझे क्षमा करेंगे इसका मुझे पूरा विश्वास है। यदि इस

पुस्तक से हिन्दी भाषा भाषियों की थोड़ी सी भी रुचि राजस्थानी साहित्य की ओर हुई तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

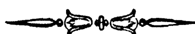
अन्त में अपने मित्र पं० गणपति लाल जी तथा भानजी सौभाग्यवती नाथी देवी मेनारिया को धन्यवाद देना भी मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने प्रेस-कापी तैयार करने में मेरी बड़ी सहायता की है। श्रीयुत गणेश पांडेय जी का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने बड़े प्रेम के साथ पुस्तक के मुद्रण और प्रकाशन का भार अपने ऊपर लिया है।

उदयपुर (मेवाड़)
ता० १-७-३९

—मोतीलाल मेनारिया

विषय-सूची

राजस्थानी साहित्य
की
रूप-रेखा
पहला अध्याय



There is not a petty state in Rajasthan that has not had its Thermopylae, and scarcely a city that has not produced its Leonidas.

—*Col. James Tod*

इस पुण्यभूमि भारतवर्ष के गौरवशाली इतिहास में राजस्थान का स्थान बहुत ऊँचा है। हिन्दू धर्म, हिन्दू गौरव तथा हिन्दू स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिये जो जो उद्योग यहाँ के वीर एवं वीराङ्गनाओं ने समय समय पर किये वे इतिहास में अमिट अक्षरों में अङ्कित हैं और उनकी कीर्ति-कथा ने राजस्थान तथा भारत के ही इतिहास को नहीं, वरन् समस्त मानव-जाति के इतिहास को प्रकाशमान कर दिया है। राजस्थान का इतिहास भारत की वीरता का इतिहास है, इसमें कोई सन्देह नहीं; परन्तु साथ ही वह हमें अपने विगत गौरव और भावी कर्तव्य की याद दिलानेवाला स्मृति-चिन्ह भी है। अजमेर के ध्वंसावशेष, चित्तौड़ के जीर्ण-शीर्ण राजमहल और हल्दीघाटी के रणक्षेत्र पर खड़े होकर जब हम हिन्दूपति महाराज पृथ्वीराज, वीरललना महारानी पद्मिनी और प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रताप के वीरोचित कार्यों

का स्मरण करते हैं तब हमारी आँखों में आँसू आ जाते हैं और मुँह से सहसा निकल पड़ता है—हाय, हम क्या थे और क्या हो गये। समय के साथ साथ हमारी मनोवृत्तियाँ बदल गई हैं और पाश्चात्य सभ्यता तथा शिक्षा के संस्पर्श ने हमारे दृष्टिकोण को इतना विकृत कर दिया है कि इन वीर पुरखाओं के धर्म-युद्धों को भी नीति-नैपुण्य एवं दूरदर्शिता से शून्य घोषित करते हुए हमें दुःख नहीं होता। परन्तु जो स्वदेशाभिमानी हैं, जातीय संगठन के महत्त्व को समझते हैं और जिनके हृदय में वीरता एवं पुरुषों के लिये स्थान है वे तो हमारे राष्ट्रीय कवि के सुर में सुर मिलाकर राजस्थान की महत्ता में आज भी यही गाते हैं:—

मोहे विदेशी वीर भी जिस वीरता के गान से।
जिस पर बने हैं ग्रंथ रासो और राजस्थान से॥
थी उष्णता वह उस हमारे शेष शोणित की अहा!
जो था महाभारत समर में नष्ट होते बच रहा॥

(१)

भौगोलिक वर्णन :

स्थिति, सीमा और विस्तार—राजस्थान २३°३' से ३०° १२' उत्तर अक्षांश और ६९° ३०' से ७८° १७' पूर्व देशान्तर के बीच फैला हुआ है। इसके उत्तर में पञ्जाब, पूर्व में संयुक्त प्रान्त और मध्यभारत, दक्षिण में गुजरात, कच्छ के रण का उत्तरी पूर्वी भाग तथा मालवा और पश्चिम में सिंध प्रान्त है। इसकी सबसे अधिक लंबाई पूर्व से पश्चिम तक ५२० मील, चौड़ाई उत्तर से दक्षिण तक ४८० मील और क्षेत्रफल १३०४६२ वर्गमील के लगभग है।

प्राकृतिक विभाग—अर्वली पर्वत श्रेणी ने इस प्रान्त को दो भागों में विभक्त कर दिया है—उत्तर-पश्चिमी और दक्षिण-पूर्वी।

उत्तर-पश्चिमी विभाग में बीकानेर, जैसलमेर, जोधपुर और जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रदेश का अंश है। इसमें समस्त प्रान्त का $\frac{3}{5}$ भाग आ गया है। यह विभाग रेतीला एवं अनुपजाऊ है, और यहाँ वर्षा भी बहुत

कम होती है। जोधपुर में वर्षा का औसत १३ इञ्च, बीकानेर में १२ इञ्च तथा जैसलमेर में ७ इञ्च के लगभग है। इस तरफ़ दो रेगिस्तान हैं, और भारत के अन्य प्रान्तों की अपेक्षा यहाँ अकाल भी अधिक पड़ते हैं। शीत-काल में इधर बहुत अधिक सर्दी तथा उष्ण काल में बहुत अधिक गर्मी पड़ती है और लू तथा आँधियाँ भी बहुत चलती हैं। यहाँ विशेषकर एक ही फ़सल ख़रीफ़ (सियालू) की होती है, रबी (उनालू) की बहुत कम। जलवायु शुष्क, किन्तु स्वास्थ्यप्रद है और घोड़े, ऊँट, बैल आदि जानवर बहुत अच्छे होते हैं।

दक्षिण-पूर्वी विभाग में जयपुर, अलवर, भरतपुर, धौलपुर, करौली, किशनगढ़, टोंक, कोटा, बूँदी, झालावाड़, मेवाड़, डूंगरपुर, प्रतापगढ़, बाँस-वाड़ा, सिरोही एवं शाहपुरा के राज्य और अजमेर मेरवाड़े का इलाक़ा है। इस विभाग में वर्षा अपेक्षाकृत अच्छी होती है और ज़मीन भी अधिक उपजाऊ है। मेवाड़ में वर्षा का औसत २४ इञ्च, झालावाड़ में ३७ इञ्च और बाँसवाड़ा में ३८ इञ्च के लगभग है। अधिक ऊँचाई के कारण आबू पर वर्ष में ५७-५८ इञ्च के करीब वर्षा होती है। जल की बहुतायत से इस तरफ़ कई घने जंगल हैं, जिनमें इमारती काम की कीमती लकड़ी के अतिरिक्त तरह तरह के फल-फूल भी होते हैं। इस विभाग में फसलें भी साधारण रूप से दो होती हैं। परन्तु आबहवा के तर होने से लोगों को मलेरिया तथा क़ब्ज़ियत की शिकायत बहुधा रहती है।

पर्वत—राजस्थान का मुख्य पहाड़ अर्वली है, जो यहाँ आड़ावाला के नाम से प्रसिद्ध है। इसी की शाखायें समस्त प्रान्त में फैली हुई हैं। यह पर्वत इस प्रान्त के ईशानकोण से प्रारंभ होकर नैर्ऋत्य कोण तक चला गया है, और वहाँ से दक्षिण की ओर आगे बढ़ता हुआ सतपुड़ा से जा मिला है। उत्तर में इसकी श्रेणियाँ बहुत चौड़ी नहीं हैं। पर अजमेर से दक्षिण में जाकर वे बहुत चौड़ी होगई हैं। सिरोही, उदयपुर राज्य के दक्षिणी और पश्चिमी भाग तथा डूंगरपुर, बाँसवाड़ा और प्रतापगढ़ राज्य का पश्चिमी भाग इन श्रेणियों से बहुत कुछ ढँका हुआ है। एक दूसरी श्रेणी उदयपुर राज्य के मांडलगढ़ ज़िले से प्रारंभ होकर बूँदी, कोटा व जयपुर राज्य के दक्षिण तथा

झालावाड़ राज्य में होकर पूर्व और दक्षिण मध्य भारत में फैलती हुई सतपुड़ा से जा मिली है। अलवर राज्य के पश्चिमी भाग तथा उससे मिले हुए जयपुर राज्य में कुछ दूर तक एक श्रेणी और चली गई है। जोधपुर राज्य के दक्षिणी भाग में एक अलग श्रेणी आगई है जिसे सूँदा पहाड़ कहते हैं। अर्वली पहाड़ का सबसे ऊँचा हिस्सा सिरोही राज्यान्तर्गत आबू का पर्वत है। इसकी सबसे ऊँची चोटी की ऊँचाई समुद्र की सतह से ५६५० फुट है।

नदियाँ—इस प्रान्त की सबसे बड़ी नदी चंबल है। यह मध्यप्रान्त में मऊ की छावनी से ९ मील दक्षिण पश्चिम से निकलती है, और धौलपुर, करौली, टोंक, कोटा, मेवाड़ और झालावाड़ के निकट बहती हुई संयुक्त प्रान्त में इटावा के पास जमुना में मिल जाती है। इसकी पूरी लंबाई ६५० मील है। लूंणी अजमेर के पास पुष्कर से निकलती है और जोधपुर राज्य में बहती हुई कच्छ के रण में मिल जाती है। मही मध्यभारत से निकल कर डूंगरपुर और बाँसवाड़ा राज्यों की सीमा बनाती हुई खंभात की खाड़ी में जा गिरती है। इसकी लबाई ३५० मील के लगभग है। इनके सिवा बाणगंगा, सरस्वती, बेड़च, सोम आदि और भी बहुत सी नदियाँ हैं, पर वे बहुत छोटी हैं।

झीलें—यहाँ की सबसे बड़ी प्राकृतिक झील सांभर की है। जब यह पूरी भर जाती है तब इसकी लबाई २० मील और चौड़ाई २ से ७ मील तक हो जाती है। यह जोधपुर तथा जयपुर राज्यों की सीमा पर है। वर्ष भर में यहाँ पचास लाख मन के लगभग नमक तैयार होता है। इस समय यह अंग्रेज़ी सरकार के अधिकार में है; और जोधपुर तथा जयपुर राज्यों को इसके बदले में नियत सालाना रक़म मिलती है। कृत्रिम झीलें यहाँ कई हैं, जिनमें मेवाड़ की जयसमुद्र नामक झील संसार भर की कृत्रिम झीलों में सबसे बड़ी है।

भौगोलिक स्थिति का प्रभाव—राजस्थान की प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव उसके इतिहास, उसकी संस्कृति और उसके निवासियों के रहन-सहन पर बहुत पड़ा है। यहाँ के मरुस्थल की गर्म रेत तथा अर्वली की दुर्गम घाटियों

ने यहाँ के रहनेवालों को साहसी तथा कष्टसहिष्णु ही नहीं बनाया, बल्कि इन्होंने बाहरी शत्रुओं के आक्रमणों से देश की रक्षा भी की है। मरूदेश में बाहर से आक्रमण करनेवालों के लिये विजय प्राप्त करना कठिन होता था, इसलिये उत्तर की ओर से आने वाले शत्रुओं ने पंजाब से ठीक दक्षिण की ओर बढ़ना पसंद न किया, और राजस्थान पर आक्रमण करने का विचार छोड़कर वे पूर्व में बंगाल तक के प्रदेशों में ही लूट-पाट मचाते रहे। अलाउद्दीन ख़िलजी पहला मुसलमान बादशाह था जिसने जमकर राजपूतों से युद्ध किया और दो-एक स्थानों पर उसकी विजय भी हुई। परन्तु उसका आधिपत्य भी अधिक काल तक न रह सका। अत: बाबर के समय तक यह देश एक तरह से स्वतन्त्र रहा। तदनन्तर अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगजेब आदि मुग़ल शासकों ने दृढ़तापूर्वक इस ओर पाँव बढ़ाया पर समस्त प्रान्त पर स्थायी आधिपत्य स्थापित करने में सफलीभूत ये भी न हुए।

(२)

इतिहास—राजस्थान का प्राचीन इतिहास अंधकार में है। इस सम्बन्ध की जो थोड़ी बहुत सामग्री उपलब्ध हुई है उसके आधार पर भी अधिक कुछ नहीं, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि अमुक समय में यहाँ अमुक जाति अथवा राजा का राज्य था। जयपुर राज्य के वैराट नामक नगर से अशोक के समय के दो शिलालेख मिले हैं, जिनसे मालूम होता है कि राजस्थान का थोड़ा बहुत भाग मौर्य्यवंशियों के अधीन था। कोटा राज्य के निकटस्थ कणस्वा गाँव के शिव मंदिर के लेख से भी उपरोक्त अनुमान की पुष्टि होती है।* मौर्य साम्राज्य का पतन होने पर बैक्ट्रियन ग्रीक्स उत्तर तथा उत्तर पश्चिम से भारत में आये। उन्होंने चित्तोड़ के क़िले से ७ मील दूर नगरी नामक स्थान, (मध्यमिका) और उसके आस-पास काली सिंध नदी तक अपना साम्राज्य स्थापित किया था। इनमें दो राजा बहुत प्रसिद्ध हुए—मिनेंडर और एपोलोडोटस। मिनेंडर के समय के तो दो चाँदी के सिक्के

* ओझा; राजपूताने का इतिहास, पृ० ९५

भी उदयपुर में मिले हैं ।* कहा जाता है कि काश्मीर के कुशन वंशी राजा कनिष्क के विशाल राज्य में राजस्थान, गुजरात तथा सिंध भी शामिल थे। दूसरी और चौथी शताब्दी के बीच भारत में क्षत्रपों की शक्ति का डंका बजा। इनमें से रुद्रदामा नामक राजा के समय का एक शिलालेख गिरनार में मिला है। इससे प्रगट होता है कि उसने आकरावन्ती, अनूप, मरु (मारवाड़), आनर्त, सौराष्ट्र, सिंध-सौवीर आदि देश जीते थे। क्षत्रपों के पश्चात गुप्तवंशियों का प्रताप फैला। इनके राज्य में मालवे के साथ साथ राजस्थान का भी थोड़ा बहुत भाग था। सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सम्राट हर्षवर्धन हुए। इन्होंने काश्मीर से आसाम, और नेपाल से नर्मदा तक अपना राज्य स्थापित किया, जिसमें राजस्थान का अंश भी था।† जोधपुर राज्यान्तर्गत डीडवाने के पास कन्नौज के राजा भोजदेव का वि० सं० ९०० (सन् ८४३) का लेख प्राप्त होने से तथा अलवर में कन्नौज के सामन्तों का प्रभुत्व होने से निश्चित है कि दशवीं शताब्दी के अंत तक राजस्थान का एक बहुत बड़ा भाग कन्नौज के अधीन था।

राजस्थान के वर्तमान राजवंशों के पूर्व पुरुष राजस्थान में कब आये, इस सम्बन्ध में भी निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। कुछ इतिहास-वेत्ताओं का कथन है कि सबसे पहले गहलोतों ने सौराष्ट्र प्रान्त के वल्लभी-पुर से आकर मेवाड़ राज्य की नींव डाली। ‡ इनके बाद पड़िहारों ने मंडोवर पर अपना सिक्का जमाया। चौहानों और भाटियों ने इनका अनु-करण किया और आकर क्रमशः साँभर तथा जैसलमेर में बस गये। सबके अन्त में सोलंकी और परमार आये। इन राजवंशों में से अब सिर्फ गहलोत, भाटी और चौहान ऐसे रह गये हैं, जिनके हाथ में राजसत्ता है। इनमें

* The Imperial Gazetteer of India; Vol. XXI, P. 94

† डा० ईश्वरी प्रसाद; भारतवर्ष का इतिहास, पृ० १०२

‡ Col. James Tod; Annals and Antiquities of Rajasthan. महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा का कहना है कि गहलोत सौराष्ट्र की ओर से नहीं, बल्कि अवध की ओर से आये थे, देखिये—राजपूताने का इतिहास, पृ० ३८९

से गहलोत और भाटी तो अपने मूल स्थानों पर अथवा उनके आसपास ही स्थित हैं, पर सांभर अब चौहानों के अधिकार में नहीं रहा। इनके हाथ में अब कोटा, बूंदी और सिरोही के राज्य हैं। यदुवंशी लोगों का निवास करौली के निकट कई वर्षों से था, पर ख़ास करौली पर इनका आधिपत्य ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य से हुआ है। जयपुर के कछवाहों ने बारहवीं शताब्दी में ग्वालियर से, और मारवाड़ के राठोड़ों ने तेरहवीं शताब्दी में कन्नौज से आकर अपने अपने राज्य स्थापित किये हैं। झालावाड़ की रियासत का नामकरण तो हाल ही वि० सं० १८९५ (सन् १८३८) में हुआ है।

उपरोक्त राजवंशों में से बहुतों के पूर्वपुरुष यहाँ आकर पूरी तरह से जम भी न पाये थे कि मुसलमानों के आक्रमण भारतवर्ष पर होने शुरू हो गये थे। अरबों का सबसे पहला ज़ोरदार हमला वि० सं० ७६९ (सन् ७१२) में सिंध पर हुआ। उस समय राजा दाहिर वहाँ राज्य करता था। अरब सेना ने दाहिर को युद्ध में मार डाला और उसके राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। पर अरबों के इस आक्रमण का राजस्थान पर भी कुछ असर पड़ा हो ऐसा इतिहास से प्रतीत नहीं होता। तदनन्तर मुसलमानों ने उत्तरी भारत पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया, जिनमें सबुक्तगीन का धावा सब से पहला था। वि० स० १०३४ (सन् ९७७) में इसने पजाब पर चढ़ाई की। वहाँ के राजा जयपाल ने पहले तो इससे युद्ध किया, पर बाद में सधि कर ली। इस सन्धि के कुछ ही वर्ष बाद उसका देहान्त होगया, और उसका पुत्र महमूद उसके राज्य तथा सम्पत्ति का मालिक हुआ। वि० सं० १०६६ (सन् १००९) में जिस समय महमूद और जयपाल के पुत्र अनंदपाल के बीच में युद्ध छिड़ा उस समय उत्तरी भारत के अन्य हिन्दू राजाओं की तरह अजमेर के चौहान भी अनंदपाल की ओर से लड़े थे। शनैः शनैः चौहानों का अभ्युत्थान होना शुरू हुआ। वि० स० १२४८ (सन् ११९१) में जब महमूद गोरी ने भारत पर पहली बार चढ़ाई की तब दिल्ली और अजमेर पर महाराज पृथ्वीराज की विजय पताका फहराती थी, और लाहोर, कन्नौज आदि दूसरे राजपूत राज्यों के

साथ भी इनका अच्छा हेल मेल था। अतः बड़ी सुगमता से इन्होंने ग़ोरी की सेना को छिन्न भिन्न कर दिया। परन्तु उसके चले जाने के बाद दिल्ली और कन्नौज के राजपूतों में अनबन हो गई, जिसने आगे चलकर बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया और इसी से उनका अधःपतन भी हुआ। अपनी विगत पराजय का प्रतीकार करने की भावना से प्रेरित होकर जब ग़ोरी दूसरी बार वि० सं० १२४६ (सन् ११६२) में फिर भारत पर चढ़ आया और महाराज पृथ्वीराज उसका सामना करने के लिये रणक्षेत्र में उतरे तब किसी ने भी उसका साथ न दिया। परिणाम वही हुआ जिसकी आशा थी। अपने सहधर्मियों की सहायता न मिलने से पृथ्वीराज की सेना तीन तेरह हो गई और वे भी मारे गये। इस विजय से हाँसी, सरस्वती, दिल्ली, अजमेर, कोल आदि देश मुसलमानों के अधीन हो गये।* ग़ोरी ने पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज को अपनी अधीनता स्वीकार करा के अजमेर की गद्दी पर बिठाया। पर बाद में पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने यह राज उनसे छीन लिया, जिससे वे रणथंभोर चले गये और वहाँ नया राज स्थापित किया कुतुबुद्दीन को हिन्दुस्तान का गवर्नर नियत कर ग़ोरी ग़ज़नी चला गया। परन्तु हिन्दुस्तान पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित करने के लिये राठोड़ (गहरवार) राज्य कन्नौज को जीतना आवश्यक था। इसलिये दो वर्ष बाद वह वापस आया, और जयचंद को हराकर कन्नौज को भी अपने अधिकार में कर लिया। चौहानो और राठोड़ो का पराभव होते ही दूसरे राजपूत राजाओं ने भी अपने अपने हथियार फेंक दिये। राठोड़ राजपूत मारवाड़ की तरफ चले आये और यहाँ आकर इन्होने नये राज्य की स्थापना की जिसकी बाग़डोर अभी तक उनके वंशवालों के हाथ में है।

वि० सं० १३५७ (सन् १३००) में रणथंभोर को अधिकृत कर अलाउद्दीन ने वि० सं० १३६० (सन् १३०३) में चित्तौड़ पर चढ़ाई की। वहाँ के अधिपति रावल रत्नसिंह और उनके साथी राजपूत बड़ी

---

* डा० ईश्वरीप्रसाद ; भारतवर्ष का इतिहास, पृ० १४५

वीरता से लड़े, परन्तु सुलतान की असंख्य सेना के सामने न टिक सके और अन्त में हार गये। इस समय अगणित राजपूत महिलाओं ने अपनी महाराणी पद्मिनी के साथ धधकती हुई चिता में प्रविष्ट होकर अपने पतिव्रत धर्म की रक्षा की। अलाउद्दीन का यह आक्रमण इतिहास में चित्तोड़ के प्रथम शाके के नाम से प्रसिद्ध है। अपने बेटे ख़िजर खां को चितोड़ का हाकिम नियुक्त कर सुलतान जैसलमेर की तरफ़ बढ़ा, पर मरुस्थल के कारण उसे इस तरफ़ सफलता न मिली। चित्तोड़ भी मुसलमानों के अधिकार में अधिक दिनों तक न रहा। जालोर के मालदेव को, जो ख़िजर खां की अयोग्यता के कारण वहाँ का गवर्नर नियुक्त किया गया था, महाराणा हम्मीर ने ठोंक पीट कर वहाँ से निकाल बाहर किया, और दुर्ग पर अपनी विजय-पताका फहरा दी*। महाराणा कुम्भा के राजत्व काल में मुसलमानों का आतंक बहुत कम पड़ गया। इन्होंने मुसलमानों के बहुत से थाने राजस्थान से उठा दिये और नागोर, रणथंभोर, आमेर आदि स्थानों पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। इस तरह मुग़लों के आगमन के समय तक दिल्ली के मुसलमान बादशाह कभी राजस्थान पर चढ़ाई करके राजपूत राजाओं के अधीनस्थ स्थानों को जीत लेते और कभी करद ठहरा कर जीते हुए राज्यों को वापस उन्हें लौटा देते थे। परन्तु जब भी अनुकूल अवसर देखते राजपूत स्वतन्त्र होकर मुसलमानों का आधिपत्य उठा देते थे।

सोलहवीं शताब्दी में जिस समय महाराणा सांगा मेवाड़ के राज्य-सिंहासन पर सुशोभित थे, राजपूतों ने खूब ज़ोर पकड़ा। राणा जी अपनी वीरता और रण-कौशल के लिये प्रख्यात थे। इन्होंने राजस्थान में पूर्णरूप से अपनी धाक जमा ली और राजपूतों की बिखरी हुई शक्ति को केन्द्रस्थ करने का उद्योग करने लगे। वि० सं० १५८३ (सन् १५२७) में फतहपुरसीकरी के पास खानवा नामक स्थान पर बाबर का मुक़ाबला करने के लिये जो सैन्य-प्रवाह सांगा की ओर से लड़ने के लिये आगे बढ़ा वह उनकी उस समय की शक्ति का द्योतक था। महाराणा की सेना में ५०० हाथी, ८०००० घोड़े

* ओझा; राजपूताने का इतिहास, पृ० ५४५

तथा असंख्य पैदल थे और राजस्थान का कोई भी भाग ऐसा न था जहाँ से इन्हें कुछ न कुछ सहायता न मिली हो* । परन्तु कुछ तो भाग्य ने साथ न दिया और कुछ युद्ध-कला संबंधी ऐसी भूलें इनसे हुईं कि जिससे सारी सेना तहस-नहस होगई और इनके कई वर्षों का श्रम धूल में मिल गया। राणा साँगा पराजित हुए, असंख्य योद्धाओं का संहार हुआ तथा राणा जी के हृदय से हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने की महत्वाकांक्षा सदैव के लिये जाती रही; और सबसे बड़ी बात तो यह हुई कि मुग़ल राज्य की नींव भारत में दृढ़तापूर्वक स्थापित हो गई। वि० स० १५९१ (सन् १५३४) में गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने चित्तोड़ तथा उन भागों को, जो साग़ा जी ने मालवा से जीते थे वापस सीसोदियों से ले लिये। इस समय से सीसोदियों की प्रसिद्धि, उनकी शक्ति और उनका गौरव स्थानान्तरित होकर कुछ काल के लिये राठोड़ो के पास चला गया जिनके अग्रणी उस समय जोधपुर के अधिपति मालदेव थे। इन्होंने अपना राज्य आगरा और दिल्ली की सीमा तक पहुँचा दिया था। बाबर की मृत्यु के उपरान्त जिस समय हुंमायू और शेरशाह के बीच संघर्ष हो रहा था, मालदेव अपना सैन्य और राज्य बढ़ाने में संलग्न थे और इस अर्से में वे इतने शक्तिष्ठ होगये थे कि हुमायू को हराकर जब शेरशाह ने इन पर चढ़ाई की तब इन्होंने ऐसी भीषणता से उसका सामना किया कि यदि वह छल-कपट का आश्रय न लेता तो उसकी पराजय निश्चित थी। शेरशाह की विजय हुई अवश्य, पर अंत में उसे यह कहना पड़ा कि 'मैंने एक मुट्ठी बाजरे के लिये हिन्दुस्तान की सल्तनत खो दी होती''† ।

हुंमायू के बाद अकबर उसकी गद्दी पर बैठा। अकबर एक दूरदर्शी, व्यवहार-कुशल तथा नीति निपुण शासक था और राजपूतों की मनोवृत्ति को वह समझ गया था। उसने तलवार और नीति दोनों से काम लिया। उसने जयपुर के कछवाहे राजा भारमल की बेटी से विवाह कर लिया और

* V. A. Smith; Oxford History of India, P. 323. Col. James Tod; Annals and Antiquities of Rajasthan.
डा० ईश्वरीप्रसाद ; भारतवर्ष का इतिहास, पृ० २१७

† ओझा ; राजपूताने का इतिहास, पृ० २७४

उसके बेटे भगवानदास तथा पोते मानसिंह को ऊँचे ओहदों पर नियुक्त कर उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। उन्होंने भी अपूर्वराजभक्ति प्रदर्शित करते हुए आमरण सम्राट की सेवा की। जयपुर की देखा-देखी अन्य राजपूत राजाओं ने भी अकबर की वश्यता स्वीकार कर ली। इनमें बीकानेर के रायसिंह, मारवाड़ के उदयसिंह और बूंदी के राव सुरजन मुख्य थे। अभी तक मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह उसके अधीन नहीं हुए थे। अतः उसने चित्तोड़ पर धावा करने का दृढ़ विचार किया। बहाना भी शीघ्र ही मिल गया। उदयसिंह ने मालवा के स्वामी बाज़बहादुर को, जो अकबर के डर से भाग गया था, शरण दी थी। इसी बहाने से वह वि० सं० १६२४ (सन् १५६७) में मेवाड़ पर चढ़ दौड़ा और आकर चित्तोड़ के चारों ओर घेरा डाल दिया। भयंकर युद्ध के बाद चित्तोड़ का पतन हुआ और राजपूत महिलाओं को जौहर कर अपने सतीत्व तथा मान-मर्यादा की रक्षा करनी पड़ी। इस बार सैकड़ो दुध-मुँहे बच्चे भी अपनी माताओं के साथ अग्नि में स्वाहा हुए थे। चित्तोड़ का क़िला अकबर के हाथ आगया। पर इसीसे उसे सन्तोष न हुआ। वह कई दिनों से ख़ार खाये बैठा था। क़िले पर जाकर उसने क़त्लेआम का हुक्म दे दिया और निर्दोष नगरवासियों के खून से नगर को रंगकर अपने आत्म-सम्मान की तुष्टि की। इतिहास इस बात का साक्षी है।* इतना कर चुकने पर अकबर ने रणथम्भोर पर चढ़ाई की और उसे भी जीत लिया।

इधर चित्तोड़ जैसे क़िले को खोकर भी सीसोदिये हतोत्साह न हुए। अकबर की अधीनता उन्होंने फिर भी स्वीकार न की। महाराणा उदयसिंह के सुपुत्र प्रताप और पौत्र अमरसिंह बराबर अकबर से लड़ते रहे। अंत में महाराणा अमरसिंह के पुत्र कर्णसिंह ने कुछ सरदारों की राय से अपने पिता की विद्यमानता हो में जहाँगीर के साथ सन्धि करली। इस संधि की कई शर्तें थीं, जिनमें प्रधान शर्त्त यह थी कि महाराणा कभी भी शाही दरबार में हाज़िर न होंगे।

*Col. James Tod; Annals and Aniquities of Rajasthan.
ओझा ; राजपूताने का इतिहास, पृ० ७२६

शाहजहाँ के समय तक मुग़लों और राजपूतों में काफ़ी अच्छा हेल-मेल रहा। परन्तु औरंगज़ेब के मुग़ल सिंहासन पर बैठते ही उनका सख्य टूट गया। औरंगज़ेब ने ज़ज़िया पुन: प्रचलित कर दिया, और हिन्दुओं के सैकड़ों मन्दिर, मठ तथा देवालय तुड़वा डाले, और बहुतों को ज़बरदस्ती मुसलमान बनाया। उसकी इन कार्रवाइयों से राजपूतों के हृदय को भारी चोट लगी और सबके सब उसके विरुद्ध हो गये। मारवाड़ तथा मेवाड़ वालों ने एकता कर ली और जिस समय औरंगज़ेब ने अपने शाहज़ादे अकबर को इनसे लड़ने के लिये राजस्थान में भेजा, इन्होंने उसकी ऐसी दुर्दशा की कि वह और उसके सेनापति अपना रण-चातुर्य्य भूल गये। अंत में फिर संधि हुई, पर राजपूतों के दिल साफ़ नहीं हुए थे। मुग़ल-वंश से उन्हें अब एक प्रकार से घृणा-सी हो गई थी। अत: औरंगज़ेब ने जब दक्षिण पर चढ़ाई की तब उन्होंने उसका साथ न दिया। राजपूतों की देखादेखी दूसरे लोग भी उपद्रव करने लगे। उत्तर में सिक्खों तथा जाटों और दक्षिण में मरहटों का ज़ोर बढ़ने से देश में चारों ओर विद्रोह की आग धधकने लगी और शनैः शनैः मुग़ल साम्राज्य का अध:पतन होना शुरू हुआ।

औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्रों में राज्य-सिंहासन के लिये संघर्ष हुआ। कोटे के महाराव राजा रामसिंह और जयपुर के सवाई जयसिंह ने आज़म का और मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह (दूसरे), किशनगढ़ के महाराजा राजसिंह तथा बूँदी के महाराव राजा बुधसिंह ने मुअज्जम का पक्ष लिया। मारवाड़ के अजीतसिंह तटस्थ रहे। आगरे के पास जाजऊ नामक स्थान पर दोनों भाइयों की सेनाओं में युद्ध हुआ। आज़म लड़ाई में परास्त हुआ और मारा गया। अपना पक्ष ग्रहण न करने के कारण मुअज्ज़म जयपुर और जोधपुर के राजाओं से कट गया था। इसलिये गद्दी पर बैठते ही उसने उक्त रियासतों को खालसे कर लिया और तदनन्तर अपने तीसरे भाई कामबख़्श का दमन करने के लिये दक्षिण की ओर चला। राठोड़ दुर्गादास सहित महाराजा अजीतसिंह और सवाई जयसिंह भी अपना अपना राज्य पाने की आशा से उसके साथ हुए। नर्मदा तक तो ये उसके साथ रहे, पर बाद में जब देखा कि राज्य मिलने

की कोई आशा नहीं है, तब खिसक कर मेवाड़ में चले आये। महाराणा ने इनका यथोचित आदर-सम्मान किया और तीनों ने मिल कर प्रतिज्ञा की कि यदि किसी एक पर भी दिल्ली के बादशाह का दबाव पड़ा तो शेष उसकी सहायता करेंगे। इसी समय महाराणा ने अपनी पुत्री का विवाह सवाई जयसिंह के साथ किया; इस विवाह के प्रसंग में इन तीनों राजाओं के बीच एक अहदनामा लिखा गया, जिसकी शर्तें ये थीं—

(१) उदयपुर की राजपुत्री सब राणियों में मुख्य समझी जाय, चाहे वह छोटी ही हो।

(२) उदयपुर की राजपुत्री का पुत्र ही युवराज माना जाय।

(३) यदि उदयपुर की राजकुमारी से कन्या का जन्म हो तो उसका विवाह मुसलमानों के साथ न किया जाय।*

सीसोदियों से सम्बन्ध जोड़ने में गौरव समझने और महाराणा की सहायता प्राप्त करने की इच्छा से उस वक्त तो दोनों ने इस अहदनामे पर हस्ताक्षर कर दिये। पर आगे चलकर उसका पालन न कर सके। इससे इनमें मन-मुटाव हो गया और आपस में झगड़ने लगे। इन घरेलू झगड़ों के कारण इनकी शक्ति दिन-दिन क्षीण होती गई और यहाँ पर मरहटों की छाप बैठ गई, जिन्होंने आगे चलकर ऐसे अमानुषिक अत्याचार किये कि जिनकी कहानियाँ सुनकर आज भी राजस्थान की प्रजा काँप उठती है।

राजपूतों को जब इस बात का ज्ञान हुआ कि उनके अंतःकलह के कारण मरहटों का बल उत्तरोत्तर बढ़ रहा है और प्रजा चारों ओर से हाय हाय कर रही है, तब उन्होंने एकता स्थापित की और मरहटों को देश से बाहर निकालने का प्रयत्न करने लगे। वि० सं० १८४४ (सन् १७८७) में जयपुर, जोधपुर और मेवाड़ के सम्मिलित सैन्य ने मरहटों को लालसोट के मैदान पर बहुत बुरी तरह से परास्त किया, जिससे उनका प्रभाव कुछ दिनों के लिये कम पड़ गया। परंतु इस विजय से भी राजपूतों ने न तो कोई शिक्षा ग्रहण की और न कोई लाभ उठाया। थोड़े ही वर्षों के बाद मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह की कन्या कृष्णाकुमारी के पाणिग्रहण के सम्बन्ध में

*ओझा ; राजपूताने का इतिहास, पृ० ९१४

राठोड़ों और कछवाहों में फिर झगड़ा हो गया। इससे इनकी रही-सही शक्ति भी नष्ट हो गई। फिर क्या था, मरहटों की ख़ूब ही बन पड़ी। उन्होंने यहाँ के रईसों से ख़िराज ठहराये। फौज़ ख़र्च में उनके शहर व परगने ज़ब्त किये और इस तरह राजस्थान का बहुत सा भाग अपने अधिकार में कर लिया। प्रजा और जागीरदारों से भी ये लोग रुपया वसूल करते और जो कोई देने में थोड़ी बहुत भी आना-कानी करता उसके नाकों में दम कर देते थे। जसवन्तराय होल्कर ने अमीर ख़ाँ पठान को अपनी नौकरी में रख लिया, जिसने राजस्थान की प्रजा को सताने में अपनी तरफ से कोई कसर न रक्खी। राजस्थान उस समय लुटेरों का लीलाक्षेत्र बना हुआ था। मरहटे, पिंडारी, पठान आदि दिन दहाड़े लोगों को लूटते, उनके घरों को जला देते और उनकी धन-सम्पत्ति को लेकर चले जाते थे। जिस स्थान पर जाकर ये लोग एक घड़ी के लिये भी ठहर जाते, वहाँ देखते ही देखते मरुस्थल का सा सन्नाटा हो जाता था। अपने धन-माल, और आत्मीय जनों की रक्षा करना तो दूर रहा लोगों को अपने प्राणों की पड़ी थी। यात्री मार्ग में, किसान खेत पर और व्यापारी दुकान पर ही अपने प्राण गँवा बैठते थे। कोई भी नहीं कह सकता था कि एक घड़ी के बाद उस पर क्या बीतेगी।

अंततः राजा लोग लुटेरों की इस छापाछापी से तंग आ गये और अंग्रेज़ सरकार का आश्रय लेने की सोचने लगे। देहली के तत्कालीन रेज़िडेण्ट चार्लस् मॅटकॉफ ने भी राजस्थान के मामलों में हस्तक्षेप करना अनिवार्य समझ कर यहाँ की वास्तविक परिस्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए एक रिपोर्ट गवर्नर जनरल के पास भेजी। उस समय लार्ड मिंटो भारत के गवर्नर जनरल के पद पर आसीन थे। वे युद्ध से प्रायः दूर रहते थे और जहाँ तक हो सकता बिना लोहा बजाये शान्ति स्थापित करना चाहते थे। इसलिये इन्होने मॅटकॉफ की रिपोर्ट पर विशेष ध्यान नहीं दिया। इनके बाद लार्ड हेस्टिंग्ज़ भारत के गवर्नर जनरल हुए। इन्होंने अपनी नीति बदली और आततायियों का दमन करने के लिये एक अंग्रेज़ी सेना राजस्थान में भेजना मंज़ूर किया। वि० सं० १८७४ (सन् १८१७) में कई देशी राज्यों के साथ अहदनामे होकर वे अंग्रेज़ों के अधिकार में आगये।

अंग्रेज़ी सेना ने मरहटों की शक्ति तोड़ दी; उसके आतंक से पिंडारी तितर-बितर होगये और अमीर खां ने अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार करली। उसे टोंक का राज्य दिया गया जो अभी तक उसके वंशजों के अधिकार में है। संक्षेप में यही राजस्थान का इतिहास है।

(३)

राजस्थानी भाषा

उत्तरी भारत को छोड़कर जिस समय राजपूतों ने राजस्थान का आश्रय लिया उस समय वे कौन सी भाषा बोलते थे, और राजस्थान के मेर, जाट, भील आदि मूल-निवासियों में उस समय किस भाषा का प्रचलन था, इस विषय पर प्रकाश डालने के लिये विश्वसनीय सामग्री का अभाव है। फिर भी भाषा-विज्ञान के आधार पर कुछ विद्वानो ने अनुमान किया है कि उस समय उत्तरी भारत में शिष्ट समुदाय की भाषा संस्कृत तथा प्राकृत और जनसाधारण की बोलचाल की भाषा अपभ्रंश थी और इसी को लेकर राजपूत राजस्थान में आये थे। पर भाषा-शास्त्र का यह नियम है कि कोई भाषा सदैव एक रूप में स्थिर नहीं रहती। थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन उसमें सदा ही होता रहता है। अतएव दशवीं शताब्दी के अन्त तक तो अपभ्रंश का राजस्थान में ही नहीं, बल्कि समस्त उत्तरी भारत में पश्चिम से लेकर पूर्व में मगध तक और दक्षिण में सौराष्ट्र तक खूब प्रचार रहा। परंतु ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से इसका साहित्य में व्यवहार होने लगा और वैयाकरणों ने उसे भी अस्वाभाविक नियमों से बाँधना शुरू किया, जिससे इसके दो रूप हो गये। एक रूप तो वह था, जिसमे साहित्य-रचना होती थी और दूसरा वह रूप जिसका सर्वसाधारण में प्रचार था। प्रथम रूप तो व्याकरण के नियमों से बँध कर स्थिर हो गया। परंतु दूसरा बराबर विकसित होता रहा। आगे चल कर इसके भी कई भेद-उपभेद हो गये।

अपभ्रंश के तीन उपभागों का उल्लेख मिलता है–नागर, उपनागर और ब्राचड़। इनमें भी नागर अपभ्रंश मुख्य थी। हेमचन्द्र के मतानुसार इस नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत था*। इसी नागर अथवा

* श्री धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०; हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० २०

शौरसेनी अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का विकास हुआ, जिसके साहित्यिक रूप का नाम डिंगल है।

राजस्थानी भाषा के अंतर्गत कई बोलियाँ हैं। इन सबका यदि सूक्ष्म रूप से वर्गीकरण किया जाय तो संख्या सौ से भी ऊपर पहुँच जाय। प्रधान प्रधान बोलियाँ ये हैं :—

(१) **मारवाड़ी**—जोधपुर, जैसलमेर, बीकानेर और शेखावाटी में बोली जाती है। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है और साहित्य बहुत विशद। इसके बोलने वाले भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में मिल जाते हैं। यह भाषा बहुत मधुर तो नहीं है, पर साथ ही बहुत रूखी भी नहीं है।

(२) **मेवाड़ी**—मेवाड़ के मुख्य भाग की भाषा है। इसका साहित्य प्रायः नहीं के बराबर है।

(३) **वागड़ी**—डूंगरपुर, बाँसवाड़ा, मेवाड़ के दक्षिणी और दक्षिण पश्चिमी पहाड़ी प्रदेश तथा सिरोही राज्य के पश्चिमी पहाड़ी विभाग में बोली जाती है।

(४) **ढूंढाड़ी**—जयपुर राज्य के अधिकतर भाग की भाषा है। इसमें प्राचीन साहित्य बहुत है। दादू और उनके शिष्यों की रचनाएँ इसी भाषा में हैं।

(५) **हाड़ोती**—बूंदी, शाहपुरा और मेवाड़ के पूर्वी हिस्से में बोली जाती है।

(६) **मेवाती**—अलवर के मेवात प्रदेश की भाषा है।

(७) **ब्रजभाषा**—अलवर राज्य के पूर्वी विभाग, भरतपुर, धौलपुर और करौली में बोली जाती है।

(८) **मालवी**—झालावाड़, कोटा और प्रतापगढ़ में बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या १६००००० के लगभग है।

(९) **राँगड़ी**—मारवाड़ी और मालवी के मिश्रण से बनी हुई भाषा का नाम रांगड़ी है। इसका राजपूतों में बहुत प्रचार है।

उपरोक्त भाषाओं के अतिरिक्त राजस्थान में हिन्दोस्तानी और उर्दू बोलने वालों की संख्या भी काफ़ी है। लगभग २००० अंग्रेज़ यहाँ निवास करते हैं। इनकी बोलचाल की भाषा अंग्रेज़ी है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, डिंगल राजस्थान की साहित्यिक भाषा का नाम है। इसका डिंगल नाम कब और क्यों पड़ा, इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है, और अपनी अपनी पहुँच तथा बुद्धि के अनुसार लोगों ने भाँति भाँति की कल्पनाएँ की हैं। नीचे हम प्रधान प्रधान मत और उनकी समीक्षाएँ देते हैं।

पहला मत—डिंगल शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गँवारू था। ब्रजभाषा परिमार्जित थी और साहित्य शास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी। पर डिंगल इस सम्बन्ध में स्वतन्त्र थी। इसलिये इसका यह नाम पड़ा।*

समीक्षा—यह मत डा० टेसीटरी का है। डिंगल शब्द को गँवारू का द्योतक मान कर इन्होंने अपने मत को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है, जो अयुक्त है। कारण, एक तो यह है कि प्रारंभ में डिंगल गँवारों की भाषा नहीं, बल्कि पढ़े-लिखे चारण-भाटों की भाषा थी, जो बड़े विद्वान और काव्य-मर्मज्ञ होते थे। दूसरे ब्रजभाषा से भी अधिक डिंगल का राज-दरबारों में सम्मान होता था। अतः शिष्ट समुदाय की भाषा गँवारू हर्गिज़ नहीं कही जा सकती। इसके सिवा उनका यह कहना भी, कि डिंगल अनियमित थी अर्थात् साहित्य शास्त्र के नियमों के बंधनों से मुक्त थी, ठीक नहीं है। डिंगल के प्राचीन ग्रन्थों तथा गीतों से स्पष्ट विदित होता है कि व्याकरण की विशुद्धता के साथ साथ छंद, रस, अलंकार आदि का डिंगल की कविता में भी उतना ही ख़याल रक्खा जाता था जितना कि ब्रजभाषा की कविता में। हाँ, शब्दों की तोड़-मरोड़ ब्रजभाषा की अपेक्षा डिंगल में अवश्य अधिक पाई जाती है, पर इसीलिये उसे गँवारू भाषा ठहराना अनुचित है। सारांश, न तो प्रारंभ में डिंगल का अर्थ गँवारू था और न डिंगल भाषा अनियमित थी जिससे उसका यह नाम पड़ा हो।

दूसरा मत—प्रारंभ में इसका नाम डगळ था, पर बाद में पिंगल शब्द के साथ तुक मिलने के लिये उसका डिंगल कर दिया।†

* Journal of the Asiatic Society of Bengal; Vol. X, (1924) p. 176.

† Preliminary Report on the operation in search of Mss. of Bardic Chronicles pp. 14-15.

समीक्षा—यह मत महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री का है। शास्त्री जी ने डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति डगळ से बतलाई है और अपने मत के समर्थन में चौदहवीं शताब्दी के एक प्राचीन गीत का अंश भी उद्धृत किया है, जो उन्हें कविराजा मुरारी दान जी से प्राप्त हुआ था। वह अंश यह है:—

दीसे जंगळ डगळ, जेथ जळ बगळ चाटे।
अनुहुत गल दिये, गला हुँता गल काटे॥

कविता के अंश का अर्थ शास्त्री जी ने नहीं दिया। केवल यही कह कर छोड़ दिया है कि इससे यह स्पष्ट है कि जंगल देश अर्थात् मरुदेश की भाषा डिंगल कहलाती थी। इस उद्धृत अंश में तो भाषा का कहीं ज़िक्र भी नहीं है, फिर न मालूम शास्त्री जी ने यह फ़ैसला कैसे दे दिया। भाषा, रचना-शैली आदि से भी यह कविता चौदहवीं शताब्दी की लिखी हुई प्रतीत नहीं होती। फिर भी थोड़ी देर के लिये यदि मान भी लिया जाय कि यह उसी समय की रचना है तब भी प्रश्न यह उठता है कि प्रारम्भ में डिंगल का डगळ नाम पड़ा क्यों? डगळ कहते हैं मिट्टी ढेले को अथवा अनगढ़ पत्थर को और इसी अर्थ में यह उपरोक्त कविता में भी प्रयुक्त हुआ है। यदि पिंगल से तुक मिलाने के लिये डगळ का डिंगल बना दिया गया तो पहिले कौन सी ऐसी भाषा थी जिसकी तुलना में यह भाषा डगळ के समान अनगढ़ अर्थात् अपरिष्कृत थी। ब्रजभाषा तो हो नहीं सकती। क्योंकि चौदहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा का इतना प्रौढ़ एवं व्यवस्थित रूप न था कि उसके सामने डिंगल ढेले सी दीख पड़ती। राजस्थानी भी नहीं हो सकती। क्योंकि राजस्थानी उस समय की बोल-चाल की भाषा थी और बोल-चाल की भाषा की अपेक्षा साहित्यिक भाषा अधिक प्रौढ़ और अधिक परिमार्जित होती ही है। इसके सिवा एक बात यह भी है कि प्रारंभ में डिंगल एक तरह से चारण-भाटों की भाषा थी और ये लोग बड़े अनुराग के साथ इस भाषा में काव्य रचना करते थे। उनकी वीररस की कविताएँ तो प्रायः इसी में हुआ करती थीं। अतः हमारे ख़याल से कोई भी ऐसा अकृतज्ञ, आत्म-सम्मान से शून्य और

विचारहीन पुरुष न होगा जो जिस भाषा में, चाहे वह कितनी ही अनुन्नत तथा अविकसित क्यों न हो, अपने विचार ही प्रकट करता न आया हो, बल्कि जो उसके उदरपूर्ति का भी साधन रही हो, उसे हीनता की दृष्टि से देखे और डगळ कह कर उसका अपमान करे।

तीसरा मत—डिंगल में 'ड' वर्ण बहुत प्रयुक्त होता है। यहाँ तक कि वह डिंगल की एक विशेषता कही जा सकती है। 'ड' वर्ण की इस प्रधानता को ध्यान में रखकर ही पिंगल के साम्य पर इस भाषा का नाम डिंगल रक्खा है। जैसे बिहारी 'लकार' प्रधान भाषा है उसी तरह डिंगल 'डकार' प्रधान भाषा है।*

समीक्षा—यह मत भी निराधार है। डिंगल की दो-चार कविताओं में 'ड' वर्ण की प्रचुरता देख कर उसे इसकी विशेषता बतलाना और उसी बुनियाद पर उसका डिंगल नाम पड़ने की क्लिष्ट कल्पना करना सिवा हेत्वाभास के और कुछ नहीं है। भारतवर्ष में अनेक भाषाएँ प्रचलित हैं; पर अभी तक ऐसा कहीं सुनने में नहीं आया कि अमुक अक्षर की प्रधानता के कारण उसका अमुक नाम पड़ा हो। बिहारी में लकार की प्रधानता है और होगी, पर इससे क्या हुआ। इसका असर उसके नामकरण पर तो कुछ भी नहीं पड़ा। यदि यही बात है तो फिर पिंगल में 'प' वर्ण की अधिकता होनी चाहिये, जो नहीं है। दूसरी आपत्ति इस मत को स्वीकार करने में यह है कि हमें मान लेना पड़ता है कि पिंगल के साम्य पर डिंगल शब्द की उत्पत्ति हुई। पिंगल की अपेक्षा डिंगल अधिक पुरानी भाषा है, इसे सभी स्वीकार करते हैं। क्या आश्चर्य है, यदि डिंगल के साम्य पर पिंगल शब्द, ब्रजभाषा के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा हो? पृथ्वीराज रासो को तो जाने दीजिये। वह तो जाली समझा जाता है। पर नीचे लिखी कविताओं को देखिये। इनमें 'ड' वर्ण की प्रधानता कहाँ है?

अलावदी प्रारम्भ, कीध सोनागर ऊपर।
हुओ समर तलहटी, जुड़े चौहान मछर भर॥

---

* ना० प्र० प० ; भाग १४ पृ० १२२–१४२

मुहोणत नैणसी की ख्यात ; प्रथम खंड, पृ० १७४

सकतीपुर वेसाम, प्राण सुरताण संकायो।
गांजे धड़ गज रूप, चित आलम चमकायो॥
राजियो राव कान्हड़ रिणह, कोतक रवि रथ थंभियो।
वरमाल कंठ अपछर वरै, साल्ह विमाणे मालियो॥१॥

और भी —

जद धर पर जोवती दीठ नागोर धरन्ती।
गायत्री संग्रहण देख मन मांहि डरन्ती॥
सुर कोटी तेतीस आण नीरन्ता चारो।
नहिं चरंत पीवन्त मनह करती हंकारो॥
कुंभेण राण हणिया कलम, आजस उर डर उत्तरिय।
तिण दीह द्वार शंकर तणै कामधेनु तण्डव करिय॥२॥

चौथा मत—डिंगल, डिम्+गल से बना है। डिम् का अर्थ है डमरू की ध्वनि, तथा 'गल' का गले से तात्पर्य्य है। डमरू की ध्वनि रण-चण्डी का आह्वान करती है तथा वह वीरों को उत्साहित करने वाली है। डमरू वीर रस के देवता महादेव का बाजा है। गले से जो कविता निकल कर डिम-डिम की तरह वीरों के हृदयों को उत्साह से भर दे उसे डिंगल कहते हैं। डिंगल भाषा में ऐसी कविता की प्रधानता है; इसलिये वह डिंगल नाम से प्रसिद्ध हुई।*

समीक्षा—महादेव को वीर रस का देवता और डमरू की ध्वनि को उत्साहवर्धक मानकर इस मत का प्रतिपादन किया गया है। पर न तो महादेव वीर रस के देवता हैं और न डमरू की ध्वनि कहीं उत्साह वर्धक मानी गई है। वीर रस के देवता महादेव नहीं,† इन्द्र हैं। शिवजी तो रौद्र रस के अधिष्ठाता हैं; फिर डमरू की ध्वनि की भाँति उत्साहवर्धक और गले से निकली हुई कविता का गठबंधन तो बिल्कुल ही युक्ति शून्य है। अतः इस मत का निराधार होना स्पष्ट सिद्ध है।

---

*देखिये—श्री महाराज प्रतापनारायण सिंह जी अयोध्या-नरेश विरचित रस कुसुमाकर, पृ० १६३

† ना० प्र० प० ; भाग १४, पृ० २२५

इनके सिवा दो एक मत और भी हैं। उदाहरणार्थ, कुछ लोग डिंगल को डिम और गल (बालक + गला) से बना हुआ मानकर इसका अर्थ बालक की भाषा करते हैं और कुछ इसकी उत्पत्ति डिग्गी और गल से बतलाते हैं। परंतु वास्तविक तथ्य तक पहुंचने में सहायता इनसे भी नहीं मिलती और इसलिए इस विषय में अब अधिक कुछ कहना वृथा है।

परन्तु, बात बहुत साधारण है। सभी मानते हैं कि प्रारम्भ में डिंगल चारण भाटों की भाषा थी और अपनी काव्य रचनाएँ ये लोग इसी भाषा में करते थे। साथ ही यह भी सभी पर विदित है कि अपने आश्रय-दाताओं के कार्य कलापों का, उनके शौर्य पराक्रम का ये लोग बहुत बढ़ा कर वर्णन किया करते थे। धन के लोभ से कायर को सूर, कुरूप को सुन्दर, मूर्ख को पण्डित और मूजी को दानी कह देना इनके लिये साधारण बात थी। सत्यासत्य के वास्तविक निरूपण की अपेक्षा 'हाँ-हजूरी' द्वारा अपने स्वामियो को रिझाकर उनसे अपना स्वार्थ साधने की ओर इनका ध्यान विशेष रहता था। कारण, कविता उनकी जीविका ही तो ठहरी! फलत: उनके वर्णन अधिकांश में अत्युक्तिपूर्ण हुआ करते थे अर्थात् वे डींग हाँका करते थे। इसलिये जो भाषा इस प्रकार डींग हाँकने के काम में लाई जाती थी, उसका शीतल, श्यामल आदि के अनुकरण पर लोगों ने डींगल (डींग से युक्त) नाम रख दिया, जिसका परिमार्जित रूप कहिये अथवा विकृत रूप आधुनिक शब्द डिंगल है। राजस्थान में वृद्ध चारण लोग आज भी डिंगल न कह कर डींगळ ही बोलते हैं। हिन्दी में भी बहुत से ऐसे शब्द हैं, जिनकी उत्पत्ति कुछ कुछ इसी तरह से हुई है—जैसे बोझल, धूमल आदि।

सर्वसाधारण की रोज़मर्रा की भाषा की अपेक्षा यह भाषा (डिंगल) जिसमें कवि लोग रचना करते थे कुछ कठिन होती थी। अतएव अत्युक्ति के भाव के सिवा काठिन्य का भाव भी इस 'डिंगल' शब्द में निहित है, और जिस प्रकार 'प्राकृत' और संस्कृत नामों ही से इन भाषाओं के क्रमशः प्राकृतिक (Natural) और परिमार्जित (Polished) होने का भाव प्रकट होता है, उसी तरह 'डींगळ' शब्द से भी अत्युक्ति और कठिनता का बोध होता है।

(४)

डिंगल कविता

डिंगल कविता का इतिहास उस समय से आरंभ होता है जब गहलोत, चौहान आदि राजपूत राजवंशों के राज्य राजस्थान में पूरी तरह से स्थापित हो चुके थे और मुसलमानों के साथ इनका संघर्ष होना शुरू हो गया था। यह एक भीषण हलचल और घोर अशान्ति का युग था और अपने राज्यों की रक्षा के लिये राजा-महाराजाओं को हमेशा कमर कस कर युद्ध के लिये तैयार रहना पड़ता था। इसके लिये सैन्यबल तथा शस्त्रबल के सिवा उन्हें कवियों की भी आवश्यकता रहती थी, जो अपनी ओजस्विनी वाणी द्वारा उन्हें और उनके सैनिकों को प्रोत्साहित करते रहते थे। यह काम उस समय चारण-भाट करते थे, जो बड़े विद्वान होते थे और जिनका राज-दरबारों में बड़ा सम्मान होता था। यदि सौभाग्य से कोई कवि क़लम और कृपाण दोनों के चलाने में निपुण हुआ तो उसके प्रति सम्मान की भावना और भी बढ़ जाती थी। राजाश्रय और धन के लोभ से उक्त जातियों के लोग काव्य-कला-कौशल की प्राप्ति के लिये शिक्षा और अभ्यास में बहुत समय बिताते और संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त करने का उद्योग करते थे। इस परिश्रम का फल भी प्रायः बहुत अच्छा होता था। अपना और अपने पूर्वजों के यश को विस्तारित करने वाले समझ कर राजा-महाराजा लाख पसाव*, क्रोड़ पसाव आदि के रूप में उन्हें अतुल धन दान देते थे और कवीश्वर, कविराजा आदि की उपाधियों से

---

* राजस्थान मे चारण-भाटों को जो दान दिया जाता है उसका नाम उन्होंने पसाव रखा है, बड़े दान को जिसमें गांव भी हों वे अत्युक्ति से लाख पसाव, करोड़ पसाव आदि कहते है मारवाड़ में लाख पसाव का ब्यौरा इस प्रकार है—(१) पांच हजार रुपया रोकड़ (२) आभूषणों सहित एक हाथी (३) आभूषणों सहित एक घोडा (४) कड़े, मोती, मोतियों की कंठी, सिरपेच आदि आभूषण (५) जामा, दुपट्टा, पगडी, दुशाला आदि वस्त्र (६) सोने के तैनाल, मुनाल, सहित एक तलवार और कटार। इन वस्तुओं के सिवा एक लाख रुपयों में जितनी कमी रहती है उसकी पूर्ति के लिए गांव दिये जाते हैं जो वंश परंपरा के लिये रहते है।

विभूषित कर उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाते थे। प्रसिद्ध है कि अजमेर के गौड़ बछराज ने अरब पसाव, आमेर के राजा मानसिंह ने छः करोड़ पसाव, बीकानेर के रायसिंह ने सवा तीन करोड़ पसाव, सिरोही के राव सुरताण ने एक करोड़ पसाव, मारवाड़ के राजा गजसिंह ने १४ लाख पसाव और मेवाड़ के महाराणा संग्राम सिंह (दूसरे) ने एक लाख पसाव दिया था। धन और जागीर देने के सिवा राजा लोग चारण-भाटों का और भी कई तरह से सम्मान करते थे। कहते हैं कि जोधपुर राज्य के मूंधियाड़ ठिकाने का करणीदान नाम का एक चारण जब किसी राजकार्य के लिये मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह से मिलने के लिये उदयपुर आया था, तब महाराणा उसकी पेशवाई के लिये राजमहल से जगदीश के मन्दिर तक 'जिसका फासला ३०० फीट के लगभग है' पैदल आये और उसे बड़े सम्मानपूर्वक अपने साथ लिवा ले गये थे। इसके लिये अभी तक करणीदान का यह दोहा प्रसिद्ध है—

करणा रो जगपत कियो, कीरत काज कुरब्ब।
मन जिण धोखो ले मुआ, साह दिल्लीस सरब्ब॥

इतना ही नहीं, इन राजा-महाराजाओं की वजह से ये चारण-भाट अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ आदि मुग़ल बादशाहों के राज-दरबारों में भी पहुंच गये थे, और वहाँ भी इनका बड़ा आदर होता था। इनमें से जाड़ा मेहू, लक्खा जी बारहट, पीरजी आसिया, दुरसा जी आढ़ा, रामाजी साँदू, हापाजी आदि को तो उक्त बादशाहों की ओर से बड़े बड़े इनाम और मनसब भी प्राप्त हुए थे।

अपने आश्रयदाताओं के कीर्ति-कथन में इन चारण-भाटों ने सैकड़ों नहीं, बल्कि हज़ारों ग्रंथों की रचना की जिनमें से बहुत से तो काल-कवलित हो चुके और बहुत से विद्यमान हैं। डिंगल के फुटकर गीत, कवित्त, दूहा आदि तो इतनी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं कि उनकी संख्या का अनुमान लगाना ही कठिन है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे चारण-भाट जिन राजा-महाराजाओं की प्रशंसा में ग्रंथ लिखते थे प्रायः उनके सम सामयिक होते थे और बहुधा आँखों देखी घटनाओं का वर्णन करते थे। चंद आदि

कुछ कवि तो ऐसे भी हुए, जो युद्ध, आखेट आदि में अपने चरित्र नायकों के साथ रहते और स्वयं इन कार्यों में भाग लेते थे। अतः इतिहास की दृष्टि से इन रचनाओं का मूल्य है, और बहुत है। पर काव्योच्चता के विचार-कोण से उतना नहीं है। कारण स्पष्ट है। बात यह है कि जो कवि धन की इच्छा से, प्रतिष्ठा की आशा से, श्रोताओं को प्रभावित करने के उद्देश्य से तथा अन्य किसी प्रकार के लोभ से कविता करते हैं उनकी कविता में वह रस, वह चमत्कार और वह बल कदापि नहीं आ सकता, जो 'स्वान्तः सुखाय' काव्य-रचना करने वाले कवियों की कृतियों में मिलता है।* यही कारण है कि इन राजाश्रित कवियों की रचनाओं में आत्मानुभूति तथा—आत्म-विस्मृति की वह अक्षय छाप हमें नहीं दीख पड़ती, जिसके दर्शन सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्त कवियों की रचनाओं में पग-पग पर होते हैं।

भाषा के सम्बन्ध में भी ये कवि निरंकुश होते थे। जो चारण-भाट बहुत लिखे पढ़े होते वे पांडित्य-प्रदर्शन की लालसा से अपने काव्य ग्रंथों में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी, फ़ारसी आदि कई भाषाओं के शब्दों का जान बूझ कर प्रयोग करते थे और जो अपेक्षाकृत कम पढ़े लिखे होते वे गीतों की तुक मिलाने के लिये शब्दों को इस बुरी तरह से तोड़ते थे कि वे अपने मूल रूप से बहुत दूर जा पड़ते थे, और आज तो उनके पहिचानने में भी बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है जैसे—सीहड़ (श्रीहर्ष), पायाळ (पाताल), सुकळ (शुक्ल), साहण (साधन), जुजठळ (युधिष्ठिर), ढेलड़ी (दिल्ली) आदि। फिर भी भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह प्राचीन डिंगल भाषा बड़े महत्व का स्थान रखती है। क्योंकि शौरसेनी प्राकृत अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी का सम्बन्ध इसी के द्वारा स्थापित होता है।

इन प्राचीन ग्रंथों में व्यवहृत छन्दों के विषय में यहाँ इतना ही कहना क़ाफी होगा कि अपने क्रमबद्ध ग्रंथों में ये चारण-भाट संस्कृत के मन्दाक्रन्ता,

* When a poet turns round and addresses himself to another person, when the expression of his emotions is tinged also by that desire of making an impression upon another mind, then it ceases to be poetry and becomes eloquence.

—*John Stuart Mill.*

शार्दूल विक्रीड़ित, मुक्तादाम, भुजंगप्रयात आदि छन्दों का ही अधिक प्रयोग करते थे और भाषा छन्दों में छप्पय, पद्धरी, दूहा आदि इनके लोकप्रिय छंद थे। चंद वरदाई के छप्पय तो प्रसिद्ध ही हैं। इस छप्पय पद्धति का अनुवर्त्तन बहुत पीछे तक हुआ और आज भी चारण भाटों के काव्यों में इसका प्रभाव स्पष्ट प्रलक्षित होता है। फुटकर रचनाओं में ये लोग गीत छंद का प्रयोग करते थे, जो डिंगल साहित्य की अपनी चीज़ है। ये गीत भी कई तरह के होते थे—चोटीबंध, त्रबकड़ो, पालवणी, छोटो साणोर, सुपंखड़ो, सावझड़ो, भारवड़ी, त्रकुटबध इत्यादि। इनके लक्षणों का सविस्तर वर्णन रघुनाथ रूपक, रघुबर-जसप्रकास आदि डिंगल के रीति-ग्रंथों में मिलता है।

अलंकारों में ये कवि उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि सादृश्य मूलक अलंकारों का प्रयोग विशेष रूप से करते थे, पर वह भी बड़े संयम के साथ। आलंकारिकता के फेर में पड़कर भाव को भृष्ट करने की प्रवृत्ति इनकी रचनाओं से नहीं झलकती। हाँ, एक अलंकार अवश्य ऐसा है जिसका इन कवियों ने बड़ी कट्टरता से पालन किया है और वह है 'वयण सगाई' इसे हम हिन्दी के अनुप्रास अलंकार का एक भेद कह सकते हैं। वयण सगाई का साधारण नियम यह है कि चरण के प्रथम शब्द का आरंभ जिस वर्ण से हो उसके अन्तिम शब्द का आरंभ भी उसी वर्ण से होना चाहिये जैसे—

पातल जो पतसाह, बोले मुख हूँता बयण।
मिहर पछम दिस माँह, ऊगे कासप राव उत॥

डिंगल के रीति ग्रंथों में बयण सगाई का निर्वाह न होना कोई दोष नहीं माना है। परंतु प्राचीन कवियों ने और विशेषतः मध्यकालीन कवियों ने इसे इस तरह से अपनाया कि परवर्ती कवियों के लिये यह काव्य-नियम सा बन गया और सभी इसका पालन करते रहे। यदि कोई कवि वयण सगाई का निर्वाह किसी स्थान पर न कर सकता तो वह काव्य-दोष तो नहीं, परन्तु कवि की कवित्व शक्ति की कमज़ोरी का सूचक अवश्य समझा जाता था। वंश-भास्कर का रचयिता सूर्यमल पहला कवि था जिसने इस बात को

महसूस किया कि वयण सगाई का पल्ला पकड़ने से भाव के स्पष्टीकरण में कठिनता होती है और उसने इस परंपरागत काव्य रीति की उपेक्षा की। परंतु अपने समकालीन कवियों के रोष का भय उसे भी था। अतः अपने रचे वीर सतसई नामक ग्रंथ के प्रारंभ में निम्नाङ्कित दोहा लिखकर उसने अपनी सफ़ाई दी :—

बयण सगाई बाळियाँ, पेखी जै रस पोस।
वीर हुताशण बोळ में, दीसै हेक न दोस॥

अर्थात्—बयण सगाई के नियम को जला देने से (हटा देने से) वीर रस का पोषण ही दिखाई देता है। उस हुतासन (अग्नि) के रंग में दोष तो एक भी नहीं दीख पड़ता।

दूसरा अध्याय



(प्राचीन काल)

राजस्थान का सबसे पहला कवि खुंमाण रासो का रचयिता दलपत विजय नामक कोई भाट कहा जाता है। खुंमाण रासो में मेवाड़ के राजा खुंमाण (दूसरे) के साथ ख़लीफ़ा अलमामूं के युद्ध का वर्णन है। खुंमाण ने वि० सं० ८७० से ९०० तक मेवाड़ पर राज्य किया था। अतः यही समय दलपत विजय का भी समझना चाहिये। परन्तु खुंमाण रासो की आजकल जो प्रतियाँ मिलती हैं, उनमें महाराणा प्रतापसिंह तक के राजाओं का वर्णन है, इसलिये इसकी प्रामाणिकता के संबंध में विद्वानों को कुछ सन्देह सा हो गया है।* संभव है कि खुंमाण के बाद का वृत्तान्त दलपत विजय के वंशवालों ने उसमें जोड़ा हो, पर जब तक इस विषय की पूरी तौर से छान-बीन न हो जाय निश्चिय रूप से कुछ कहना कठिन है। दलपत विजय के उपरान्त क्रमशः सांईदान चारण, अकरम फैज़ और नरपति नाल्ह के नाम आते हैं। सांईदान का लिखा हुआ संवतसार नामक ग्रन्थ का पता हाल ही में लगा है। अकरम फैज़ मारवाड़ राज्यान्तर्गत डीडवाने का रहने वाला था। कहा जाता है, इसने वृत्तरत्नाकर का अनुवाद किया था जो अब अप्राप्य है। (४) नरपति नाल्ह के सम्बन्ध में मतभेद है। कोई

---

* दौलत (दलपत) विजय-रचित खुंमाण रासो की एक अपूर्ण प्रति देखने में आई, उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का तो वर्णन है और आगे अपूर्ण है, इस से उसकी रचना का समय वि० सं० की १७ वीं शताब्दी या उसके भी पीछे माना जा सकता है--म० डा० ओझा; राजपूताने का इतिहास, पृ० ४२४

इन्हें राजा, कोई भाट और कोई राजकवि मानते हैं। अपने रचे बीसलदेव रासो में कहीं भी नाल्ह ने अपना वंश-परिचय नहीं दिया, और न तत्कालीन किसी दूसरे कवि का लिखा हुआ कोई ऐसा प्राचीन ग्रंथ मिला है, जिसमें इनका उल्लेख हो, और जिसके आधार पर इनके जीवन-वृत्त पर प्रकाश डाला जा सके। इनकी रचना प्रणाली से इनका भाट होना अवश्य सूचित होता है। पर यह भी अनुमान ही अनुमान है।

नाल्ह रचित बीसलदेव रासो प्रसिद्ध है। इसकी आज तक दो हस्त-लिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, एक जयपुर से और दूसरी बीकानेर से प्रथम प्रति में ग्रंथ का निर्माण काल सं० १२१२ और दूसरी में सं० १०७३ दिया हुआ है—

बारह सै बहोत्तरा हाँ मँझारि, जेठ बदी नवमी बुधवारि।
—जयपुर

संवत् सहस तिहत्तर जाणि, नाल्ह कवीसर रसीय बखाणि
—बीकानेर

जब तक यह दूसरी प्रति प्राप्त नहीं हुई थी, अधिकांश विद्वान बीसलदेव रासो का रचना काल सं० १२१२ और नाल्ह को बीसलदेव चतुर्थ (सं० १२१०-१२२१) का समकालीन मानते थे। पर इस द्वितीय प्रति के कारण कुछ लोग अब इनका बीसलदेव दूसरे (सं० १०३०-१०५६) के आस-पास होना मानने लगे हैं, और रासो का निर्माण समय वि० सं० १०७३ ठीक बतलाते हैं *। यह विषय विवादग्रस्त है और जब तक दूसरी प्रति प्रकाशित होकर सामने न आ जाय तक तक तथ्यातथ्य का निरूपण असम्भव है।

बीसलदेव रासो एक वर्णात्मक काव्य है। इसमें बीसलदेव का राजमती से विवाह, उनकी उड़ीसा यात्रा, राजमती का विरह, बीसलदेव का पुनः अजमेर आगमन आदि विषयों का संक्षिप्त वर्णन है और २१५ छन्दों में समाप्त हुआ है। भाषा इसकी बोलचाल की राजस्थानी, कविता साधारण तथा इतिवृत्त-अधिकतः अनैतिहासिक है। मालूम होता है कि नाल्ह कोई बहुत पढ़ा-लिखा हुआ कवि नहीं, बल्कि एक साधारण योग्यता का रमता

* ना० प्र० प० ; भाग १४, पृ० १०१

फिरता भाट था, जो अपनी तुकबंदियों द्वारा जनसाधारण को प्रभावित कर अपनी उदर पूर्ति करता था। जन्मसिद्ध काव्य-प्रतिभा उसमें न थी। अतः रासो में न तो काव्य-चमत्कार है, न अर्थ-गौरव और न छंद-वैचित्र्य। सर्व-साधारण की बोलचाल की भाषा के शब्दों का प्रयोग उसने किया अवश्य, पर उनका भी ठीक ठीक प्रयोग उससे न हुआ; उनके साथ लिपटे हुए भाव को वह न समझ सका। उदाहरणार्थ, 'चीरी' शब्द ही को लीजिये। यह शब्द शोक का द्योतक है। किसी मनुष्य की मृत्यु हो जाने पर उसके कुटुम्बी अपने स्वजातियों तथा दूरस्थ सम्बन्धियों को बारहवें अथवा तेरहवें दिन मृत्यु-भोज में, जिसे राजस्थान में क्रियावर कहते हैं, सम्मिलित होने के लिये जो पत्र लिखते हैं, उसे 'चीरी' कहते हैं। विवाहोत्सव में सम्मिलित होने के लिये लिखी हुई पत्रिका के लिये यहाँ कंकुपत्री (कुम्कुम् पत्रिका) और साधारण संदेशसूचक पत्र के लिये कागद (काग़ज़) शब्द प्रचलित हैं। अतः बीसलदेव का पत्र पाकर आनंद में मग्न राजमती के लिये कवि का 'चीरी रही धन हीयड़ऊ लगाई', लिखना असमीचीन है और यही सूचित करता है कि एक शब्द के सुसूक्ष्म अर्थ को तोड़ने की शक्ति उसमें न थी। इसी तरह राजा भोज की कन्या राजमती के लिये उसका विवाह होने के पहले 'ऊनंत पयोहर बाली वेस' लिखना भी कुछ खटकता है।

निष्कर्ष यह है कि साहित्यिक दृष्टि से बीसलदेव रासो का मूल्य प्रायः नगण्य है। पर प्राचीनता उसकी एक ऐसी विशेषता है, जिसके कारण इसका अध्ययन-अध्यापन आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य है। भाषाविद् और हिन्दी-साहित्य के इतिहास के लेखक तो इसके बिना एक पाँव भी आगे नहीं बढ़ सकते। हिन्दी भाषा के आदि स्वरूप और उसकी अविकसित अवस्था का बहुत कुछ आभास हमें इस ग्रंथ द्वारा मिलता है और इसलिये नाल्ह का नाम हिन्दी साहित्य में अमर है और रहेगा। इनकी कविता का नमूना देखिये—

प्रीय तो चालीयो कातिग मास, सूना मंदिर घर कबिलास॥
सूना चउरा चोखण्डो। नयण गमायो पंथि सिर जाई॥

भूख नहीं त्रीस[1] ऊछली । उणी-घडां नींद कहा थी होई ॥१॥
आघण[2] कर दिन छोटा होई । सषी ! संदेशों मोकलोऊ कोई ॥
संदेसांहि ववज[3] पड्यो । लांघ्या पर्वत दुर्घट-घाट ॥
परिदेसां परि-भूमि गयउ । वीरी जणह न चालइ बाट ॥ २ ॥
देखी सखी हिव लागै छइ पोस । धन मरती मति लावउ हो दोस ॥
दुख भीनी पंजर हुई । धान[4] नू भावई तिज्या सरिन्हाण ॥
छाहणी धूप नू आलगई । कवियक झूपड़ा होई मसाण ॥ ३ ॥
माह मास सी पड्यो अतिसार । जल-थल महीयल ससूकीया छार ॥
आक दयंत्ता वन दह्यो । चोली माहि थी दाधउ छइ गात ॥
धणीयन तकां धण ताकजे । तुरीय पलांणि वेगो घरि आव ॥
जोबन छत्र ऊँचाईया, ईणि कंत ! काया मांहि फेरी छइ आंण ॥ ४ ॥
फागुण फरक्या कंप्या रूंष । चित्त चमकी नींद न भूख ॥
जूँ जोबन जूहै सखी । मूरिख लोकनूं जाणइ संसार ॥
दिण परषौ दिस पाटलइ । सखो बाब फरूकती जाइ संसार ॥
चैत्र मासां चतुरंगी नारि । प्रीय बिण जीवूं कवण अधार ? ॥
चूडे भींजै जण हँसौ । पञ्च सखी मिली वईठी छइ आई ॥
दंत कवाड्या नह रंग्या । चालउ सखी होली खेलवा जाई ॥५॥
सूणी सहेली ! कहुँ ईक बात । म्हाहरइ फरकइ छइ दांहीणो गात ॥
आज दीसई ते ईक दिन मांहि । म्हां क्युं होलो खेलवा जाई ? ॥
ऊलीगाणां की गोरड़ी । म्हां की आँगूली देखता गिलजे बाँह ॥६॥
वैशाखां सखी लहणुजे धान । सीला पाणी पाका पान ॥
कनक काया घट सींचजै । मूरिख नाह नूं जाणे [सं] सार ॥
हाथि लगामी ताजिणौ । पार कइ सेवइ राज़-दुवार ॥ ७ ॥
देखि जठांणो ! लागो छइ जेठ । मूखो कुंभलाणो अति सूकई छइ होठ ॥
सनेहा सारण[5] वहई । धरती पाई न देणउ जाई ॥
अन बलई दव परजलई । हंस सरोवर छइड़ छइ ठांइ ॥ ८ ॥

---

१ त्रीस--तृषा । २ आघण--अगहन । ३ ववज--बाधा । ४ धान—अन्न, भोजन । ५—सारण—(सं० सारिणी), छोटी नदी, प्रवाह, धारा ।

धुरि असाढ़ धडुक्या मेह । खलहल्या[1] षाल्या वहि गई खेह ॥
अजी न असाढ़ा बहुड़्यो । कोईल कुरलइ अंब की डाल ॥
मोर टहूकइ सीखर थीं । माता मइगल ज्युं पग देई ॥
सदी मतवांला ज्युं घलई । तिणी घरी ओलगी कांई करेसतो ? ॥६॥
श्रावण बरसइ छइ छाडीय धार । प्रीय बिण खेलइ कवण आधार ॥
सखीय तो खेलइ काजली । चीड़ीय कमेड़ी मंडिय आस ॥
पपीहो पीऊ ! पीऊ ! करई । सखी असल[2] सलावइ मौ श्रावण मास ॥१०॥
भादवउ बरसइ छइ मगैहर गंभीर । जल, थल, महीयल सहूभरया नीर ॥
जाणे सरवर ऊलटइ । एक अंधारी बीचखी बाय ॥
सूनी सेज विदेश पीव । दोइ दुख नाल्ह क्युं सहइणा जाई ॥
आसोजां धन मंडीय आस । माड़या मंदिर घर कबिलास ॥
मांड्या चौरा चऊखंडी । मांड्या सांभरि का रणिवास ॥
एक बलावै बाहुड़्या । नाह उत्तरी गयौ गंगा के पार ॥१२॥

(५) चंद बरदाई— भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट महाराज पृथ्वीराज के अमात्य, मित्र, एवं राजकवि चंद का जन्म वि० सं० १२०५ के लगभग पंजाब प्रान्त के प्रसिद्ध नगर लाहोर में हुआ था।* ये जाति के भाट थे, जगात इनका गोत्र था। अजमेर के चौहान इनके पूर्वजों के यजमान थे। चंद के पिता का नाम वेण और गुरू का गुरूप्रसाद था। चौहान वंश से परम्परागत संबंध होने से बाल्यावस्था में चंद की पृथ्वीराज से घनिष्ठता होगई थी और बड़े होने पर ये इनके राजकवि एवं गएय मान्य सामन्त बन गये थे। पृथ्वीराज के समान चन्द भी अश्वारोहण में, शब्द बेधीबाण मारने में, असि संचालन में बड़े सिद्ध हस्त थे। अतएव युद्ध के समय ओजस्विनी कविताओं द्वारा अपने आश्रयदाता तथा सैनिकों को उत्साहित एवं उत्तेजित करने के अतिरिक्त युद्ध-क्षेत्र में अपनी रण-दक्षता का परिचय भी इन्हें पूर्ण रूप से और प्रायः देना पड़ता था अर्थात् ये कवि थे और योद्धा भी।

---

१ खलहल्या—खलिहान, २ असल सलावइ—बहुत पीड़ा देता है।

* रासो में पृथ्वीराज का जन्म संवत् १११५ दिया है और लिखा है कि पृथ्वीराज तथा चंद का जन्म और देहान्त एक ही दिन हुआ था, किन्तु पंड्या जी के कथनानुसार इसमें ९० वर्ष जोड़ देने से यह संवत १२०५ होता है।

चंद ने दो विवाह किये थे। इनकी पहिली स्त्री का नाम कमला उपनाम मेवा और दूसरी का गौरी उपनाम राजोरा था। रासो की कथा चन्द ने गौरी से कही है। गौरी प्रश्न करती है, चन्द उसका उत्तर देते हैं। वह शका करती है, चन्द उसका समाधान करते हैं। इन दो स्त्रियों से चन्द के ग्यारह संतति हुई, दस पुत्र और एक कन्या। कन्या का नाम राजबाई था। इन दस पुत्रों में इनका चौथा पुत्र जल्हण सबसे योग्य, प्रतिभा सम्पन्न एवं गुणाढ्य था। वीर एवं साहसी होने के अतिरिक्त चंद षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, पुराण, संगीत आदि विद्याओं में भी परम प्रवीण थे। उन्हें भगवती जालंधरी देवी का इष्ट था, जिनकी कृपा से अदृष्ट काव्य भी ये कर सकते थे। इन गुणों के कारण चन्द जहाँ जाते, वहाँ उन पर सम्मान की वर्षा होती थी। वे राजदरबार के भूषण, वीरों के अग्रणी और कवियों के सिर मौर थे।

चंद की मरण तिथि अनिश्चित है। रासो में लिखा है कि पृथ्वीराज और चन्द की मृत्यु ४३ वर्ष की आयु (वि० सं० १२४६*) में एक ही दिन गज़नी में हुई थी। परन्तु आधुनिक इतिहासवेत्ता रासोकार के इस कथन को सर्वांशतः सत्य नहीं मानते। पृथ्वीराज का देहान्त काल वि० सं० १२४६ (ई० सं० ११६२) तो वे भी स्वीकार करते हैं, किन्तु साथ ही साथ उनका यह भी कहना है कि पृथ्वीराज ने भारत में मुसलमानों से युद्ध करते समय रणभूमि में प्राण छोड़े थे, गज़नी में नहीं।† इसके सिवा पृथ्वीराज के गज़नी में क़ैद रहने और शाहबुद्दीन को एक तीर द्वारा धराशायी करने के पश्चात् चंद सहित आत्म-हत्या करने की कथा को भी वे अनैतिहासिक और कवि

* अनंद संवत् के अनुसार।

†. In 1192 the Afghans again sweptdown on the Punjab. Prithiviraja of Delhi and Ajmer was defeated & slain. His heroic princess burned herself on his funeral pile.

—*W. W. Hunter.*

कल्पना बतलाते हैं।* विद्वानों के उपरोक्त मतभेद के कारण तथा यथेष्ट सामग्री के अभाव से तथ्यातथ्य का निरूपण करना कठिन है। फिर भी यदि इतिहासकारों का यह मत कि 'पृथ्वीराज का स्वर्गवास वि० सं० १२४६ में हुआ था' ठीक है और रासोकार के 'इकदीह उपज, इकदीह समायकम्' आदि शब्दों का यही अर्थ है कि पृथ्वीराज और चन्द एक ही दिन पैदा हुए और दोनों का परलोकवास भी एक ही दिन हुआ। तब तो स्पष्ट ही है कि चन्द की मृत्यु भी वि० सं० १२४९ ही में हुई।

चन्द ने पृथ्वीराज रासो नामक ढाई हज़ार पृष्ठों का एक बृहद्ग्रंथ बनाया, जिसमें पृथ्वीराज का जीवन चरित्र वर्णित है और ६६ समय (सर्ग अथवा अध्याय) में समाप्त हुआ है। कवि ने इसमें छप्पय, दोहा, तोमर, त्रोटक, गाहा आदि प्रायः सभी छंदों का प्रयोग किया है, पर छप्पय की संख्या अधिक और दूसरों की अपेक्षाकृत न्यून है। मीलित वर्णों की बहुलता, छंदोभंग एवं व्याकरण की अव्यवस्था भी रासो में यत्र तत्र दृष्टि-गोचर होती है। चंद की भाषा उस समय की है जब अपभ्रंश का अंत और हिन्दी का विकास हो रहा था। हिन्दी उस समय बाल्यावस्था में थी, नवजात शिशु के रूप में थी। महाकाव्योपेक्षित गूढ़ातिगूढ़ भावों, मनुष्य के अन्तर्भावों के घात-प्रतिघातों, युग की सुसूक्ष्म अनुभूतियों और जीवन के अन्द्वन्द्वों को स्पष्टतः अभिव्यक्त करने की ऐसी क्षमता उसमें उस समय न थी जैसी कि आज है, और चन्द का काव्यक्षेत्र-व्यापक था। उन्हें महाकाव्य की रचना अभीष्ट थी। साधन की अपेक्षा उद्देश्य कई गुना अधिक महत था। अतः उन्हें अन्यान्य भाषाओं का सहारा लेना पड़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि आज रासो में कन्नौजी शौरसेनी, मागधी, डिंगल, प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि शब्दों का विशाल जाल फैला हुआ है। कवि के समय से लगभग सौ वर्ष पहले से पंजाब में मुसलमानों का प्रवेश हो गया था और जीविको-

* A Hindu tale that Prithiviraja was taken to Ghazni, where he shot the Sultan, and was then cut to pieces is false.

—*V. A. Smith.*

पार्जनार्थ वे इधर उधर फैलने भी लग गये थे। अतएव अर्बी, फारसी एवं तुर्की के शब्द भी रासों में मिलते हैं। होमर के इलियड, व्यास के महाभारत और तुलसी के मानस की भाँति रासों में भी प्रक्षिप्त अंश जोड़कर लोगों ने इसे भ्रष्ट कर दिया है, पर इससे असली रासो का महत्व कम नहीं होता। चन्द की प्रतिभा फिर भी स्पष्ट ही है। क्योंकि जहाँ भाषा प्राचीन है, चन्द की है, वहाँ रचना-पद्धति अधिक ओजस्विनी, वर्णन अधिक भव्य और कविता अधिक भावपूर्ण है।

चन्द एक महान कवि थे। उनकी कविता वीरोल्लासिनी, सबल एवं काव्यगुण युक्त है। रासों में वीर रस प्रधान तथा शेष रस गौण हैं और जैसा कि महाकाव्य में होना चाहिए संध्या, चन्द्र, रात्रि, प्रभात, मृगया, वन, ऋतु, संभोग, विप्रलंभ, रणप्रयाण, विवाह आदि का यथास्थान सन्निवेश हुआ है। चन्द की प्रतिभा का प्रस्फुटन, कला की छाप तथा चरित्रों का खासा चित्रण रासो में विद्यमान है। कथा का तारतम्य निभाने तथा पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में तो चन्द कुशल थे ही, पर वर्ण्य विषय को साकार रूप दे देने की अद्भुत शक्ति भी उनमें विद्यमान थी। इसलिये जिस विषय को उन्होंने पकड़ा उसका ऐसा साङ्गोपांग, विशद एवं सजीव वर्णन किया है कि वह मूर्तिमान होकर हमारे सामने आ उपस्थित होता है। वस्तुतः रासो में दृश्य काव्य की सजीवता और महाकाव्य की भव्यता है। एक सर्वोपरि विशेषता जो रासो में देखी जाती है वह है कर्म समारोह की व्यस्तता, पात्रों की क्रियाशीलता। समस्त रासो को पढ़ जाइये उसमें एक भी पात्र ऐसा नहीं मिलेगा जो गतिहीन और अकर्मण्य हो। सभी अपने अपने कार्य में संलग्न हैं। सभी को कुछ और कुछ करना है। अपनी अपनी धुन में मस्त सभी चले जा रहे हैं—कोई सैन्य-शिविर में, कोई रणभूमि में, और कोई राज-दरबार में। यहाँ यदि यह कह दिया जाय कि रासो चन्दकालीन भारत का सवाक् चित्रपट है तो भी इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। वास्तव में वह ग्रंथ है ही इस प्रकार का। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज की विलास-प्रियता, मुसलमानों की धर्मान्धता, बर्बरता एवं अर्थ-लोलुपता रणाङ्गण की हाय-हत्या, राजपूतों की वीरता, उनके उत्कर्ष, उनकी डाँवा-डोल स्थिति और उनके पतनादि का जैसा मार्मिक, क्षोभपूर्ण, निष्पक्ष एवं

नैसर्गिक वर्णन रासो में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कहने को तो रासो पृथ्वीराज का जीवन चरित्र है। परन्तु वास्तव में है वह हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की अमर कहानी।

चन्द के जीवन चरित्र, उनके पांडित्य, और उनकी काव्य-प्रतिभा का वर्णन ऊपर हो चुका। अब रही रासो के ऐतिहासिक महत्व की बात। इस संबंध में विद्वानों में जो मतभेद है उसका भी थोड़ा सा उल्लेख यहाँ कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। बात संक्षेप में यह है। कुछ ही वर्षों पहले तक पृथ्वीराज रासो इतिहास की दृष्टि से भी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता था जिसका मुख्य कारण कर्नल टाड थे। इन्होंने अपने इतिहास में रासो की बड़े ऊँचे शब्दों में प्रशसा की और इसमें वर्णित बहुत सी घटनाओं को सत्य मान कर उन्हें अपने ग्रन्थ में स्थान दिया। * इसी से वह एक ऐतिहासिक ग्रन्थ समझा जाने लगा और बगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने तो उसका थोड़ा थोड़ा अंश अपनी ग्रथ-माला में भी निकालना शुरू कर दिया। इसी समय उदयपुर के कविराजा श्यामलदान और जोधपुर के कविराजा मुरारीदान ने यह कहकर कि रासो एक जाली ग्रथ है और संवत् १६४० से १६७० के बीच में इसकी रचना हुई है, संदेह उत्पन्न कर दिया। परन्तु रासो एक अंग्रेज़ विद्वान द्वारा प्रशंसित हो चुका था। इसलिये इनके कथन पर किसी ने विशेष ध्यान न दिया। इसी अर्से में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डाक्टर बूलर को पृथ्वीराज के समकालीन कवि जयानक रचित 'पृथ्वीराज विजय' नामक संस्कृत महाकाव्य की भोजपत्र पर लिखी हुई एक प्राचीन प्रति काश्मीर में मिली। इसका अध्ययन करने पर डा० बूलर को मालूम हुआ कि जयानक सचमुच ही पृथ्वीराज का राजकवि था और उसके रचे महाकाव्य

---

* The wars of Prithivi Raj, his alliances, his numerous & powerful tributaries, their abodes and pedigrees make the work of Chund invaluable as historic and geographical memoranda, besides being treasures in mythology, manners and the annals of the mind.

—*Annals and Antiquities of Rajasthan.*

में वर्णित घटनाएँ उस समय के शिला-लेख आदि से भी शुद्ध ठहरती हैं। अपने इस खोज की सूचना डा० बूलर ने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी को भी दी जिससे पृथ्वीराज रासो का आगे प्रकाशित होना बंद होगया।

इधर अपने मत का समर्थन होते देख कविराजा, श्यामलदान का भी साहस बढ़ा और उन्होंने 'पृथ्वीराज रहस्य की नवीनता' नामक एक छोटी सी पुस्तक लिखी, (सं० १९४३) जिसमें उन्होंने अपने पूर्व कथित मत का विस्तार के साथ मण्डन किया। इसके उत्तर में विष्णुलाल पंड्या ने 'रासो की प्रथम संरक्षा' नाम की एक पुस्तक (सं० १९४४) की रचना की। इसमें उन्होंने रासो की घटनाओं को इतिहास-सम्मत बतलाया और इस बात पर ज़ोर दिया कि उसमें वि० सं० का नहीं, बल्कि एक सवत विशेष अनंद संवत, का प्रयोग हुआ है और उसमें ९०|९१ वर्ष जोड़ देने से शास्त्रीय विक्रम संवत निकल आता है। साथ ही पड्याजी ने यह भी कहा कि रासो का रचयिता जाति का भाट था, इसलिये जातीय द्वेप के कारण श्यामलदान जी ने यह झूठा झगड़ा उठाया है। कई वर्षों तक यह दाँता किटकिट होती रही, पर सार कुछ भी न निकला। अंत में प्रसिद्ध इतिहासज्ञ महामहोपाध्याय पंडित गौरीशङ्कर हीराचंद जी ओझा ने इस विषय को अपने हाथों में लिया और जयानक के पृथ्वीराज विजय, शिलालेख आदि द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि न तो रासो, जैसा कि कुछ लोग मान बैठे हैं, इतिहास का ख़जाना है और न उसकी रचना पृथ्वीराज के राजत्व काल में हुई है। अनंद विक्रम संवत् की कल्पना को तो आपने बिलकुल ही व्यर्थ और निर्मूल बतलाया।* कविराजा श्यामलदान ने रासो का रचना-काल सं० १६४० से सं० १६७० के बीच में माना था, पर ओझा जी ४० वर्ष आगे बढ़े और यह फ़ैसला दिया कि सं० १५१७ और १६४२ के बीच अर्थात् सं० १६०० के आस-पास इसकी रचना हुई है।† कहना न होगा कि कविराजा श्यामलदान आदि की अपेक्षा ओझा जी के लेख अधिक गवेषणात्मक, उनकी उक्तियाँ अधिक

* ना० प्र० प० ; भाग १, पृ० ३७७-४५४

† ओझा; कोशोत्सव स्मारक संग्रह, पृ० ९२.

सन्तोषजनक तथा उनके प्रमाण अधिक सबल थे। परिणाम यह हुआ कि रासो सम्बन्धी इस वादविवाद में दिलचस्पी लेने वालों के अब मुख्यतः दो दल हो गये हैं। जो लोग इतिहास ही को सत्य की कसौटी समझते हैं, वे ओझा जी के निर्णय को अक्षरशः ठीक मानते हैं, पर जो सेंटिमेंटल हैं और अतीत के अंधकार में मार्ग ढूंढने के लिये इतिहास ही को अपना एक मात्र पथ-प्रदर्शक तथा ज्योति-स्तम्भ नहीं समझते, वे ओझा जी के मत को सन्देहास्पद बतलाते हैं। पंडित जी की दलीलों को काट तो ये लोग नहीं सकते। पर दबी ज़बान से इतना अवश्य कह देते हैं कि रासो में थोड़ा सा अंश चन्द का भी लिखा हुआ है।

इस प्रसंग में एक बात हमें भी कहनी है। वह यह कि इतिहास की दृष्टि से ओझा जी ने रासो की बहुत अच्छी परीक्षा की, पर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से आपने उस पर बहुत कम प्रकाश डाला है। आपका कहना है—"भाषा की दृष्टि से भी यह ग्रंथ प्राचीन नहीं दीखता। इसकी डिंगल भाषा में जो कहीं कहीं प्राचीनता का आभास होता है वह डिंगल की विशेषता ही है। आज की डिंगल में भी ऐसा आभास मिलता है जिसका २०वीं सदी में बना हुआ वंशभास्कर प्रत्यक्ष उदाहरण है।"* डिंगल की विशेषता के सम्बन्ध में पण्डित जी का यह कथन ठीक है। वस्तुतः डिंगल भाषा में यह विशेषता पाई जाती है, और आजकल जो ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रचलित है उसके अधिक भाग की भाषा इतनी विकृत तथा रूपान्तरित हो गई है कि उसे देख कर कोई भी समस्त रासो को १३वीं शताब्दी की रचना नहीं कह सकता। पर साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि उसमें ऐसे अंशों का भी सर्वथा अभाव नहीं है जिनकी भाषा पृथ्वीराज के समय की भाषा सिद्ध न हो सके। उदाहरण-स्वरूप नीचे लिखी कविता की भाषा को देखिये। इस को देखकर भी यदि कोई यह कहे कि यह सं० १६०० के आसपास की भाषा का नमूना है तो इसका मतलब यही है कि वह भाषा-विज्ञान के नियमों का गला घोंटने को कटिबद्ध है:—

* वही ; पृ० ६६।

कहै साह हुस्सेन। सुनौ चहुआंन जुझ्झ बत।
आज सीस तुम कज्ज। सेन साहब खँडौं खत॥
मो कज्जे साहस्स। करिग पृथिराज सरन ध्रम।
हौं उज डंसू अज्ज। करौं राजन अकथ क्रम॥
जंपै सुराज पृथीराज तब। कहा अचिज्ज जंपौ तुमह।
अप्पौं सुछत्र गजन पुरह। सद्धि सेन साहाब गह॥

जो हो, सत्यासत्य का निर्णय करने के लिये आज न महाराज पृथ्वीराज हैं, और न चन्द बरदाई। इसलिये हम जो चाहें कह सकते हैं। इसमें कोई विशेष हानि भी नहीं है। हाँ, यदि दुख है तो केवल इस बात का कि रासो में वर्णित घटनाओं को इतिहास की कसौटी पर कसने के फेर में पड़कर हम अपने मूल पथ से इतने भटक गये हैं कि इसके वास्तविक महत्व को, काव्य सम्बन्धी गुणों को हमने भुला दिया है और यह है चन्द के प्रति हमारा अन्याय!

चन्द की कविता के दो-एक नमूने देखिये :—

मनहुँ कला ससि भान, कला सोलह सो बन्निय।
बालबेस ससिता समीप, अंम्रित रस पिन्निय॥
बिगसिकमल स्रिग भ्रमर, बैन खंजन मृग लुट्टिय।
हीर कीर अरु बिम्ब, मोति नखसिख अहि घुट्टिय॥
छत्रपति गयंद हरि हंस गति, बिह बनाय संचै सचिय।
पदमिनिय रूप पद्मावतिय, मनहु कांम कामिनि रचिय॥

कुट्टिल केस सुदेश, पौह परचियत पिक्क सद।
कमल गंध वय संध, हंस गति चलत मंद मद॥
सेत वस्त्र सोहै सरीर, नख स्वाति बुंद जस।
भमर भँवहि भुल्लहि, सुभाव मकरंद वास रस॥
नैन निरखि सुख पाय सुक, यह सदिन मूरति रचिय।
उमा प्रसाद हर हेरियत, मिलहि राज प्रथिराज जिय॥

अरुण किरण परसंत, आइ पहुँच्यौ रयसल्लं।
बज्जे वान विहंग, जानि तुट्टा दोइ मल्लं॥
संमाही आजान, तेग मानहु छवि दिट्ठिय।
जानि सिखर मझि बीज, कंध रैसल्लह बुट्ठिय॥
लोहान तनो बज्जे लहरि, कोउ हल्ले कोउ उत्तरै।
परनाल रुधिर चल्ले प्रबल, एक घाव एकह मरै॥

सरसकाव्य रचना रचौं, खल जन सुनि न हसंत॥
जैसे सिंधुर देखि मग, स्वान सुभाव भुसंत॥१॥
पूरन सकल विलास रस, सरस पुत्र फलदान॥
अंत होइ सहगामिनी, नेह नारि को मान॥२॥
जस हीनो नागौ गिनहु, ढँक्यो जग जसवान।
लंपट हारै लोह छुन, त्रिय जीते बिन बान॥३॥
पर योषित परसै नहीं, ते जीते जग बीच।
परतिय तकत रैन दिन, ते हारे जगनीच॥४॥

(६) जल्हण—पृथ्वीराज रासो के अनुसार ये चंद वरदाई के चतुर्थ पुत्र थे और अपने दस भाइयों में सबसे अधिक गुणवान तथा प्रतिभा-सम्पन्न थे। रासो में चंद ने अपने सभी पुत्रों को 'सुन्दर रूप सुजान' बतलाया है पर जल्हण के लिये 'इक जल्हण गुण बावरो, गुन समंद ससिमान' लिखकर उसकी विशेष रूप से प्रशंसा की है। इससे विदित होता है कि चद जल्हण की प्रतिभा पर मुग्ध थे, और यही कारण था कि जब वे पृथ्वीराज को शाहबुद्दीन की क़ैद से छुड़ाने के लिये ग़जनी जाने को उद्यत हुए तब अपूर्ण रासो अपने सबसे बड़े पुत्र सूर को न देकर उन्होंने जल्हण ही को सौंपा था और उसी ने उसे पूरा भी किया। कहा जाता है कि निम्नांकित दोहे के पीछे जो रासो में वर्णन है वह जल्हण ही का लिखा हुआ है:—

आदि अंत लगि वृत्ति मन, ब्रन्नि गुनी गुनराज।
पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चले गज्जन नृप काज॥

जिस समय चंद ग़जनी जाने के लिये घर से रवाना हुए उन्हें यह आशा न थी कि अपने स्वामी को बंधन से मुक्त कराने के प्रयत्न में उन्हें अपने

जीवन से हाथ धोना पड़ेगा और रासो असमाप्त ही रह जायगा। अतः रासो को जल्हण के हाथ में दे देने के सिवा उस समय चंद ने जल्हण को कुछ भी नहीं कहा। न जल्हण ने ही कोई प्रश्न किया। परन्तु जब चन्द और पृथ्वीराज का ग़जनी में देहापात होगया और दोनों के अंत समय की करुण कहानी जल्हण ने सुनी, उन्हें मर्मान्तक व्यथा हुई और साथ ही अपने उत्तर॰ दायित्व का भी ख़याल आया। उन्हें अब मालूम हुआ कि रासो को सम्पूर्ण करने का महत्वपूर्ण कार्य उन्हीं के कंधों पर है। अपने रचे हुए अंशों में चन्द क्या, कहाँ और कितना परिवर्तन करना चाहते थे इत्यादि बातों का अत तो उन्हीं के साथ होगया। परतु एक अपूर्ण अथवा अप्रकाशित ग्रंथ में हेर-फेर की गुंजाइश रहती है। इसलिये संभव है, कि रासो को समाप्त करने के अतिरिक्त अपने पिता के लिखे हुए अंशों में भी जल्हण ने अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार न्यूनाधिक परिवर्तन किया हो।

पृथ्वीराज रासो के विवरण को समाप्त तथा संस्कृत करने के सिवा भी जल्हण ने कुछ लिखा था अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में ठीक ठीक कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु वे एक सुकवि थे। इसलिये संभावना तो यही है कि उन्होंने दो एक ग्रंथ और भी रचे होंगे, जो या तो अतीत के अतल अंधकार में विनष्ट होगये या चारण-भाटों की गठरियों में बंधे हुए अपने भाग्य, रचयिता की लेखनी और संसार की गुणग्राहिता को कोस रहे होंगे। परंतु जल्हण लिखित जितना भी अंश प्राप्त हुआ है, उससे स्पष्ट भासित होता है कि वे एक सहृदय कवि थे। उनकी रचना, विद्वत्ता, काव्य दक्षता, एवं साहित्य-मर्मज्ञता से भरपूर है। चद जैसी प्रौढ़ता और गंभीरता तो उनमें नहीं पाई जाती, पर ओज दोनों में समान है। भाषा चन्द की अपेक्षा जल्हण की अधिक सरल तथा व्यवस्थित है। इनकी कविता इस तरह की है :—

कहै खान तत्तार, भट्ट करि टूक रज्ज सम।
मैं द्रिग देखत कहि भट्ट, दुष्ट देखिये काल भ्रम॥
धरौ साहि अब गौरि, बिनै साहाब चरन लगि।
चंदराज बर घेरि, लोह छुटै न अंग लगि॥

छुरिका कविंद जट मझ्झ थी, कढ्ढि भट्ट कटि सीस अप।
ता पच्छै चंद बरदायने, दइय राज बरहत्थ त्रप॥
मरन चंद बरदाइ, राज पुनि सुनिग साहि हनि।
पुहुपंजलि असमान, सीस छोड़ी सुदेवतनि॥
मेघ अवछिंत धरनि, धरबि सब तीय सोह सिग।
तिनहिं तिनहिं संजोति, जोति जोति हि संपातिग॥
रासो असंभ नव रस सरस, चंद छंद किय अमिय सम।
श्रृङ्गार, वीर, करुना, बिभछ, भय अद्भुत हसंत सम॥

(७) नल्लसिंह भाट—इनका भी विशेष वृत्त ज्ञात नहीं। इनके रचे विजयपाल रासो से केवल इतना ही सूचित होता है कि ये विजयगढ़ (करौली राज्य) के यदुवंशी राजा विजयपाल के आश्रित थे, और उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के अभिप्राय से इन्होंने यह ग्रन्थ लिखा, जिससे खुश होकर उक्त महाराज ने इन्हें सात सौ गाँव, हाथी, घोड़े, रत्नादि पुरस्कार में दिये थे। विजयपाल रासो का थोड़ा सा अंश उपलब्ध हुआ है। इनमें सिद्धराव नामक किसी राजा के साथ विजयपाल की लड़ाई का वर्णन है। इस युद्ध का संवत् कवि ने १०६३ बतलाया है। ग्यारहवीं शताब्दी में करौली पर विजयपाल नाम के एक प्रतापी राजा हुए, जिनका करौली के सिवा उसके आसपास के अलवर, भरतपुर, धौलपुर, मथुरा आदि के कुछ विभागों पर भी आधिपत्य था, यह बात इतिहास से भी सिद्ध होती है।* परंतु मंडोवर, ढूंढाड़, अजमेर, दिल्ली आदि स्थानों पर विजयपाल का एकाच्छन्न राज्य होने की जो बात नल्लसिंह ने लिखी है, वह इतिहास विरुद्ध और अतिरंजना है। मालूम होता है कि विजयपाल रासो बहुत पीछे की रचना है। भाषा, शैली आदि से भी वह इतना प्राचीन प्रतीत नहीं होता। अनुमानतः वि० सं० १३५५ के लगभग इसकी रचना हुई होगी। विजयपाल रासो की भाषा प्राकृत-अपभ्रंश का संमिश्रण है और वीर रस का उसमें अच्छा परिपाक दृष्टिगोचर होता है। इनकी कविता का नमूना देखिये :—

* The ruling Princes, Chiefs, and leading Personages in Rajputana & Ajmer, (Sixth Edition), P. 115.

जुरे जुध यादव पङ्ग मरद्द, गहोकर तेग चढ़्यो रणमद्द ॥
हकाखि जुद्ध दुंहूं दल शूर, मनो गिरि शीस जल थरि पूर ॥
हलौं हिल हांक बजी दल मझि, भई दिन ऊगत कूक प्रसिद्धि ।
परस्पर तोप वहैं विकराल, गजैं सुर भुम्मि सरग्ग पताल ॥
लगैं वर यन्त्रिय छुत्तिय शुद्ध, गिरैं भुवभार अपार विरुद्ध ।
वहैं भुववांन ढप्यो असमान, खयच्चर खेचर पावै न जान ॥
वहैं कर मायक यायक जङ्ग, लखें विप आशिय पासिय अङ्ग ।
वहैं भिड़ पालक पाल लगन्त, उड़े शिर ढीव धरन्नि पतङ्ग ॥
वहैं कर संकुल शीस निसार, परैं विकराल वंवार सुमार ।
वहन्त गुरज्जग हन्त मरद्द, भये शिर चून विखून गरद्द ॥
मुदग्गर मार वहैं विकराल, लटक्कत भुम्मि फटन्त कपाल ।
वहैं कर कत्तिय मत्तिय मार, गिरैं धर मध्य प्रसिद्धि जुझार ॥
लगैं उर सांगि सुकंगल पार, लटक्कत शूर चटक्क कुठार ।
लगैं किरवान सुकन्द कुतार, कटै वरह डुजनेनु उतार ॥
लगैं खपुवा जमडाढ़ सुमार, किधौं खिरकी दिय छुट्टत द्वार ।
वहैं कर खञ्जर पञ्जर भीर, मनौ मत बात करैं मुड चीर ॥
वहैं कर रञ्जक गञ्जक हाल, निकस्सत वंविथ फोरि सुञ्याल ।
कटक्क कुटन्त गिरन्त कपाल, खटक्कत खागचलैं रत खाल ॥
गटक्कत गोठिय गिद्धनि गाल, घुटक्कत जुग्गीनि घुण्ड कपाल ।
नदन्निमि नाचय सांवत नाच, चटक्कत चुरिकि रञ्चत आँच ॥

(८) सिवदास चारण—ये गागरोन गढ़ (कोटा राज्य) के राजा अचलदास खीची के आश्रित थे। इन्होंने 'वचनिका अचलदास खीचीरी' नामक एक ग्रंथ सं० १४७० के आसपास बनाया, जिसकी एक प्रति बीकानेर के राज पुस्तकालय में विद्यमान है।* इसमें माडू (मालवा) के पातसाह के साथ अचलदास के युद्ध का वर्णन है। अपने आश्रयदाता के शौर्य-वर्णन में कवि ने कहीं कहीं अत्युक्ति से काम लिया है और बहुत सी इतिहास

*Dr. L. P. Tessitori; A. Descriptive Catalogue of Bardic and Historical Mss. Sec. II, Bardic Poetry Pt. I. Bikaner State. P. 41.

विरुद्ध बातें भी लिख डाली हैं। इसलिये इतिहास की दृष्टि से तो यह ग्रंथ महत्वपूर्ण नहीं ठहरता। परन्तु भाषा और कविता के विचार से यह रचना बहुत सुन्दर और चमत्कारपूर्ण बन पड़ी है। वचनिका की वर्णन शैली रूढ़ि बद्ध और प्राचीन ढंग की अवश्य है, पर भावाभिव्यक्ति फिर भी कहीं-कहीं ऐसी सरल तथा तलस्पर्शिणी हुई है कि पढ़ते ही मन मुग्ध हो जाता है। उदाहरण—

एकड़ वन्न वसंतड़ा, एवड़ अंतर काय।
सिंघकवड्डी ना लहै, गयवर लाख बिकाय॥
गयबर गळे गळथ्थियो, जहँ खँचै तहँ जाय।
सिंघ गळथ्थण जे सहै, तो दह लाख बिकाय॥

सातल सोम हमीर, कंन्ह जिम जौहर जालिय।
चढ़िय खेत चहवांण, आदि कुलवट उजालिय॥
मुगत चिहुर सिरि मंडि, वपि कंठि तुलसी वासी।
भोजा उति भुज बलहिं, करिहिं करिमर कालासी॥
गढ़ि खंडि पड़ंती गागुरणि, दिढ़ दाखे सुरिताण दल।
संसारि नांव आतम सरगि, अचलि बेवि कीधा अचल॥

(४) सूजो नगराजोत—ये बीठू खांप के चारण थे। बीकानेर के राव जइतसी के कहने से इन्होंने 'राउ जइतसी रउ छंद' नामक ग्रंथ की रचना सं० १५९१ और १५९८ के बीच में किसी समय की थी। इसमें बाबर के द्वितीय पुत्र कामरान और राव जइतसी की लड़ाई का वर्णन है। कामरान काबुल और पंजाब का हाकिम था और इस युद्ध में पराजित हुआ था। जइतसी और कामरान के इस संघर्ष का उल्लेख किसी मुसलमान इतिहासकार के ग्रंथ में नहीं मिलता। पर सूजो ने इसका बहुत ही पूर्ण और पुख्ता वर्णन किया है, जिससे इतिहास की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ की महत्ता बहुत कुछ बढ़ गई है। 'राउ जइतसी रउ छंद' में कोरा युद्ध वर्णन ही नहीं है, बल्कि जइतसी के पिता लूणकरण और दादा बीकाजी के शौर्य, साहस तथा रण-कौशल आदि पर भी सविस्तर प्रकाश डाला गया है। समस्त ग्रन्थ में

कुल मिलाकर ४०१ छन्द हैं, और गाहा, पाघड़ी, दूहा और कळस इन चार प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा शुद्ध डिंगल, लेखन शैली सजीव तथा वर्णन ओजपूर्ण है और 'वयण सगाई' का निर्वाह बड़ी कट्टरता से किया गया है।

इनकी कविता का थोड़ा सा अंश यहाँ दिया जाता है :—

रउद्र दल रहचइ जइत राउ, होहू कि मेह बाजइ हलाउ।
ताइयाँ उरे घइ कूँत तेह, मारुअउ राउ मातउ कि मेह॥
धड़हड़इ ढोल धूजइ धरत्ति, पड़ियाळगि वरसइ खेड़पत्ति।
बीका हर राजा ईंद वग्गि, खाफराँ सिरे खिविया खड़ग्गि॥
पतिसाह फउज फूटन्ति पाळि, ग्रहमंड जइत गाजइ विचाळि।
अम्बहर जइत वरसइ अवार, धुड़ुकिया मोर मुहि खग्ग धार॥

तीसरा अध्याय



(मध्य काल)

आदि काल के कवियों में बहु संख्या चारण-भाटों की थी जो कविता द्वारा अपनी उदर-पूर्ति करते थे और अपने आश्रय दाताओं के कीर्ति-कथन को अपनी काव्य-रचना का मुख्य उद्देश्य समझते थे। उनकी रचना में भटैती का प्राधान्य होना था और कविता वास्तविक कवित्व से कोसों दूर थी। परन्तु, कुछ तो राजनैतिक और कुछ धार्मिक कारणों से मध्यकाल में राजस्थान की इस काव्य धारा के विरुद्ध प्रतिवर्त्तन होना शुरू हुआ जिससे कविता के विषय बदलने लगे और राज़ाश्रित कवियों के सिवा अन्य जातियों के लोगों ने भी कविता करना शुरू किया। इनमें मीरांबाई, अग्रदास तथा पृथ्वीराज मुख्य थे।

(१) मीरांबाई—मीरांबाई मेड़ते के राठोड़ राव दूदा जी के चतुर्थ पुत्र रत्नसिंह की पुत्री थी। रत्नसिंह के निर्वाह के लिये दूदा जी ने उन्हें बाजोली आदि बारह गाँव दिये थे, जिनमें से कुड़की भी एक था। इसी कुड़की नामक गाँव में मीरा का जन्म वि० सं० १५५५ (ई० स० १४९८) के आसपास हुआ।* इनके माता-पिता के और कोई भी संतान न थी। इसलिये वे अपनी इकलौती कन्या मीरां का बड़े प्रेम से लालन पालन करते थे। मीरां की माता धार्मिक

* हरबिलास सारड़ा; महाराणा साँगा, पृ० ९६

विचारों की एक भक्त महिला थी। मूर्ति-पूजा और पूजापाठ पर उनका अटल विश्वास था। माता की धार्मिक वृत्तियों का प्रभाव बालिका मीरां पर भी पड़ा, और ऐसा पड़ा कि वह जन्म भर दूर न हुआ। मीरां की बाल्यावस्था के सम्बन्ध में कई जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक दिन इनके घर पर एक साधु आया। उसके पास भगवान की एक सुन्दर मूर्ति थी। दो चार दिन के बाद जब वह साधु जाने लगा, तब मीरां ने वह मूर्ति उससे लेनी चाही। मूर्ति बहुत सुन्दर थी और साधु बहुत दूर से उसे अपने साथ लाया था, इसलिये वह उसे देना नहीं चाहता था। साधु की इच्छा मूर्ति देने की न देख मीरां ने रोना-झगड़ना शुरू किया, जिससे विवश हो वह मूर्ति उसे दे देनी पड़ी। मूर्ति देते समय साधु ने मीरां से कहा—"ये भगवान हैं, गिरिधरलाल हैं; तू प्रतिदिन इनकी पूजा किये करना"। इस समय मीरां की अवस्था केवल सात वर्ष की थी। उसी दिन से खेल-कूद और सखी-सहेलियों को छोड़कर वह सच्चे मन से भगवान की सेवा में लग गई। अब से उसका अधिक समय भगवान की मूर्ति के नहलाने, उस पर चन्दन-पुष्प चढ़ाने और सजाने में व्यतीत होने लगा। माता से ईश्वर भक्ति के दो एक पद मीरां ने इस समय तक सीख लिये थे। उन्हीं को गा गा कर वह गिरिधरलाल को रिझाने लगी।

अपना सुनहला शैशव-काल भी जननी की पवित्र गोद में पूरी तरह से न बिता पाई थी कि मीरां की माता इस असार संसार से चल बसी। अतएव राव दूदाजी ने इन्हें कुड़की से अपने पास मेड़ते में बुला लिया, और वहीं इनका पालन-पोषण हुआ। परन्तु दूदाजी भी अधिक दिन तक जीवित न रहे। वि० सं० १५७२ (सन् १५१५) में इनका स्वर्गवास हो गया।* दूदाजी के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव मेड़ते के स्वामी हुए। उन्होंने मीरा का विवाह राणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र कुँवर भोजराज के साथ कर अपनी ज़िम्मेदारी से छुट्टी ली। पर दैव से यह भी ठण्डे दिल से न देखा गया। प्रारब्ध ने फिर ठोकर मार दी। विवाह के कुछ ही वर्ष बाद भोजराज का भी देहावसान होगया। इधर इनके पिता रत्नसिंह राणा

* ओझा राजपूताने का इतिहास, पृ० ६७१

साँगा की ओर से लड़ते हुए खानवा के युद्ध में काम आये। अब मीरां के लिये न कोई पीहर में था, न ससुराल में। सुनसान जंगल में बैठी हुई एक निराश्रय हरिणी की तरह वह अकेली राजमहलों में अपने दिन काटने लगी। चारां ओर संकट ही संकट देख मीरा ने भगवान की शरण ली; बचपन के साथी गिरिधरलाल का आश्रय लिया। मीरां की ईश्वर-भक्ति की धारा जो इतने दिनों तक सूक्ष्म एवं संकुचित रूप से बह रही थी, अब कुछ चौड़ी, कुछ वेगशील होकर प्रवाहित होने लगी। एक बंद कमरे में बैठ वह गिरिधरलाल की मूर्ति की पूजा करती और ईश्वर भक्ति में लीन होकर अपने आप को भूल जाती थी। ध्यानावस्था में कभी कभी उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगती और शरीर पर पुलकावलि छाजाती थी। प्रेमोन्मत्तहो वह कभी हँसती, कभी नाचती और कभी मधुर, ऊँची एवं दर्द भरी तानमें गाने लगती थी। उसे न खाने पीने का ध्यान रहता और न सोने-ओढ़ने का। कभी-कभी तो तीन चार दिन बिना अन्न-जल के व्यतीत हो जाते थे।

मीरां की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई ईश्वर भक्ति की चर्चा शनैः शनैः चारों ओर फैल गई और चित्तौड़ देखने के बहाने से साधु-सन्त और यात्री मीरां के दर्शन के लिये आने लगे। महाराणा सांगा का गोलोकवास इस समय तक हो चुका था और मेवाड़ के सिंहासन पर विक्रमादित्य विद्यमान थे। मीरां का साधु-समागम और भजन-कीर्तन उन्हें पसंद न आया, और भाँति-भाँति की यातनाएँ देने लगे। इन कष्टों के सहने में मीरां ने भी अपनी असीम सहनशीलता और अनुपम भगवद्भक्ति का परिचय दिया। कहते हैं कि राणा ने विष का प्रयोग भी किया था* परंतु मीरां की भगवद्भक्ति का अन्त फिर भी न हुआ। मीरां के साथ किये गये दुर्व्यवहारों की खबर जब वीरमदेव के पास मेड़ते पहुँची, तो उन्होंने उसे अपने पास बुला लिया। पर मीरां के भाग्य में सुख कहाँ था? वह मुश्किल से दो चार दिन वहाँ रही होगी कि जोधपुर के अधिपति राव मालदेव और वीरमदेव के बीच झगड़े उठ खड़े हुए और एक दिन के लिए भी वह आराम से मेड़ते में न रह सकी। जैसे तैसे मीरां ने दो चार महीने मेड़ते में व्यतीत किये। परंतु बाद में जब

* ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० ६७२

राव मालदेव ने वीरमदेव को हरा कर मेड़ता छीन लिया, तब वह तीर्थ यात्रा के लिये निकल पड़ी और मथुरा बृन्दावन आदि तीर्थ स्थानों में होती हुई द्वारकापुरी में जाकर रहने लगी। यहीं वि० सं० १६०३ में इनका स्वर्गवास हुआ।१ भक्तों में प्रसिद्ध है कि अंत समय में मीरां ने यह पद गाया था २:—

साजन सुध ज्यूं जाने त्यूं लीजे हो॥ १ ॥
तुम बिन मेरे और न कोई कृपा रावरी कीजे हो ॥ २ ॥
दिवस न भूख रैन नहिं निद्रा यूँ तन पल पल छीजे हो ॥३॥
मीरां कहे प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुरन नहिं कीजे हो ॥४॥

मीरां केवल भक्त ही न थी, वह कवि भी थी। फुटकर पदों के अतिरिक्त इनके रचे तीन ग्रन्थ भी बताये जाते हैं। नरसी जी रो माहेरो, राग गोविन्द और गीत गोविन्द की टीका। अन्तिम दो ग्रंथों का तो पता नहीं, पर नरसी जी रो माहेरो हाल ही में उपलब्ध हुआ है। यह ग्रन्थ पदों में है और मीरां की मिथुला नामक सखी को संबोधित करके लिखा गया है।३ मीरां के पदों का भारतवर्ष में पुष्कल प्रचार है, विशेषतः राजस्थान, गुजरात और बंगाल में। परंतु आजकल मीरां के नाम से जो पद प्रचलित हैं उनमें बहुत से प्रक्षिप्त हैं और यही कारण है कि हमें कहीं भाषा-भिन्नता, कहीं विचार भिन्नता और कहीं भाव भिन्नता दीख पड़ती है। भाषा मीरां की राजस्थानी मिश्रित व्रजभाषा है, जिसमें गुजराती की विशेषताओं के साथ साथ पंजाबी, खड़ी बोली और पूरबी का रंग भी यत्र तत्र लगा हुआ है।

मीरां की कविता में भक्ति भाव का अन्तर्पट है और उसके प्रधान गुण हैं—सरलता, लालित्य एवं तल्लीनता। साहित्यिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो मीरां की कविता कोई बहुत ऊँची नहीं है। परन्तु सरल, सरस, स्वाभाविक, भक्ति एवं भावपूर्ण होने से एक भक्त हृदय को मुग्ध करने में

१ हरबिलास सारड़ा, महाराणा साँगा, पृ० ६६

२ मुंशी देवीप्रसाद, मीरांबाई का जीवन चरित्र, पृ० २९

३ नरोत्तमदास स्वामी, एम० ए०; मीरां मंदाकिनी, पृ० १० (प्रस्तावना)

वह फिर भी अप्रतिम है। कृष्ण भक्ति में हिन्दी के होमर, अंधे कवि सूरदास की तुलना किसी दूसरे से नहीं हो सकती। सूर सचमुच ही हिन्दी साहित्याम्बर के सूर हैं। सूरसागर में प्रेमरस की एक तरह से बाढ़ आगई है और गोपियों तथा यशोदा के मुख से जो पद सूर ने कहलाये हैं उनमें उन्होंने नारी हृदय का ऐसा मधुर, मनोवैज्ञानिक तथा कलापूर्ण विश्लेषण किया है कि मुग्ध ही हो जाना पड़ता है। सख्या भी सूर के पदों की कम नहीं—सवालाख है। पर इतना होते हुए भी मीरा के पदों में जो रस है, मीठा सा दर्द है, वह उनमें भी नहीं आ पाया है। कविता क्या की है, कवयित्री ने हृदय ही बाहर निकाल कर रख दिया है :—

"जाओ हरि निरमोहड़ारे, जाणी थाँरी प्रीत"
"म्हारो जनम मरण रो साथी, थाँने नहिं बिसरूँ दिनराती"
"म्हांरे सिर पर सालिग राम, राणा जी म्हारो काईं करसी"
"राणा जी म्हाने या बदनामी लागे मीठी"
"आवत मोरि गलियन में गिरधारी, मैं तो छुपगई लाजकी मारी"
क्या करूँ मैं बन में गई, घर होती तो श्याम कुं मनाई लेती"

मीरां की उपासना दम्पति-भाव की थी। अतएव इनकी कविता में भक्ति और शृङ्गार दोनों का सम्मिलन स्वाभाविक है। परन्तु मीरां का शृङ्गार लौकिक नहीं, अलौकिक है। उसमें न तो विद्यापति की सी अश्लीलता है, न सूर की सी उच्छृङ्खलता और न बिहारी की सी मादकता। मीरां का शृङ्गार पवित्र है और पवित्रता के साथ साथ उसमें अनन्त, शाश्वत तथा निर्मल प्रेम की अनोखी झाँकी है। सभी सम्प्रदाय, सभी धर्म एवं सभी मनोवृत्तियों के पाठकों से मीरा की कविता समान रूप से आदृत है। इसलिए नहीं कि मीरां स्त्री थी। इसलिए भी नहीं कि मीरां का जन्म यशःपूत एक राठोड़ कुल में हुआ था। बल्कि इसलिये कि मीरां की कविता ही सच्ची कविता है, कवि-हृदय की यथार्थ अनुभूति है। मीरां के शब्दो में चोट है, भाव-प्रवण व्यथा है, घायल करने की शक्ति है, जिसे हम प्राच्य एवं पाश्चात्य साहित्य के बड़े बड़े कवियों की विश्व विश्रुत रचननाओं में टटोलते फिरते हैं—पर पाते नहीं हैं।

इनके दो-एक पद देखिये :—

राणाजी मैं गिरिधर रे घर जाऊँ।
गिरिधर म्हाँरो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ ॥१॥
रैन पड़े तब ही उठ जाऊँ, भोर भये उठ आऊँ।
रैन दिना वाके सँग खेलूँ, ज्यों रीझे ज्यों रिझाऊँ ॥२॥
जो वस्त्र पहिरावे सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।
मेरे उनके प्रीत पुरानी, उन बिन पल न रहाऊँ ॥३॥
जहँ बैठावे जितही बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ।
जन मीरा गिरधर के ऊपर, बार बार बलि जाऊँ ॥४॥

हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाणे कोय ॥टेक॥
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोणा होय ॥
गगन मँडल पै सेज पिया की, किस विध मिलणा होय ॥१॥
घायल की गत घायल जानै; की जिन लाई होय ॥
जौहरी की गत जौहरी जाने, की जिन जौहर होय ॥२॥
दरद की मारी वन वन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय ॥
मीरां की प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद सँवलिया होय ॥३॥

तेरा कोइ नहिं रोकनहार, मगन होय मीरां चली ॥टेक॥
लाज सरम कुलकी मरजादा, सिर से दूर करी।
मान अपमान दोऊ धर पटके, निकली हुँ ज्ञान गली ॥१॥
ऊँची अटरिया लाल किंवड़िया, निरगुण सेज बिछी।
पचरंगी झालर सुभ सोहै, फूलन फूल कली ॥२॥
बाजूबंद कड़ूला सोहै, माँग सेंदूर भरी।
सुमिरन थाल हाथ में लीन्हा, सोभा अधिक भली ॥३॥
सेज सुखमण मीरां सोवे, सुभ है आज घरी।
तुम जावो राणा घर अपणे, मेरी तेरी नाहिं सरी ॥४॥

(२) अग्रदास—ये जयपुर राज्यान्तर्गत गलता नामक स्थान के रहने वाले थे और प्रसिद्ध वैष्णवभक्त कृष्णदास जी पयाहारी के २५ शिष्यों में मुख्य थे।

इनके शिष्य नाभा दास कृत भक्तमाल के आधार पर कुछ लोगों ने इनका रचना काल सं० १६३२ के आस पास माना है, जो ठीक ही प्रतीत होता है। अग्रदास भगवान राम के उपासक थे। इन्होंने वैष्णव शाखा के आचार्य रामानुज प्रतिपादित रामभक्ति संबधिनी कविता अधिक लिखी है। इनकी कविता सद्भावोत्पादक एवं विचार सौन्दर्य से पूर्ण है और सरल वर्णन शैली के सहारे इन्होंने अत्युच्च साधना की बातें कही हैं, जो मानव हृदय में आध्यात्मिक स्फूर्ति का संचार करती है। इनके रचे ग्रन्थों के नाम ये हैं:—

(१) श्रीराम भजन मंजरी (२) पदावली (३) हितोपदेश भाषा (४) उपासना बावनी (५) ध्यान मञ्जरी (६) कुंडलियाँ (७) अष्टयाम (८) अग्रसार और (९) रहस्यत्र्य, उदाहरण:—

रघुवर लागत हैं मोहि प्यारो ॥ टेक ॥
अवधपुरी सरयू तट विहरैं, दशरथ प्राण पियारो ॥१॥
क्रीट मुकुट मकराकृत कुण्डल, पीतांबर पटवारो ॥
नयन विशाल माल मोतियन की, सखि तुम नेक निहारो ॥२॥
रूप स्वरूप अनूप बनो है, चित से टरत न टारो ॥
माधुरि मूरति निरखो सजनी, कोटि भानु उजियारो ॥३॥
जानकि नायक सब सुख दायक, गुणगण रूप अपारो ॥
अग्र अली प्रभु की छबि निरखे, जीवन प्राण हमारो ॥४॥

नदी किनारे रूखा जब कब होइ विनास।
जब कब होइ विनाश देह कागद की छागर ॥
आयु घटै दिन रैन सदा आमय को आगर।
जरा जोर वर श्वान प्राण को काल शिकारी ॥
मूषक कहाँ निशङ्क मृत्यु तकि रही मँजारी।
अग्र भजन आतुर करो जौलों पञ्जर श्वास ॥
नदी किनारे रूखा जब कब होइ विनास ॥

———

काजर सब कोउ देत है चितवन माँझ विशेषि ।
चितवन माँझ विशेषि प्रिति सों प्रभुको देखै ॥
श्याम गौर जो रूप हृदय-अन्तर अवरेखै ।
रसन रटै हरिनाम असद आलाप न करई ॥
देखि पराई द्रव्य चाह-पावक नहिं जरई ।
रामचरण व्रत नेह नित अग्र सोहागिल पेषि ॥
काजर सब कोउ देत है चितवन माँझ विशेषि ॥

(३) नाभादास—ये अग्रदास के शिष्य थे । इनका असली नाम नारायण दास था। इनकी जाति के सम्बन्ध में दो मत हैं। कोई इन्हें डोम और कोई क्षत्रिय बतलाते हैं । कहा जाता है कि जब ये बहुत छोटे थे, तब अन्नाभाव के कारण इनके माता पिता इन्हें एक सुनसान जंगल में छोड़ आये थे। जहाँ से उठाकर अग्रदास जी इन्हें अपने स्थान पर लाये और इनका पालन पोषण किया । अपने गुरू के कहने से इन्होने भक्त माल लिखा, जिसका रचना काल वि० सं० १६४२ और वि० सं० १६८० के बीच में अनुमानित किया जाता है । इसके अतिरिक्त इन्होंने दो अष्टयाम और रामचरित सबधी फुटकर पद भी बनाये थे। पर इनकी ख्याति भक्तमाल ही के कारण विशेष हैं । भक्तमाल में तीन सौ छप्पय हैं और लगभग दो सौ भगवद्भक्तों के चरित्रों का बखान किया गया है। इसकी भाषा व्रज भाषा है और साहित्य तथा इतिहास दोनों ही दृष्टियों से यह एक महत्वपूर्ण रचना है।

इनकी कविता देखिये:—

कलि कुटिल जीव निस्तार हित वालमीकि तुलसी भयो ॥
त्रेता काव्य निबन्ध करी सत कोटि रमायन ।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन ॥
अब भक्तन सुख देन बहुरि वपु धरि (लीला) विस्तारी ।
राम चरन रस मत्त रहत अह निसि व्रत धारी ॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लयो ।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित वालमीकि तुलसी भयो ॥

सदृरिस गोपिन प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायो ।
निर अंकुस अति निडर रसिक जस रसना गाथो ॥
दुष्टन दोष बिचारि मृत्यु को उद्यम कीयो ।
बार न बांको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो ॥
भक्ति निसान बजाय के काहू तें नाहीं लजी ।
लोक लाज कुल श्रंखला तजि मीरां गिरधर भजी ॥

(४) दुरसाजी—राजस्थान के चारण कवियों में दुरसा जी का स्थान बहुत ऊँचा है। कविता के नाम पर जितना धन, जितना यश और जितना सम्मान इन्हें मिला उतना बहुत थोड़े कवियों को प्राप्त हुआ है। इनकी लोकप्रियता का अनुमान हमें इसी बात से हो सकता है कि राजस्थान में शायद ही कोई ऐसा चारण मिलेगा जिसे दुरसा जी की दो चार कविताएँ मुखाग्र न हों।

इनका जन्म मारवाड़ राज्य के सोजत परगने के गाँव धूनला में वि० सं० १५६२ में हुआ था* इनके पिता का नाम मेहा जी और दादा का अमरा जी था। जब ये छ: वर्ष के थे तब मेहा जी का देहवसान हो गया जिससे अपने और अपनी माता की उदर पूर्ति के लिये बहुत छोटी अवस्था में इन्हें एक किसान की नौकरी करनी पड़ी। कहते हैं कि एक दिन जब ये अपने मालिक के खेत पर काम कर रहे थे तब बगड़ी के ठाकुर प्रतापसिंह जी उधर होकर निकले और इनकी उनसे बात चीत हुई। ठाकुर साहब इनकी मुखाकृति और वार्तालाप के ढग से बहुत प्रभावित हुए और किसान से मांग कर इन्हें अपने घर ले आये। यहाँ पर ठाकुर साहब ने इनके लिये शिक्षा का सुप्रबन्ध किया और जब ये पढ़ लिख कर होशियार हो गये तब अपना सेनापति और प्रधान सलाहकार नियुक्त कर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई।

इसी काल में दुरसा जी की मुग़ल बादशाह अकबर से भी भेंट हुई। बादशाह सोजत के मार्ग आगरे से अहमदाबाद जा रहे थे। बीच में सोजत एक प्रधान ठहरने का स्थान था। सोजत के डेरे से लेकर गुदोच के डेरे तक बादशाह के राह प्रबन्ध की ज़िम्मेदारी बगड़ी के ठाकुर साहब की थी।

* लल्लू भाई देसाई; चहुवान कुल कल्पद्रुम; पृ० २५९

उन्होंने अपने प्रधान कार्यकर्त्ता दुरसा जी को बादशाह के लिये प्रबन्ध करने को भेजा। दुरसा जी के प्रबंध से बादशाह बहुत खुश हुआ और यहीं पर गुंदोच के डेरे में इनकी बादशाह से सलामी हुई। इसी समय दुरसा जी ने अपनी कुछ कविताएँ भी बादशाह को सुनाईं। इनसे वह बहुत प्रसन्न हुआ और लाख पसाव तथा सेवा की प्रशंसा का प्रमाण पत्र देकर इन्हें गौरवान्वित किया। जब बगड़ी के ठाकुर साहब ने दुरसा जी के सुप्रबन्ध से बादशाह के प्रसन्न होने का हाल सुना तो वे भी बहुत खुश हुए और उन्होंने भी धूनला और नातल कूड़ी नामक दो गाँव इन्हें जागीर में दिये जो अभी तक इनके वंशवालों के अधिकार में हैं।

धीरे धीरे दुरसा जी का सुयश चारों ओर फैल गया और राजस्थान के राजा महाराजाओं द्वारा इन पर सम्मान की वर्षा होने लगी। अकबर तो इन पर लट्टू था। वह जितना इनकी काव्य-प्रतिभा पर मुग्ध था उतना ही इनकी तलवार का भी क़ायल था। वि० सं० १६४० में जिस समय बादशाह ने सीसोदिया जगमाल की सहायता के लिये रायसिंह चन्द्रसेनोत और दाँतीवाड़ा के स्वामी कोली सिंह की अध्यक्षता में एक सेना सिरोही के राव सुरताण सिंह के विरुद्ध भेजी, उसमें दुरसा जी भी सम्मिलित थे। आबू के पास भीषण कटाकटी हुई, जिसमें जगमाल, रायसिंह, कोली सिंह आदि धराशायी हुये और दुरसा जी के भी बहुत से घाव लगे। युद्ध के समाप्त होने पर राव सुरताण सिंह और उसके सरदार जब रण भूमि का निरीक्षण कर रहे थे तब उन्होंने घायल और खून से लथपथ दुरसा जी को वहाँ देखा और एक साधारण सिपाही समझ कर उन्होंने इन्हें भी दूध पिलाने (मारने) का विचार किया। परंतु तलवार म्यान से निकाल कर एक आदमी इनका काम तमाम करने के लिये ज्योंहीं इनकी ओर बढ़ा त्योंही ये बोल उठे—'मुझे मत मारो, मैं राजपूत नहीं चारण हूँ।' इस पर उनसे कहा गया कि यदि तुम चारण हो तो इस समरा देवड़ा की प्रशंसा में जो अभी काल कवलित हुआ है, कोई कविता कहो। यह सुनकर दुरसाजी ने उसी वक्त यह दोहा कहा:—

धर रावां जस डूंगरां, ब्रद पोतां शत्र हाण ॥
समरे मरण सुधारियो, चहुँ थोकां चहुँ आण ॥*

भावार्थ—चौहान समरा ने चारों ओर से अपनी मृत्यु को सार्थक किया अर्थात् उसने सुरताण की भूमि की रक्षा की, पहाड़ों की तारीफ करवाई, अपने वंशजों के लिये सम्मान छोड़ गया और शत्रुओं को हानि पहुँचाई।

राव सुरताण यह सुन कर बहुत प्रसन्न हुआ। पालकी में बिठा-कर वह इन्हें अपने साथ घर ले गया और घावों के पट्टियाँ बँधवाईं। कालान्तर (सं० १६६३) में सुरताण ने इन्हें अपना पोलपात बनाया तथा पेशुआ और साल नामक दो गाँव और करोड़ पसाव प्रदान किया।

दुरसा जी ने दो विवाह किये थे, जिनसे इनके चार पुत्र हुए—भार-मल जी, जगमल जी, सादूल जी, और किसना जी। इन्होंने अपने जीवन काल ही में जागीर के चार हिस्से कर चारों पुत्रों को सौंप दिये थे। सिरोही रियासत के पेशुआ और शाल नामक दो गाँव बड़े लड़के भारमलजी को, झाँकर जगमलजी को, लूंगिया और धागला सादूलजी को, और पाँचेटिया तथा रायपुरिया सबसे छोटे पुत्र किसनाजी को मिले थे।

इनका देहान्त वि० सं० १७१२ में १२० वर्ष की आयु में हुआ था। पाँचेटिया में जिस स्थान पर इनकी दाह क्रिया हुई वहाँ एक मन्दिर अभी तक बना हुआ है। आबू पर अचलेश्वर महादेव के मन्दिर में भी शिवजी की प्रतिमा के सामने दुरसाजी की एक सर्वधात की मूर्ति बनी हुई है।

दुरसाजी एक जन्म सिद्ध कवि थे और बहुत लम्बी आयु का उपभोग कर स्वर्गवासी हुए थे। अतः सम्भावना तो यही है कि इन्होंने प्रचुर परिमाण में लिखा होगा। परन्तु अभी तक इनकी बहुत कम कविताएँ उपलब्ध हुई हैं। महाराणा प्रताप की प्रशंसा में लिखी हुई इनकी 'विरूद छहत्तरी' तथा थोड़े से फुटकर गीत, छप्पय आदि प्राप्त हुए हैं, और इसी थोड़ी सी सामग्री पर इनकी उत्तुङ्ग ख्याति अवलंबित हैं। दुरसाजी हिन्दू धर्म के बड़े अभिमानी और हिन्दू जाति के बड़े हितैषी थे। जब किसी

* ठाकुर भूरसिंह शेखावत; महाराणा यश प्रकाश; पृ० ९८। ओझा; राजपूताने का इतिहास पृ० ७७९।

हिन्दू राजा को ये अकबर के समक्ष नत मस्तक होते देखते तब इन्हें मर्मान्तक व्यथा होती थी। हिन्दू जाति के अपमान को ये अपना अपमान और उसकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझते थे। अतः वीर रसाकीर्ण होते हुए भी इनकी रचना के अंतस्थल में विषाद की जो एक क्षीण रेखा दीख पड़ती है उसका मुख्य कारण है हिन्दू धर्मावलंबियों के प्रति इनकी अटूट श्रद्धा। इनकी काव्य-रचना का उद्देश्य भी महान था और वह था देश को जातीयता की ओर अग्रसर करना। अतएव देश-प्रेम से ओत प्रोत दुरसाजी की कविता इनके हृदय के सच्चे उद्‌गार हैं और महाराणा प्रताप की प्रशंसा के बहाने इन्होंने अपने युग के दर्द को, हिन्दू जाति के परिताप ही को दरसाया है। अकबर की हिन्दू-हित-विघातिनी कूट नीति का तो इनकी कविता में खूब ही भंडाफोड़ हुआ है। मुग़ल दरबार में राजा महाराजाओं की कैसी दुर्दशा होती थी, अपने पूर्वजों की मान मर्यादा पर लात मारकर किस प्रकार बादशाह को रिझाने के लिये वे शाही कटहरों में लटके किया करते थे, और किस प्रकार प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप हिन्दू-स्वत्वों के संरक्षण के हेतु अकेले ही मुग़ल वाहिनी से लोहा ले रहे थे आदि बातों का दुरसाजी ने ऐसा सजीव, सच्चा और फड़कता हुआ वर्णन किया है कि खून जोश से उबल पड़ता है और तत्कालीन राजसत्ता का इतिहास एव पतनाभिमुख हिन्दू जाति का चित्र आँखों के सामने घूमने लगता है। इनकी कविता का नमूना देखिए:—

अकबर गरब न आण, हिन्दू सह चाकर हुआ (वां)।
दीठो कोई दीवाण, करतो लटका कटहड़े ॥ १ ॥
लोपै हिन्दू लाज, सगपण[1] रोपे तुरक सूं।
आरज कुल री आज, पूंजी राण प्रताप सी ॥ २ ॥
अकबर समँद अथाह, तिहँ डूबा हिन्दू तुरक।
मेवाड़ो तिण माँह, पोयण फूल प्रताप सी ॥ ३ ॥
अकबरिये इकबार, दागल की सारी दुनी।
अण दागल असवार, एकज राण प्रतापसी ॥ ४ ॥

१ सगपण-संबंध।

(गीत)

आयां दल सबल साम हो आवे, रंगिये खग खत्रवाट रतो।
ओ नरनाह नमो नह आवे, पतसाहण दरगाह पतो ॥ १ ॥
दाटक[1] अनड़[2] दंड नह दीधो, दोयण घड़ सिर दाव दियो।
मेल न कियो जाय बिच महलां, कैलपुरै खग मेल कियो॥ २ ॥
कलमां बांग न सुणिये काना, सुणिये वेद पुराण सुभै ।
अहड़ो सूर मसीत न अरचै, अरचै देवल गाय उभै ॥ ३ ॥
असपत इन्द्र अवनि आहड़ियां[3], धारा झड़ियाँ सहै धका ।
घण पड़ियां सांकड़ियां, घड़ियां ना धीहड़ियां पड़ी नका ॥ ४ ॥
आखी अणी रहै उदावत[4], साखी आलम कलम सुणो ।
राणे अकबर बार राखियो, पातल हिन्दू धरम पणो ॥ ५ ॥

(५) वीर कवि पृथ्वीराज—बीकानेर के संस्थापक राव बीका जी से पाँचवीं पीढ़ी में रावकल्याण मल हुये, जिनके तीन पुत्र थे—रायसिंह, पृथ्वीराज, और रामसिंह। पृथ्वीराज का जन्म हुआ था संवत् १६०६ के मार्गशीर्ष में।* ये बड़े वीर, साहसी,नीति पटु, स्वदेशाभिमानी एवं भक्त थे, और सुकवि होने के साथ साथ संस्कृत-साहित्य, भारतीय दर्शन शास्त्र, ज्योतिष, छंदशास्त्र, संगीत शास्त्र आदि विषयों में भी परम प्रवीण थे। ये बड़े निर्भीक, सत्यप्रिय एवं स्पष्ट भाषी थे और चाटुकारिता एवं कृत्रिमता से कोसों दूर रहते थे। सत्य की खोज और असत्य का खंडन तो पृथ्वीराज के जीवन का प्रधान लक्ष्य ही था। मुग़ल सम्राट अकबर के ये प्रीति-पात्र थे और शाही दरबार में ही प्रायः रहते थे। ये उच्च कोटि के वैष्णव भक्त थे। भक्तवर नाभादास ने भी अपने भक्तमाल में प्रथम पंक्ति के भगवद्भक्तों में इनकी गणना कर इनके काव्य की बड़ी सराहना की है—

१ दाटक-शक्तिशाली। २ अनड़-अनम्र। ३ आहड़ियां-आक्रमण करता है। ४ उदावत-उदयसिंह का पुत्र (प्रताप)

* वेलि क्रिसन रुकमणी री (हिन्दुस्तानी एकेडेमी-संस्करण); पृ० १५

सवैया, गीत, श्लोक, बेलि, दोहा गुण नवरस।
पिंगल काव्यप्रमाण, विविध विध गायो हरिजस॥
परिदुख विदुष सश्लाघ्य, वचन रसना जु उच्चारे।
अर्थ विचित्रन मोल, सबै सागर उद्धारे॥
रुक्मिणी लता वर्णन अनुप, वागीस वदन कल्याण सुव।
नरदेव उभय भाषा निपुण, प्रथीराज कवि राज हुव॥

पृथ्वीराज ने दो विवाह किये थे। इनकी पहली स्त्री लालादे परम लावण्यमयी एवं सहृदया महिला थी। पृथ्वीराज भी उससे बहुत प्रेम करते थे। पर देवकोप से उसकी अकाल-मृत्यु हो गई, जिससे इन्हें दूसरा विवाह करना पड़ा। इस बार इनका उद्वाहन जैसलमेर के रावल हरराज की कन्या चाँपादे से हुवा। पृथ्वीराज का ख़याल था कि लालादे जैसी निपुण और गुणवती स्त्री उन्हें फिर न मिलेगी और इसी लिये वे दूसरा विवाह करना भी नहीं चाहते थे। पर उनकी यह शका निर्मूल सिद्ध हुई। रूप-गुण-रसज्ञता में चाँपादे स्वार्गीय लालादे से भी बढ़कर निकली। उसके रूपालोक से पृथ्वीराज का गृहिणी-विहीन गृह पुन: उद्भासित हो उठा, और लालादे के अभाव को वे भूल गये। चाँपादे सुन्दर थी, चतुर थी, हँसमुख थी, परन्तु सर्व प्रधान गुण उसमें यह था कि काव्य रचना में भी वह कुशल थी। अपनी जीवन-नौका को खेने के लिये जैसा केवट पृथ्वीराज चाहते थे वैसा ही उन्हें मिला भी। दम्पति परम प्रसन्न एवं सन्तुष्ट थे। वे एक दूसरे की कविताएँ सुनते, उन्हें सराहते, उनमें काटछाँट करते, उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना करते और सदोष हुई तो व्यंगवर्षा-द्वारा एक दूसरे का मन भी बहला लेते थे। दोनों की आपस में खूब पटती थी।

एक दिन पृथ्वीराज सामने दर्पण रखकर अपने बालों में कंघी कर रहे थे कि उन्हें अपनी दाढ़ी में एक सफेद बाल दीख पड़ा। उसे उन्होंने उखाड़ कर फेंक दिया, पर पीठ पीछे खड़ी हुई चाँपादे यह लीला देख रही थी। वह चुपके से दो कदम पीछे हट गई और मुँह फेर कर हँसने लगी। उसका

प्रतिबिम्ब दर्पण में देखकर पृथ्वीराज ने पीछे देखा और फिर लज्जा विमिश्रित स्वर से बोले:—

पीथल धोळा आविया, बहुली लग्गी खोड़ ॥
कामण मत्तगयंद ज्यों, ऊभी मुक्ख मरोड़ ॥

पृथ्वीराज की ग्लानि मिटाने के अभिप्राय से चाँपा दे ने भी कविता का उत्तर कविता में यों दिया:—

हळ तौ धूना धोरियाँ, पंथज गग्धाँ पाव ॥
नराँ, तुराँ, अरु वन फळां, पक्काँ पक्काँ साव ॥*

कुछ तो राजनैतिक झंझटो के कारण और कुछ अपने भाई के लाभार्थ पृथ्वीराज को शाही दरबार में रहना पड़ता था, पर अकबर की कूटनीति एवं उसके राजकीय आदर्शों के प्रति इनकी सहानुभूति किंचित् मात्र भी न थी। स्पष्ट भाषी और सत्यनिष्ठ होने से अकबर को भी खरी खरी सुनाने से ये नहीं चूकते थे। एक दिन भरी सभा में अकबर ने जब यह कहा कि अब प्रताप भी हमारी अधीनता स्वीकार करने को तैयार है, तब ऐसी निर्भीकता से इन्होंने उसके कथन का खंडन किया कि समस्त सभासद चकित, विभ्रान्त एवं भीत हो उठे। पृथ्वीराज बोले—जहाँपनाह! सागर मर्यादा, हिमालय गौरव और सूर्य तेज को भले ही छोड़ दे, परन्तु शरीर में बल, नसों में रक्त और हाथ में तलवार रहते तक प्रताप अपने प्रण को कदापि न छोड़ेंगे। आपकी अधीनता स्वीकार न करेंगे। मेरा दृढ़ बिश्वास है कि मेवाड़ और भारत का ही क्या समस्त संसार का राज्य भी प्रताप के पाँवों तले रख दिया जाय तो वह उसे ठुकरा देंगे। स्वतन्त्रता के सामने प्रताप की दृष्टि में राज्य-सम्मान, राज्याधिकार और राज्य-वैभव का कोई मूल्य एवं महत्व नहीं है। अकबर पृथ्वीराज को अपने राज्य का प्रधान स्तम्भ समझता था, पर इस सिंहनाद ने उसके मन में सन्देह उत्पन्न कर दिया और वह सोचने लगा कि प्रताप से मिलकर पृथ्वीराज कहीं मेरे एकाङ्गी अधिकार तथा साम्राज्य को जर्जरित करने का उद्योग न करे। वस्तुतः बात थी भी ऐसी ही। क्योंकि

* वेलि क्रिसन रुकमणी री (डा० एल० पी० टैसीटरी द्वारा संपादित); पृ० ९

राजस्थान में उस समय वीरों का अभाव न था, अभाव था हिन्दू संगठन का। और यदि प्रतापसिंह को कहीं पृथ्वीराज जैसा सच्चा, सुभट तथा स्वदेश सेवी साथी मिल जाता तो कम से कम राजस्थान में तो वे अकबर के पाँव न जमने देते।

पृथ्वीराज के जीवन की एक और घटना सर्वश्रुत है। कहते हैं कि एक दिन अकबर ने इनसे कहा कि तुम्हारे तो कोई पीर वश में है, बताओ तुम्हारी मृत्यु कब और कहाँ होगी? "मथुरा के विश्रान्त घाट पर, और उस समय एक सफेद कौआ प्रकट होगा"-पृथ्वीराज ने उत्तर दिया। बादशाह को विश्वास न हुआ और इस भविष्य वाणी को निर्मूल सिद्ध करने के लिये पृथ्वीराज को किसी राज्य कार्य के बहाने से अटक पार भेज दिया। इस घटना के साढ़े पाँच महीने बाद एक दिन एक भील चकवा-चकवी के एक जोड़े को जंगल से पकड़ कर बेचने के लिये दिल्ली के बाज़ार में लाया। पक्षियों को देखने के लिये आये हुए मनुष्यों की बाज़ार में भीड़ लग गई और उनमें से एक ने हँसी ही हँसी में उनसे प्रश्न किया—"तुम रात को कहाँ थे?" दोनों पक्षी सहसा बोल उठे—"इसी पिंजरे में"। पक्षियों को मानव-भाषा में बोलते हुए सुन कर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, और उन्होंने इसकी सूचना अकबर को भी दी। बादशाह ने फ़ौरन पिंजरा मंगाकर पक्षियों को देखा और कहा कि भील ने तो दुश्मनी से बेचने के लिये इन्हें पकड़ा था, परतु ऐसे शत्रु पर तो करोड़ों मित्र भी न्योछावर हैं। नवाब ख़ान ख़ाना उस समय वहाँ विद्यमान थे। उक्त भाव को लेकर उन्होंने यह आधा दोहा कहा:—

सज्जन वारूं कोड़धां, या दुर्जन की भेट।

बादशाह को यह उक्ति बड़ी अच्छी लगी, और ख़ान ख़ाना से कहा कि इसे पूरी करो, पर वे न कर सके। इसलिये पृथ्वीराज को बुलाने की आज्ञा हुई। उस दिन से पृथ्वीराज के मरने में पन्द्रह दिन बाकी थे। ठीक पन्द्रहवें दिन वे मथुरा पहुँचे। मृत्यु की घड़ी आ पहुँची थी। अतएव उन्होंने बादशाह के नाम एक पत्र लिखा और विश्रांतघाट पर दान पुण्य कर प्राण छोड़े। सफ़ेद कौआ आया। बादशाह के कर्मचारी जो उन्हें लेने गए थे, देखकर दंग रह गए। आँखों

देखी सारी घटना उन्होंने बादशाह से कह सुनाई और वह पत्र भी दिया, जिसमें पूरा दोहा इस प्रकार लिखा हुआ था:—

सज्जन वारूं कोड़धा, या दुर्जन की भेट।
रजनी का मेला किया, वेह के अक्खर मेट॥[1]

यह घटना सं० १६५७ में हुई थी। बादशाह को पृथ्वीराज की भविष्यवाणी पर विश्वास हो गया। परंतु अब बधाई किसे देता। अंततः स्वर्गीय आत्मा की पुण्य स्मृति में दो आँसू डाल केवल यही कह कर रह गया—

पीथल सूं मजलिस गई, तानसेन सूं राग।
रीझ बोल हंसि खेलबो, गयो बीरबल साथ॥[2]

पृथ्वीराज राजस्थान के अमर कवियो में से एक हैं। इनके रचे वेलि क्रिसन रुकमणी री, दशरथ रावउत, बसुदेव रावउत और गंगालहरी नामक ग्रथ तथा स्फुट गीत, सवैया, दोहा, सोरठा, छप्पय आदि उपलब्ध हुए हैं। प्रेम-दीपिका तथा श्री कृष्ण रुक्मिणी चरित्र दो और ग्रंथों के नाम मिश्रबन्धु विनोद में दिये हुए हैं; पर देखने में नहीं आये*। पृथ्वीराज की कला का उत्कर्ष, उनकी अनुभूति की सूक्ष्मता एवं सुकोमलता सर्वोत्तम रूप से बेलि में प्रस्फुटित हुई है। यह एक खंडकाव्य है और श्रीमद्भागवत पुराण के दशम स्कन्ध के कुछ अशों की छाया पर रचा गया है। पर कल्पना का पुट देकर तथा रागात्मिकता का जीवन फूंक कर कवि ने उसमें ऐसी नवीनता पैदा कर दी है, कि वह एक सर्वथा स्वतन्त्र रचना प्रतीत होती है। इसमें रुक्मिणी के विवाह की कथा का वर्णन है और डिंगल प्रसिद्ध अर्ध सममात्रिक छंद, 'बेलियो गीत' का प्रयोग हुआ है। कुल मिलाकर इसमें तीन सौ पाँच छंद हैं। ग्रथ की भाषा साहित्यिक डिंगल है और काव्य-सौष्ठव, अलंकार-चातुर्य्य, भाव गाम्भीर्य, भाषा-लालित्य, अर्थ-गौरव आदि सभी दृष्टियों से अपने रंगढंग का

१ मुंशी देवी प्रसाद, राज रसनामृत पृ० ४१

२ ना० प्र० प०, भाग १४—अंक २ पृ० २५२

*मिश्रबंधु विनोद, भाग पहला, पृ० ३०७

अनूठा है, अनुपम है। वैसे ग्रंथ है शृङ्गार रस प्रधान, पर वीर, रौद्र, बीभत्स आदि रसों की सम्यक् व्यञ्जना भी कवि ने प्रसंगानुकूल की है। कुछ लोगों का ख़याल है कि डिंगल वीर रस के लिये जितनी उपयुक्त है उतनी शृङ्गार रस के लिये नहीं, किन्तु पृथ्वीराज का यह ग्रथ इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि डिंगल में शृङ्गार रस की भी अत्युच्च, सुमधुर, प्रौढ़ एवं विशिष्ट रचना हो सकती है। बेलि के कथानक में सरसता, उसकी कविता में कोमलता, उसके प्राकृतिक वर्णन में काल्पनिक कमनीयता, उसकी भाषा में प्रांजलता, एवं भावों में मौलिकता है और उसकी पार्थिव तथा पारमार्थिक महत्ता के सम्बन्ध में तो कवि ने स्वयं ही लिख दिया है:—

मणि मन्त्र तन्त्र बळ जंत्र अमंगळ, थळि जळि नभसि न कोइ छळन्ति
डाकिणि साकिणि भूत प्रेत डर, भाजै उपद्रव वेलि भणन्ति ॥
प्रिथु बेलि कि पँचविध प्रसिध प्रणाळी, आगम नीगम कजि अखिळ।
मुगति तणी नीसरणी मंडी, सरग लोक सोपान इळ ॥*

महाराज पृथ्वीराज की सर्वोत्कृष्ट रचना 'वेलि क्रिसन-रुक्मणी री है, इसमें कोई सन्देह नहीं; परन्तु राजस्थान में वेलि इतनी लोक-प्रिय नहीं है, जितनी इनकी फुटकर कविताएँ। इनके रचे वीर रस पूर्ण गीत, सोरठा आदि राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध हैं और यही इनकी कीर्ति का मुख्याधार हैं। वीर रसोपासक भूषण, लाल आदि की तरह पृथ्वीराज भी राष्ट्रीय कवि हैं। इनकी कविता अपने युग की अनुभूति को प्रत्यक्ष करती है और उसमें तत्कालीन हिन्दू जनता की भावनाओ का सुन्दर चित्रण हुआ है। पृथ्वीराज शृङ्गार रस के ही नहीं, वरन् वीर रस के भी उत्कृष्टकवि हैं। इनकी वाणी में बल है, प्राण है, स्फूर्ति है और जैसे भावों की उच्चता है, वैसे ही स्पष्ट भाषण उद्दण्डता भी। पर अस्वाभाविकता नाम मात्र को भी नहीं आपायी है। पृथ्वीराज के गीतों में स्वरालोड़ित संगीत ध्वनि, कवित्त-सवैयों में अपरिमित ओज

*'बेलि क्रिसन रुकमणी री' का एक बहुत सुन्दर संस्करण हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू० पी० की ओर से छपा है। इसके पाठ-निर्णय तथा अर्थ-स्पष्टीकरण में ढूँढ़ाड़ी, मारवाड़ी, सुबोधमंजरी आदि चार प्राचीन टीकाओ तथा डा० टैसीटरी द्वारा संपादित संस्करण से सहायता ली गई है। इनके सिवा शिवनिधि नामक

और दोहे-सोरठों में बड़े बड़े राज्यों को उलट देने की महती शक्ति है। इन की कविता देखियेः—

(प्रभात वर्णन)

(१)

गत प्रभा थियौ ससि रयणि गळन्ती
वर मन्दा सह वदन वरि।
दीपक परजळतो इ न दीपै
नासफरिम सू रतनि नरि॥

(२)

मेली तदि साथ सुरमण कोक मनि
रमण कोक मनि साथ रही।
फूले छुंडी वास प्रफूले
ग्रहणे सीतळता इ ग्रही॥

(३)

धुनि उठी अनाहत संख भेरि धुनि
अरुणोदय थियौ जोग अभ्यास।
माया पटल निसामै मंजे
प्राणायामे ज्योति प्रकास॥

(४)

संयोगिणि चीर रई कैरव श्री
घर हट ताळ भमर गोधोख।

एक जैन यति की बनाई हुई 'कल्पतरु' नाम की एक टीका और भी हमारे देखने में आई है। शिवनिधि ने अपनी इस पुस्तक में टीका का समय नहीं दिया है। पर इस टीका की प्राचीन हस्तलिखित प्रति जो हमारे देखने में आई है वह वि० सं० १७७२ की लिखी हुई है, (संवत् १७७२ चैत्र शुक्ला चतुर्थी रविवासरे ग्राम भादसोडा (मेवाड़) मध्ये जैन यति प्रभू कुशलमणि तस्य शिष्येण गणि उत्तम कुशलेन लिखी।)

दिणयर ऊगि एतला दीधा
मोखियाँ बंध बंधियाँ मोख ॥

(५)

वाणिजाँ वधू गो वाछ असइ विट
चोर चकव विप्र तीरथ वेळ।
सूर प्रगटि एतला समपिया
मिळियाँ विरह विरहियाँ मेल ॥

(दूहा)

माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूतो औझ कै, जाण सिराणैं साँप ॥१॥
अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल।
मेवाड़ो तिण माँह, पोयण फूल प्रताप सी ॥२॥
अकबर एकण बार, दागळ की सारी दुनी।
अण दागळ असवार, रहियो राण प्रतापसी ॥३॥
अकबर घोर अँधार, ऊँघाणा हिन्दू अवर।
जागे जगदाधार, पोहरै राण प्रताप सी ॥४॥
अड़रे अकबरियाह, तेज निहाळो तुरकड़ा।
नम नम नीसरियाह, राण बिना सह राजवी ॥५॥

(कवित्त)

जब तैं सुने हैं बैन तब तैं न मोको चैन,
पाती पढ़ि नैकु सो विलंब न लगावैगो।
लेकै जमदूत से समस्त राजपूत आज,
आगरे में आठो याम ऊधम मचावैगो ॥
कहै पृथ्वीराज प्रिया, नैक उर धीर धरो,
चिरंजीवी राणा श्री मलेच्छन भगावैगो।
मन को मरद मानी प्रबल प्रताप सिंह,
बब्बर ज्यौं तड़फि अकब्बर पै आवैगो ॥

(६) दयालदास—ये मेवाड़ के रहने वाले जाति के भाट थे। इनका लिखा राणारासो एक बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसके सिवा इनके रचे 'रासो को अंग' तथा 'अकल को अंग नामक' दो और ग्रंथों के नाम सुने जाते हैं।* ये सभी ग्रंथ अमुद्रित हैं। राणारासो में महाराणा कर्णसिंह तक के मेवाड़ के महाराणाओं का वर्णन है। दयालदास ने इसमें न तो कहीं अपना वंश परिचय और न ग्रन्थ के प्रारम्भ तथा समाप्त होने का समय दिया है। पर ग्रन्थ के अंत में जहाँ महाराणा कर्णसिंह का वृत्तान्त समाप्त होता है, वहाँ किसी दूसरे व्यक्ति ने, शायद लिपिकार ने, उस का रचना काल स० १६७५ लिखा है। (सं० १६७५ का माह वदी ५ सुभ लिखतं भाई सोमजी) महाराणा कर्णसिंह ने वि० सं० १६७६ से १६८४ तक राज्य किया था। अतः इससे यही सारांश निकलता है कि इनकी गद्दीनशीनी के पहले इस ग्रंथ का निर्माण हुआ था। पर ग्रंथारम्भ में महाराणा की जो वंशावली दी हुई है उसमें महाराणा जगतसिंह, महाराणा राजसिंह और महाराणा जयसिंह के नामों का भी उल्लेख है जिन्होंने कर्णसिंह के बाद मेवाड़ के राजसिंहासन को सुशोभित किया थाः—

सीसोदा जगपति नृपति, तासुत राजरु रानु।
तिनके निरमल वंशको, कर्यो प्रशंसु बखानु॥
राजस्यंघ के पाट अब, बैठे जैस्यंघ रान।
धरा ध्रम अवतार ले, मनौं भान के भान॥

अतः दो ही बातें हो सकती हैं। एक तो यह कि ग्रंथ वास्तव में सं० १६७५ ही का लिखा हुआ हो और बाद में दयालदास के वंशजों ने महाराणा जगतसिंह, महाराणा राजसिंह और महाराणा जयसिंह के नाम भी वंशावली में जोड़ दिये हों अथवा ग्रंथ की रचना महाराणा जयसिंह के शासन काल (सं० १७३७-१७५५) में हुई हो, पर ग्रंथ को प्राचीन बतलाने के अभिप्राय से किसी ने झूठ मूठ इसका रचना काल स० १६७५ लिख दिया हो। यदि दयालदास महाराणा कर्णसिंह का समकालीन होता तो कम से कम उनके पिता महाराणा अमरसिंह और दादा महाराणा प्रताप के विषय में

* मिश्र बन्धु विनोद; भाग पहला, पृ० ३७७

तो ऐसी इतिहास विरुद्ध बातें न लिखता जैसी कि राणा रासो में उसने लिखी हैं। भाषा और रचना पद्धति से राणारासो अवश्य प्राचीन प्रतीत होता है, पर उसमें वर्णित घटनाओं को देखते हुए तो यही सिद्ध होता है कि महाराणा जयसिंह के राजत्व काल में सुनी सुनाई बातों के आधार पर उक्त कवि ने इसकी रचना की थी पर किसी कारण विशेष से अथवा उसकी मृत्यु हो जाने से कर्ण-सिंह के बाद के तीन राणाओं का वृत्तान्त लिखना बाकी रह गया था।

राणा रासो की रचना चारण-भाटों की प्रथाबद्ध प्रणाली पर हुई है। सरस्वती तथा गणपति की वन्दना करने के पश्चात कवि ने ब्रह्मा जी से लगाकर महाराणा जयसिंह तक के राणाओं की वंशावली दी है और बाप्पा रावल को एकलिंग का पुत्र कहा है। बाप्पा रावल और अजयसिंह के बीच के सभी राजाओं के नाम, तेजसी, गिरधर, जसकरन, अनतपाल, मनोहर इत्यादि मनगढंत हैं। परन्तु कवि के लिखने का ढंग कुछ ऐसा है कि जिससे पढ़ने वाले को यही मालूम होता है कि मानो वह कोई इतिहास ग्रंथ पढ़ रहा हो :—

एकलिंग के एक सुत, ताको बापा नामु।
रावल बखत बुलंद हुव, अपूरव आठों जामु॥
बापा को खुमान भयो, गोइंदु खुमान गृह।
रावल गोइंद तनों, महानदु नंदु इंदु दह॥
महानंद को सीहु, सीहु को सकतिकुँवर सुतु।
सकतिकुँवर घर सुवनु, सारि बाहन बर अद्भुत्॥
रावल सारिबाहन तनों, रावलु अंबप्रसादु हुव।
अंबप्रसाद उर उपज्यो, ब्रह्म कुँवारु रुपूत सुव॥

सारांश यह है कि इतिहास की अपेक्षा भाषा और कविता के विचार से राणा रासो एक अधिक महत्व पूर्ण ग्रंथ है। इसके मनन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दयालदास एक सहृदय कवि थे तथा डिंगल भाषा पर उनका अच्छा अधिकार था और अपने विषय को काव्योचित ढंग से लिखने में पूर्ण समर्थ थे।

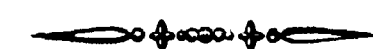
इनकी कविता देखिये:—

परसि पाइ पंकज कुँवारु आलिंगि तात प्रति ।
हथु मथ पर फेरि तथ दिय सीखु राज गति ॥
चल्यो कुँवरु चतुरंग सजि सेना समूह चढ़ि ।
हयगयंद पयदल गरद आया सबा समढ़ि ॥
परतल अपार रथ सथ सजि गथ गुथि खचर दरक ।
अवसान भान कि ध्यान चुकि कहि दयाल दबिय अरक ॥

अरक धरक धर धरकि धुकत धारा धरंन फन ।
मछ जेमि कछप छुमस तिनि घुटंत च छुकन ॥
जछर छनिर मछ अपु गछ गछ पुकारहि ।
मछर छंडि हरन छिक छिभन धांमु करहि ॥

खल भलि खलक खदबदि समद नदसद नीसान सुनि ।
डगमगत डिंभ डुंगर गिरत फिरत चक्र जिमि चितमुनि ॥

चौथा अध्याय



(संत कवि)

संत कबीर के सदुपदेशों का जनसाधारण ने अच्छा स्वागत किया और उनकी सफलता से उत्साहित होकर राजस्थान में भी कुछ संत-महात्माओं ने कबीर पंथ से मिलते-जुलते दादू पंथ, चरण दासी पंथ इत्यादि नवीन पंथों को जन्म दिया जो कालान्तर में राजस्थान के सिवा अन्य प्रान्तों में भी बड़े लोक-प्रिय सिद्ध हुए। सैद्धान्तिक दृष्टि से इन नये पथों के जन्मदाताओं की विचार धारा और कबीर की विचार धारा में विशेष अंतर न था। कबीर के समान इनकी उपासना भी निराकारोपासना थी और उन्हीं की तरह ये भी मूर्ति-पूजा, कर्मकांड आदि के विरोधी थे और प्रेम, नाम, शब्द, सद्गुरु आदि की महिमा का गुण-गान करते थे। इन संतों के कारण राजस्थानी साहित्य की अच्छी उन्नति हुई और इस उन्नति में सबसे अधिक हाथ दादू पंथानुयायियों का रहा। कहना न होगा कि ये संत लोग न तो विशेष पढ़े-लिखे होते थे और न काव्य-निर्माण की ओर इनका विशेष ध्यान था। ये पहले भक्त, फिर उपदेशक और फिर कवि होते थे और जहाँ तक बन सकता अपने विश्वासों को सरल से सरल रूप में लोगों के समक्ष रखने का प्रयत्न करते थे। काव्य कला संबन्धी नियमों के निर्वाह एवं भाषा की प्रांजलता की अपेक्षा लोक-कल्याण की ओर इनका ध्यान विशेष रहता था। अतएव अपने धर्म-सिद्धांतो के प्रचार तथा प्रसार की भावना से प्रेरित होकर जो कुछ भी इन्होंने लिखा उसमें साहित्यिकता कम

और चोट अधिक है। निःसंदेह कुछ संत ऐसे भी हुए जिन्होंने भाव-प्रदर्शन के साथ साथ काव्य-चमत्कार और भाषा-लालित्य का भी पूरा ख्याल रखा, पर ऐसे संतों की संख्या बहुत अधिक नहीं है।

(अ) दादू पंथः—

दादू पंथ के जन्म दाता संत दादूदयाल थे। इस पंथ में मुख्यतः चार प्रकार के साधु पाए जाते हैं:—खाकी, विरक्त, थाँभाधारी और नागे। इनमें जो खाकी हैं वे शरीर पर भस्म लगाते और सिर पर जटा बढ़ाते हैं। विरक्त कोपीन बाँधते, कषाय वस्त्र पहिनते और हाथ में तूंबी रखते हैं। ये भजन-कीर्तन, ज्ञान-चर्चा आदि कर अपना समय बिताते हैं। नागे और थाँभाधारी सफेद वस्त्र पहिनते और खेती, नौकरी, वैद्यक आदि द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते हैं। नागे साधु बड़े वीर, साहसी और रण-कुशल होते हैं। जयपुर के सैन्य-विभाग में एक नागा जमात आज भी विद्यमान है। विवाह करने की सभी प्रकार के साधुओं को मनाई है। गृहस्थों के लड़कों को चेला बना कर ये अपना पंथ चलाते हैं। ये लोग न तो तिलक लगाते हैं, न चोटी रखते हैं और न गले में कंठी पहिनते हैं। ये प्रायः हाथ में सुमिरनी रखते हैं और जब मिलते हैं 'सत्तराम' कह कर एक दूसरे का अभिवादन करते हैं। दादू पथानुयायी निरंजन निराकार परब्रह्म की सत्ता को मानते हैं और मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं रखते। ये अपने अस्थलों में सिर्फ दादू जी तथा उनके प्रधान प्रधान शिष्यों की बाणियाँ रखते हैं और उन्हीं का अध्ययन-अध्यापन करते रहते हैं जयपुर से लगभग बीस कोस की दूरी पर नरायणा नाम का एक छोटा सा क़स्बा है। इसी के पास भेराणे की पहाड़ी हैं जहाँ पर दादू दयाल ने शरीर छोड़ा था। दादू पंथी इस स्थान को बहुत पवित्र मानते हैं और यही इनका मुख्य तीर्थ है। यहाँ पर दादू जी के उठने बैठने के स्थान, कपड़े और पोथियां हैं, जिनकी पूजा होती है। यहाँ पर प्रतिवर्ष फाल्गुन सुदी चौथ से द्वादशी तक एक भारी मेला लगता है और एक बहुत बड़ी संख्या में दादू पंथी लोग एकत्र होते हैं।

(१) **दादू दयाल**—दादू पंथियों के प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार दादू-दयाल का जन्म सं० १६०१ में हुआ था। इनकी जाति के संबंध में विद्वानों का एक मत नहीं है। कोई इन्हें ब्राह्मण, कोई मोची और कोई धुनिया बतलाते हैं। कहते हैं कि अहमदाबाद के किसी लोदीराम नामक एक नागर ब्राह्मण को ये साबरमती नदी में बहते हुए एक बन्द सन्दूक में मिले थे, जहाँ से उठा कर वह इन्हें अपने घर लाया और पुत्रवत् इनका पालन पोषण किया। संभव है, इसमें कुछ सत्यता हो। पर फिर भी दादू के असली माता-पिता, जाति आदि का विवरण तो तमाच्छन्न ही रहता है। इन के गुरू का नाम भी अज्ञात है। दादू के शिष्य जनगोपाल रचित 'दादू जन्म लीला परची' में लिखा है कि जब ये ग्यारह वर्ष के थे तब भगवान ने स्वयं सामने आकर इन्हें दर्शन और उपदेश दिया था। तभी से ये विरक्त हो गये और साधु-सेवा तथा सत्संग में अपना जीवन बिताने लगे। उन्नीस वर्ष की आयु में ये अपने घर से निकल पड़े और लोगों को उपदेश देते हुए अहमदाबाद से राजस्थान में चले आये, जहाँ साँभर, आमेर, कल्याणपुर, नरायणा आदि स्थानों में घूम घूम कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। दादू दयाल ने विवाह भी किया था और इनके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। सब से बड़े पुत्र का नाम गरीबदास था; जो बाद में इनकी गद्दी के उत्तराधिकारी हुए। दादू जी का स्वर्गवास सं० १६६० के आस पास नरायणा में हुआ।

दादू दयाल एक अनुभवी, विचारवान तथा चरित्र के दृढ़ महात्मा थे और साक्षर होने के सिवा कविता करना भी जानते थे। इनका 'वाणी' नामक ग्रंथ सर्व प्रसिद्ध है। कबीर और दादू समकालजीवी नहीं थे, पर कबीर के विचारों का दादू पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था, यह बात इनकी रचना से स्पष्ट झलकती है। फिर भी कबीर की अपेक्षा दादू के विचार अधिक उदार, भाषा अधिक संयत तथा कविता अधिक तथ्यमय है। भाषा इनकी पश्चिमी हिन्दी है, जिसमें राजस्थानी का पुट भी यत्र तत्र लगा हुआ है। दादू की कविता बहुत सरल, सरस तथा भावपूर्ण है और उसमें मानव हृदय की अमर लालसाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति है।

इनकी कविता के कुछ नमूने हम नीचे उद्धृत करते हैं—

घीव दूध में रमि रह्या, व्यापक सब ही ठौर ।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ैं ते और ॥१॥
दादू दीया है भला, दिया करो सब कोय ।
घर में धरा न पाइये, जो कर दिया न होय ॥२॥
कहि कहि मेरी जीभ रहि, सुणि सुणि तेरे कान ।
सतगुरु बपुरा क्या करै, जो चेला मूढ़ अजान ॥३॥
दादू देख दयाल को, सकल रहा भरपूर ।
रोम रोम में रमि रह्यो, तू जिनि जानै दूर ॥४॥

केते पारिख पचि मुये, कीमति कही न जाइ ।
दादू सब हैरान हैं, गूँगे का गुड़ खाइ ॥ ५ ॥
क्या मुँह ले हँसि बोलिये, दादू दीजै रोइ ।
जनम अमोलक आपणा, चले अकारथ खोइ ॥ ६ ॥
एक देश हम देखिया, जँह सत नहिं पलटै कोइ ।
हम दादू उस देश के, जहँ सदा एक रस होइ ॥७॥
सुरग नरक संशय नहीं, जिवण मरण भय नाहिं ।
राम बिमुख जे दिन गये, सो सालैं मन मांहि ॥८॥

कहताँ सुनताँ देखताँ, लेताँ देताँ प्रान ।
दादू सो कतहूँ गया, माटी धरी मसान ॥ ९ ॥
जिहि घर निन्दा साधु की, सो घर गये समूल ।
तिनकी नींव न पाइये, नाँव न ठाँव न धूल ॥ १० ॥

भाई रे ऐसा पंथ हमारा ।

द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अवरण एक अधारा ।
बाद विवाद काहु सौं नाहीं मैं हूँ जग थें न्यारा ॥
सम दृष्टी सूँ भाई सहज में आपहि आप बिचारा ।
मैं, तैं, मेरी, यह मति नाहीं निरबैरी निरबिकारा ।
काम कलपना कदे न कीजे पूरण ब्रह्म पियारा ।
एहि पथ पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहज सँभारा ॥

(२) रज्जबजी—ये जयपुर राज्यान्तर्गत साँगानेर में एक प्रतिष्ठित पठान के वंश में सं० १६२४ के आस पास पैदा हुए थे। इन के माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं है। इनका असली नाम रज़बअली खाँ था। प्रसिद्ध है कि बीस वर्ष की उम्र में जब ये विवाह करने के लिये सांगानेर से आमेर गये तब इनका दादू दयाल से साक्षातकार हुआ और विवाह करने का विचार छोड़ उनके शिष्य हो गये। इस समय से ये दादू जी के साथ रहने और कथा-कीर्तन, शास्त्राध्ययन, सत्सग आदि में अपना समय व्यतीत करने लगे। दादू जी के प्रति इन की अटूट श्रद्धा थी और वे भी इन का बड़ा आदर करते थे। कहते हैं कि दादू जी की मृत्यु से इन्हें ससार सूना प्रतीत होता था और जिस दिन से उन्होंने शरीर छोड़ा उसी दिन से रज्ज़ब जी ने भी अपनी आँखें बन्द कर लीं और आजन्म न खोलीं। इनका देहान्त सं० १७४६ में सांगानेर में हुआ।

रज्जब जी पढ़े लिखे बहुत न थे, पर बहुश्रुत थे और कवि तो ये माँ के पेट से पैदा हुए थे। इन्होंने 'वाणी' और 'सर्वंगी' नाम के दो बहुत बड़े ग्रथ बनाये, जिनसे इनकी काव्य प्रतिभा, ज्ञान गरिमा और गुरु-भक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। इनकी भाषा राजस्थानी तथा कविता शान्त रस से ओत प्रोत है और उसके मनन से पाठक को एक विचित्र रस एवं अपूर्व मस्ती का अनुभव होता है। भक्ति एवं प्रेम के उदगारों का रज्जब जी ने बहुत ही हृदयग्राही और नैसर्गिक ढंग से चित्रण किया है।

आगे हम रज्जब जी की कविता के कुछ नमूने उद्धृत करते हैं:—

दादू दरिया राम जल, सकल सन्तजन मीन।
सुख सागरमें सब सुखी, जन रज्जब लो लीन॥ १॥
सतगुरु चुम्बक रूप है, सिष्य सुई संसार।
अचल चलै उनके मिलैं, यामें फेर न सार॥ २॥

बिरही साबित बिरह में, बिरह बिना मर जाय।
ज्यूं चूने का कांकरा, रज्जब जल मिल जाय॥ ३॥
नांव निरंजन नीर है, सब सुकृत बनराय।
जन रज्जब फूलै फलै, सुमिरन सलिल सहाय॥ ४॥

रज्जब पारस परसतैं, मिटिगौ लोह विकार।
तीन बात तो रहि गई, बांक धार अरु मार ॥ ५ ॥

भली कहत मानत बुरी, यहै परकृति है नीच।
रज्जब कोठी गार की, ज्यूं धोवै ज्यूं कीच ॥ ६ ॥
सिर छेदे हू बीर को, बीरपनों नहीं जाय।
दीन हीनता नां तजै, पद बिशेष हू पाय ॥ ७ ॥
रज्जब कोल्हू काल कै, सब तन तिली समानि।
सो उबरै कहि कौन बिधि, जो आया बिच घानि ॥ ८ ॥

सन्तों मगन भया मन मेरा।
अहनिस सदा एक रस लागा, दिया दरीबै डेरा ॥ (टेक) ॥
कुल मर्याद मैंड सब भागी बैठा भाठी नेरा।
जाति पांति कछु समझै नांहीं किस कूँ करै परैरा ॥
रस की प्यास आस नहिं औरौं इहिं मत किया बसेरा।
ल्याव ल्याव याही लै लागी पीवैं फूल घनेरा ॥
सो रस मांग्या मिले न काहू सिर साटै बहुतेरा।
जन रज्जब तन मन दै लीया होय धणीं का चेरा ॥

(३) सुन्दरदास—ये बूसर गोती खंडेलवाल महाजन थे और जयपुर राज्यान्तर्गत द्यौसा नगरी में, जो जयपुर शहर से पूर्व दिशा में १६ कोस पर है, सं० १६५३ में पैदा हुए थे। इन के पिता का नाम चोखा उपनाम परमानंद और माता का सती था। ये दोनों बड़े धर्मात्मा, भगवद्भक्त और साधु-महात्माओं का सत्कार करने वाले व्यक्ति थे। कहते हैं कि टहटड़ा गाँव की ओर से घूमते हुए एक दिन दादू दयाल जब द्यौसा में आये और सुन्दर दास के माता-पिता इन्हें लेकर उनके निवास स्थान पर गये। तब दादू जी इनकी मुखाकृति से बहुत प्रभावित हुए और होनहार समझकर इन्हें अपना चेला बना लिया। इस समय सुन्दरदास की अवस्था ६ वर्ष की थी। उसी दिन से इन्होंने अपना जन्म स्थान तथा परिवार छोड़ दिया और जगजीवन नामक दादू जी के एक शिष्य की देख-रेख में गुरु के साथ रहने लगे। अपने गुरु संप्रदाय ग्रन्थ में सुन्दर दास ने इस घटना का उल्लेख किया है:—

प्रथमहि कहौं आपुनी बाता, मोहि मिलायो प्रेरि विधाता।
दादू जी जब द्यौसह आये, बालपने हम दर्शन पाये॥
तिन के चरननि नायौ माथा, उनि दीयौ मेरे सिर हाथा।
स्वामी दादू गुरु है मेरो, सुन्दर दास शिष्य तिन केरो॥

दादू जी के स्वर्गवास (सं० १६६०) के समय तक ये नराणे में रहे। तदन्तर अपने माता-पिता के पास द्यौसा में चले आये और कुछ दिन वहाँ रह कर शिक्षा प्राप्त करने के लिये काशी चले गये। लगभग तीस वर्ष की आयु तक काशी में रहकर इन्होंने व्याकरण, साहित्य, वेदान्त, योग और षटदर्शन के ग्रंथों का मनन किया तथा भाषा काव्य के छंद, रस, अलंकारादि विविध अंगों के विषय में भी बहुत से ग्रन्थ पढ़े। वहाँ से लौटकर ये अपने गुरु भाई प्रयाग दास के साथ फतहपुर में रहने लगे।

सुन्दर दास बालब्रह्मचारी, बड़े स्वरूपवान, विनोदप्रिय तथा मधुर भाषी थे। उनकी प्रकृति अत्यन्त सरल और उन्मुक्त हँसी बालकों की तरह भोली थी। उच्च कोटि के दार्शनिक होते हुए भी दार्शनिकों का सा रूखापन इनके स्वभाव में न था। सरल, निरभिमान तथा आडम्बर-शून्य स्वभाव के साथ ही साथ स्वामी जी के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा आकर्षण था कि जिससे प्रत्येक मिलने वाला प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। उनकी मन मोहक मुख श्री और सौम्य मूर्ति के दर्शन मात्र से एक प्रकार की पवित्रता एवं शान्ति का अनुभव होता था। स्वामी जी सत्साहित्य के उद्भावक, पोषक तथा उन्नायक थे, और कहा करते थे कि शृङ्गार रसात्मक कविता, कला की दृष्टि से चाहे वह कितनी ही उच्चकोटि की क्यों न हो, लोकहित साधन के विचार से तो विष ही है। केशव कृत रसिकप्रिया हिन्दी साहित्य में रसों पर एक अद्भुत, अपूर्व एवं अनूठा ग्रंथ समझा जाता है पर, जैसा कि निम्नाङ्कित कविता से भासित होता है, सुन्दर दास की दृष्टि में उसका कुछ भी मूल्य न था:—

रसिक प्रिया, रस मञ्जरी, और सिंगारहि जानि।
चतुराई करि बहुत बिधि, विषै बनाई आनि॥

विषै बनाई आनि, लगत विषयिन को प्यारी ।
जागै मदन प्रचंड, सराहैं नख सिख नारी ॥
ज्यों रोगी मिष्टान्न, खाइ रोगहिं विस्तारै ।
सुन्दर यह गति होइ, जुतौ रसिक प्रिया धारै ॥

स्वामी जी को देशाटन से बड़ा प्रेम था। बिना किसी ख़ास कारण के एक स्थान पर ये विशेष न रहते थे। प्रायः समस्त उत्तरी भारत, गुजरात, मध्यप्रदेश, मालवा आदि का इन्होंने कईबार पर्यटन किया था, और दादूपंथियों के स्थानों को देखे थे। इससे इनके ज्ञान-भंडार की अच्छी अभिवृद्धि हुई और अन्य भाषा भाषियों के सम्पर्क में आने से अरबी, फ़ारसी पूर्बी, पंजाबी, गुजराती आदि भाषाओं का भी इन्हें अच्छा ज्ञान हो गया। इनका नियम था कि जिस स्थान पर जाते वहाँ के साधु-महात्माओं से अवश्य मिलते थे। उनके सत्संग से लाभ उठाते और अपने सदुपदेशों से उन्हें लाभान्वित करते थे। अपनी गुणग्राहिता के कारण दादू पथियों के सिवा इतर धर्मावलम्बी भी इन्हें बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते और इनकी ज्ञान-गरिमा, उच्चकोटि की साधुता तथा रचना-पाटव की बड़ी सराहना करते थे।

सुन्दरदास कभी फतहपुर में, कभी मोराँ में कभी कुरसाने में और कभी आमेर में रहे, पर अंत समय में ये सांगानेर में थे, जहाँ वि० सं० १७४६ में इनका बैकुंठ वास हुआ।

सुन्दरदास के कई शिष्य थे, जिनमें दयालदास, श्यामदास, दामोदर दास, निर्मलदास और नारायणदास मुख्य थे। इन पांचों के थांभों को बड़े थाँभे कहते हैं। इनमें भी फतहपुर का थाँभा प्रधान गिना जाता है और इसीलिये ये सुन्दर दास फतहपुरिया भी कहलाते हैं। इनके हाथ की लिखी हुई पुस्तकें, इनके पलंग, चादर, टोपा आदि भी फतहपुर में इनके थाँभाधारियों के पास सुरक्षित हैं। सांगानेर में जिस स्थान पर स्वामी जी का अग्नि-संस्कार हुआ था, वहाँ पर उनके शिष्यों ने एक छोटा सा चबूतरा तैयार कर उस पर एक छोटी सी गुमटी बना दी थी; जो सं० १९६५ तक ठीक दशा में थी पर बाद में न मालूम किसी ने उसे विनष्ट कर डाला और

स्वामी जी के चरण-चिन्हों को भी उखाड़ कर फेंक दिये। इस छतरी में यह चौपाई खुदी हुई थी:—

संवत सत्रासै छीयाला, कातिक सुदी अष्टमी उजाला।
तीजे पहर भरसपतिवार, सुन्दर मिलिया सुन्दर सार ॥

इनके रचे ग्रन्थों के नाम निम्न हैं:—

ज्ञान समुद्र, सर्वाङ्गयोग, पंचेन्द्रिय चरित्र, सुख समाधि, स्वप्न प्रबोध वेद विचार, उक्त अनूप, अद्भुत उपदेश, पंच प्रभाव, गुरु संप्रदाय, गुन उताति, सद्गुरु महिमा, बावनी, गुरुदया षटपदी, भ्रमविध्वंशाष्टक, गुरु-कृपा अष्टक, गुरु उपदेश अष्टक, गुरु महिमा अष्टक, राम जी अष्टक, नाम अष्टक, आतमा अचल अष्टक, पजाबी भाषा अष्टक, ब्रह्मस्तोत्र अष्टक, पीर मुरीद अष्टक, अजब ख्याल अष्टक, ज्ञान झूलना अष्टक, सहजा नन्द ग्रंथ, गृहवैराग्य बोध ग्रंथ, हरि बोल चितावनी, तर्क चितावनी, विवेक चितावनी, पवंगम छन्द ग्रंथ, अडिल्ला छन्द ग्रंथ, मडिल्ला छन्द ग्रंथ, बारह मासो, आयुर्बल भेद आत्मा विचार, त्रिविध अन्तःकरण भेद ग्रंथ, पूर्वी भाषा बरवै ग्रंथ, सवैया (सुन्दर विलास), साखी ग्रंथ, फुटकर पद, गीत, कवित्त इत्यादि।*

हिन्दी साहित्य के निर्गुणोपासक भक्त कवियों में सुन्दरदास का एक विशेस स्थान है। शान्त रस और वेदान्त संबंधी कविता के रचयिताओं में ये सर्वश्रेष्ठ हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। इनकी कविता के प्रधान विषय हैं—भक्ति, ज्ञान, वेदान्त-चर्चा, देशाचार, ईश्वरमहिमा, संसार की नश्वरता, अद्वैतवाद, गुरु महिमा इत्यादि। इनकी सभी कविताएँ अत्यन्त मार्मिक, प्रौढ़ एवं विचार गाम्भीर्य से पूर्ण हैं। भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रज-भाषा और वर्णन-शैली सरस, स्पष्ट तथा साहित्यिक है। कबीर, नानक दादू आदि संत कवियों में एक सुन्दर दास ही ऐसे हुए हैं जो दिग्गज विद्वान एवं साहित्य-मर्मज्ञ थे और पद-रचना के अतिरिक्त कवित्त-सवैया लिखने के भी उत्कृष्ट अभ्यासी थे। अतः रीति कालीनकवियों की अभिव्यंजना पद्धति पर रची हुई इनकी कविताओं का जितना औपदेशिक मूल्य है उतना ही साहित्यिक

* राजस्थान; वर्ष २, अंक २, पृ० ५६।

भी। और यही कारण है कि उन्हें पढ़ कर ज्ञान-पिपासु भक्त जन ही परितृप्त नहीं होते, बल्कि बड़े बड़े काव्य-कला-कौशल प्रेमी साहित्यज्ञ भी उनका आस्वादन कर अलौकिक आनन्द का अनुभव करते और झूमने लगते हैं।

यहाँ हम सुन्दर दास की कुछ चुनी हुई कविताएँ उद्धृत करते हैं:—

आपने न दोष देखै पर के औगुन पेखै,
दुष्ट को सुभाव उठि निंदाई करतु है।
जैसे काहू महल सँवार राख्यौ नीकै करि,
कीरी तहाँ जाइ छिद्र ढूँढ़त फिरतु है॥
भोर ही तें साँझ लग साँझ ही तें भोर लग,
सुन्दर कहतु दिन ऐसे ही भरतु है।
पाँव के तरोस की न सूझै आगि मूरख कौं,
और सों कहतु सिर ऊपर बरतु है॥

कामिनी को तन मानों कहिये सघन बन,
उहाँ कोउ जाइ सु तो भूलि कैं परतु है।
कुञ्जर है गति कटि केहरी को भय जामैं,
बेनी काली नागनीऊ फन कौं धरतु है॥
कुच हैं पहार जहाँ काम चौर रहै तहाँ,
साधि के कटाक्ष-बान प्रान कौं हरतु है।
सुन्दर कहत एक और डर अति तामैं,
राक्षस बदन खाउं खाउं ही करतु है॥

घात अनेक रहे उर अंतर दुष्ट कहै मुख सौं अति मीठी।
लोटत पोटत व्याघ्रहि ज्यौं नित ताकत है पुनि ताहि की पीठी॥
ऊपर तें घिरकै जल आनि सु हेठ लगावत जारि अँगीठी।
या महिं कूर कछू मति जानहु सुन्दर आपुनि आँखिनि दीठी॥

तूं ठगि कैं धन और को ल्यावत तेरेउ तौ घर औरइ फोरै।
आगि लगै सब ही जरि जाय सु तू दमरी दमरी करि जोरै॥
हाकिम को डर नाहिंन सूझत सुन्दर एकहि बार निचौरै।
तू खरचै नहिं आपुन खाइसु तेरिहि चातुरि तोहि ले बोरै॥

मन कौन सौं लगि भूल्यौ रे।
इन्द्रिनि के सुख देखत नीके जैसे सैंवरि फूल्यौ रे॥ टेक॥
दीपक जोति पतंग निहारै जरि बरि गयौ समूल्यौ रे॥ १॥
झूठी माया है कछु नाहीं मृगतृष्णा मैं भूल्यौ रे॥ २॥
जित तित फिरै भटकतौ यौंही जैसैं वायु घूल्यौ रे॥ ३॥
सुन्दर कहत समुझि नहिं कोई भवसागर मैं डुल्यौ रे॥ ४॥

(४) गरीब दास—ये दादूदयाल के ज्येष्ठ पुत्र थे और उनके बाद उनकी गद्दी के उत्तराधिकारी हुए थे। इनका जन्म सं० १६३२ में हुआ था। ये बहुत अच्छे पंडित और गान-विद्या में निपुण थे। इनके रचे 'साखी' 'पद' 'अनभै प्रबोध,' अध्यात्म बोध' आदि ग्रंथ मिलते हैं।

इनका एक पद यहाँ उद्धृत करते हैं:—

नाद ब्यंद ले उरधै धरै। सहज जोग हठ निग्रह नांही।
पवन फेरि घट मांहै भरै॥ टेक॥
त्रिकुटी ध्यान संधि नहि चूकै। भंवर गुफा क्यूं भूलै॥
द्वैसर सांधि अनूप अराधै। सुख सागर में झूलै॥ १॥
इंगला प्यंगुला सुषमन नारी। तिरबेणी संग ल्यावै॥
नौसे नवासी फेरि अपूठा। दसवें द्वार समावै॥ २॥
अरधै उरधै तालो लखे। चंद सूर सम कीन्हां।
अष्ट कंवल दल मां है बिगसे। ज्योति सरूपी चीन्हां॥३॥
रोम रोम धुनि उठी सहज में। परचै प्राण सुधीवै॥
गरीबदास गुरमुषि ह्वै बूझी। जो जाणैं सो जीवै॥

(५) जनगोपाल—ये फतहपुर सीकरी के रहने वाले जाति के वैश्य थे। अपने जन्म स्थान सीकरी में ही इन्होंने दादू दयाल से गुरू मंत्र लिया था। दादू पंथियों में इनके पद और छन्द बहुत प्रचलित हैं। इनके ग्रन्थ ये हैं—(१) दादू जन्म लीला परची (२) ध्रुव चरित्र (३) प्रहलाद चरित्र (४) भरत चरित्र (५) मोह विवेक (६) चौबीस गुरूओं की लीला (७) शुक सवाद (८) अनन्त लीला (९) बारह मासिया (१०) भेट के सवैये-कवित्त (११) जखड़ी-काया प्राण संवाद (१२) साखो, पद

इत्यादि। इनकी कविता का थोड़ा सा अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं:—

तोसी नैं स्वामी ह्वै आये। द्वारै सेवग तिन सुष पाये।
अरु जब बीते समये दोई। ढुंढाहर की बिनती होई॥
स्वामी गये सबनि सुष पाये। रमते नग्र नराणैं आये।
बषनौं होरी गावत देष्यौ। गुरु दादू अपनौं करि पेष्यौ॥
कृपा करी तब ऐसी स्वामी। बचन बोलिया अंतरजामी।
ऐसी देह रची रे भाई। राम निरंजन गावौ आई॥
ऐसा बचन सुन्या है जबही। बषनौं दृष्या लीन्ही तबहीं॥

(६) राघवदास—ये जाति के क्षत्रिय थे। इनके गुरु का नाम प्रह्लाद दास था। इन्होंने भक्त माल नामक एक ग्रंथ लिखा जो सं० १७७० में समाप्त हुआ था। इस में दादू पन्थ के प्रधान प्रधान महन्तों के जीवन चरित्र वर्णित हैं। इसकी भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है और कविता सरल तथा सारगर्भित है। दादू पंथी बहुत से सन्तों का जीवन-इतिहास हमें इस भक्तमाल के द्वारा विदित होता है और इस विचार से यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है। एक उदाहरण देखिये:—

द्वीत भाव करि दूर एक अद्वीतहि गायौ।
जगत भगत पट दरस अब नि कै चाँणिक लायौ॥
अपणों मत मजबूत थप्यौ अरु गुरू पत्त भारी।
आंन धर्म करि खंड अजा बट मैं निरवारी॥
भक्ति ज्ञान हठि सांखिलैं सर्व सास्त्र पारहि गयौ।
संकराचारज दूसरौ दादू कै सुन्दर भयौ॥

(७) बाजीद जी—ये एक पठान के कुल में पैदा हुए थे। मिश्र बन्धुओं ने इनका जन्म संवत् १७०८ दिया है, जो संदिग्ध है। राघव दास कृत भक्त माल में लिखा है कि एक बार हरिणी का शिकार करते समय इनके मन में दया का प्रादुर्भाव हुआ, जिससे हिंसात्मक कार्यों को छोड़कर ये सत्संग में लग गये। इन्होंने दादू पंथ को स्वीकार कर लिया और रात-दिन ईश्वर भजन में व्यतीत करने लगे। इनके रचे ग्रन्थों के नाम ये हैं:—

(१) अरिलैं (२) गुण कढियारा नामा (३) गुण उत्पत्ति नामा

(४) गुण श्री मुख नामा (५) गुण घरिया नामा (६) गुण हरिजन नामा (७) गुण नांव माला (८) गुण गञ्ज नामा (६) गुण निरमोही नामा (१०) गुण प्रेम कहानी (११) गुण विरह का आग (१२) गुण नीसानी (१३) गुण छंद (१४) गुण हित उपदेश ग्रन्थ (१५) पद. (१६) राज कीर्तन । इनकी कविता का एक उदाहरण देखिये:—

डार छाँडि गहि मूल मानि सिख मोर रे।
बिनां रामं के नाम भलो नहिं तोर रे॥
जो हम कूं न पत्याय बूझि किहिं गाँव में।
परि हाँ बाजीदा जप तप तीरथ बरत सबै एक नाम में॥

मंगल राम—ये जयपुर राज्य की उदयपुर तहसील के जाखल नामक गाँव के पास ढ़ाणी में रहते थे। इनका रचना-काल सं० १६०० के आस पास अनुमान किया जाता है। ये जाति के चारण थे, पर दादूपन्थ को स्वीकार कर लिया था। कवि होने के सिवा ये वीर और साहसी भी पूरे थे। इन्होंने लगभग १०० ग्रंथ बनाये जिनमें सुन्दरोदय इनकी सर्वोच्च रचना है। इसमें नागा जमात का वर्णन है।

इनका एक छप्पय देखिये:—

जै जै जै जग तार, निरंजन निज निरकारा।
सदा झिलमिले जोति, पुंजि कहुं वार न पारा॥
नूर तेज भरपूर, सूर सावंत हजूरा।
गुण विकार करि छार, लह्यौ निज आतम मूरा॥
सुद्धि सरूप अनूप पद, संत सभा निहचल मुदा।
मंगल जग निस्तार कूं, प्रगट रहै पलक न जुदा॥

(आ) रामस्नेही पंथ :—

राजस्थान में रामस्नेहियों के मुख्य केन्द्र तीन हैं:—शाहपुरा, खेड़ापा और रैण। शाहपुरे का रामस्नेही पन्थ राम चरण जी से चला है। इनके अनुयायी निर्गुण परमेश्वर को राम के नाम से मानते हैं और उसी का ध्यान करते हैं। ये मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं रखते। रामस्नेही साधु रामद्वारों में रहते हैं और भिक्षा माँग कर अपनी उदर पूर्ति करते हैं। ये कपड़े नहीं

पहिनते, सिर्फ लंगोट बाँधे रहते हैं और ऊपर से चादर ओढ़ लेते हैं। पहिले कोई कोई साधु नंगे भी रहते थे, जो परमहंस कहलाते थे। ये प्रायः तूम्बी, लंगोट, चादर, माला और पोथी के सिवा कोई दूसरी वस्तु अपने पास नहीं रखते और न किसी से रुपया-पैसा लेते हैं। ये विवाह नहीं करते। किसी उच्च वर्ण के लड़के को देख कर उसे अपना चेला मूँड़ लेते हैं और जो चेला सब से पहले मूँड़ा जाता है उसी का गुरू की गद्दी पर अधिकार होता है। बड़े चेले को छोटे चेले नमस्कार करते और गुरूवत समझते हैं। ये साधु राम द्वारों में रहते हैं जहाँ कथा बाँचते तथा भजन गाते हैं। यों तो सभी जातियों के लोग इन्हें पूज्य दृष्टि से देखते हैं, पर अग्रवालों तथा महेश्वरियों की भक्ति इनके प्रति विशेष है। ये रामस्नेही साधु शाहपुरा को अपना गुरूद्वारा समझते हैं जहाँ प्रत्येक वर्ष फालगुन सुदी १ से चैत्र वदि ६ तक मेला भरता है।

खैड़ापे का रामस्नेही पन्थ हरिराम दास जी से निकला है। हरिराम दास जी का जन्म स्थान सिंहथल (बीकानेर) था और इन्होंने वि० सं० १८०० में बीकानेर राज्यान्तर्गत दुलचाकर नामक गाँव में जैमल दास नाम के एक रामानंदी वैष्णव साधु से दीक्षा ली थी। इनके एक शिष्य राम दास जी हुए। इन्होंने खैड़ापे में अपनी गद्दी स्थापित की। अतएव खैड़ापे के रामस्नेही रामदास जी को अपना आदि गुरु, हरिराम दास जी को आदि प्रवर्तक और जयमल दास जी को आदि आचार्य मानते हैं। इनके अनुयायियों की संख्या बीकानेर, मारवाड़, गुजरात और मालवे में अधिक है। राम दास जी स्वयं गृहस्थ थे और अपने चेलों को भी उन्होंने गृहस्थ धर्म के पालन का आदेश दिया था। अपने शिष्यों के लिये किसी प्रकार का स्वरूप और बाना भी उन्होंने नियत नहीं किया। पर बाद में इनके बेटे दयाल दास और पोते पूर्णदास ने रामस्नेहियों के विरक्त, विदेही, परमहंस, प्रवृति और घरबारी ये पाँच भेद कर दिये जो आज तक चले आते हैं। शाहपुरे के रामस्नेहियो की भाँति ये भी मूर्ति पूजा नहीं करते। राम द्वारों में अपने गुरू का चित्र अवश्य रखते हैं। पर यह प्रथा भी हरिराम दास जी से बहुत पीछे से चली है। ये साधु भंग, तम्बाखू, गाँजा, मदिरा आदि किसी प्रकार का नशा नहीं करते और भक्ष्याभक्ष्य का पूरा ध्यान रखते हैं। ये रात्रि

में भोजन नहीं करते और पानी को कई बार छान कर पीते हैं। खेड़ापे का गुरुद्वारा सिंहथल है। इन दोनों स्थानों पर होली के दूसरे दिन भारी मेला लगता है और साधु लोग भजन कीर्तन तथा 'पंच वाणी' की कथा करते हैं।*

रैण (मेड़ता) के रामस्नेही दरियाव जी को अपना आदि गुरु मानते हैं। इनकी रहन-सहन तथा उपासना-पद्धति शाहपुरे तथा खेड़ापे के रामस्नेहियों से मिलती है। इनका गुरुद्वारा रैण है जहाँ दरियाराव जी का एक चित्र रखा हुआ है। वर्ष में एक भारी मेला यहाँ भी होता है और इनके अनुयायी एक बहुत बड़ी संख्या में एकत्र होते हैं।

(१) **रामचरण जी**—ये जयपुर राज्य के सोड़ा नामक गाँव के रहने वाले बीजावरगी बनिये थे। इनका जन्म वि० सं० १७७६ में माघ शुक्ला चतुर्दशी, शनिवार को हुआ था। इनके गुरु का नाम कृपाराम था, जिनसे वि० सं० १८०८ में इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। वि० स० १८२६ में घूमते घूमते ये भीलवाड़े (मेवाड़) में आये और वहाँ से शाहपुरे गये जहाँ के राजाधिराज रणसिंह जी ने इनका अच्छा स्वागत किया और इनकी गद्दी स्थापित करवाई। इनका देहावसान वि० सं० १८५५ में शाहपुरे में हुआ। इनके २२५ शिष्य थे, जिनमें से रामजन जी इनकी गद्दी के उत्तराधिकारी हुए।

रामचरण जी की वाणी प्रकाशित हो चुकी है। इसमें ८००० के लगभग छन्द हैं। इनकी कविता है तो तथ्यपूर्ण पर उसमें छन्दो भंग बहुत है। इनकी कविता के दो उदाहरण हम नीचे उद्धृत करते हैं :—

रामहि राम अखंडित ध्यावत राम बिना सब लागत खारो।
रामहि राम लियां मुख बोलत राम हि ज्ञान रू राम बिचारो॥
रामहि राम करै उपदेशहि राम हि जोग रू जिग्य पसारो।
राम चरण्ण इसे कोइ साधु है सो ही सिरोमणी प्राण हमारो॥

क्षुधा पिपासा उदर सँग, शीत उष्ण तन साथ।

*कबीर, दादू, हरिदास, रामदास और दयालदास की वाणियों की कथा पंच वाणी की कथा कहलाती है।

सो किसकै सारै नहीं, ये कर्ता के हाथ ॥
ये कर्ता के हाथ और मति व्याधि लगावै।
कैफ स्वाद शृङ्गार अजक हैरान करावै ॥
राम चरण भज राम कूँ पाँचो परबल नाथ।
क्षुधा पिपासा उदर सँग शीत उष्ण तन साथ ॥

(२) हरिराम दास जी—ये बीकानेर राज्यन्तर्गत सिंहथल नामक ग्राम के एक ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे। इन के पिता का नाम भाग्यचन्द था। ये बड़े कुशाग्रबुद्धि तथा मेधावी थे और बहुत थोड़ी आयु में वेदान्त, ज्योतिष आदि में पारंगत हो गये थे। इन्होंने सं० १८०० में दुलचासर ग्राम, जो सिंहथल से सात कोस है, में जाकर जैमल दास जी से दीक्षा ग्रहण की थी। इनके योग-चमत्कार की कई कथाएँ प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि इन्होंने स्वरूपसिंह नामक निर्धन व्यक्ति को धनवान बना दिया था। इनका स्वर्गवास स० १८३५ में हुआ था। इनके सैकड़ो शिष्य-प्रशिष्य हुए जिनमें बिहारीदास जी मुख्य थे, यही इनके बाद इनकी गद्दी के अधिकारी हुए। इन्होने बहुत सी फुटकर साखियाँ और पद बनाए तथा छोटे छोटे ग्रंथ लिखे, जिनमें निसाणी इनकी सब से प्रौढ़ रचना है। इसमें हठयोग, समाधि, प्राणायाम आदि की प्रक्रियाओं का वर्णन हैं। इनकी भाषा राजस्थानी और विचार उच्च है :—

एक उदाहरण—

रे नर सतगुरु सौदा कीजै।
इन सौदा में नफा बहुत है एक मना होय लीजै ॥ टेर ॥
मात पिता सुत भ्रात सनेही चौरासी लख हीजै ॥ १ ॥
जो कोई चाहै राम भक्ति कूँ गुरू की शरण गहीजै ॥२॥
गुरू बिनु भरम न भाजै भव का कर्म न काल कटीजै ॥३॥
गुरू गोविद बिनु मुक्ति न जिव की कहियो वेद सुनीजै ॥४॥
जन हरिराम और सब कूकस राम शब्द सत बीजै ॥५॥

(३) रामदास जी—इनका जन्म सं० १७८३ में जोधपुर राज्य के बींकोकोर नामक ग्राम में हुआ था। ये जाति के मेघवाल थे। इनके पिता का नाम शार्दूल जी था। बाल्यावस्था में इन्होंने थोड़ा सा विद्याभ्यास किया

और बाद में विरक्त होकर किसी योग्य गुरू की खोज में इधर उधर घूमने लगे। इन्होंने बारी बारी से १२ गुरू किये पर किसी से भी संतोष न हुआ। अंत में एक दिन एक सद्‌गृहस्थ के मुँह से हरिराम दास जी की वाणी सुन कर ये बहुत प्रभावित हुए और सिंहथल में जाकर उन से भेंट की। सुयोग्य पात्र समझ कर उक्त स्वामी जी ने इन्हें राम मंत्र का प्रभाव तथा रामस्नेही पथ के नियम बतलाये। इस पर सं० १८०९ में इन्होंने रामस्नेही पंथ को अंगीकार कर लिया और हरिराम दास जी के पास रह कर राम नाम का जप करने लगे। स० १८२१ तक ये सिंहथल में रहे पर बाद में जोधपुर की ओर चले गये और वहाँ खैड़ापे में अपनी गद्दी स्थापित की। यहाँ इनके सैकड़ो शिष्य हुए, जिन्होने आगे चल कर रामस्नेही पंथ के प्रचारार्थ बहुत काम किया। इनका गोलोकवास सं० १८५५ में ७२ वर्ष की आयु में खैड़ापे में हुआ।

रामदास जी ने गुरू महिमा, भक्तमाल, चेतावनी, जम फारगती, आदि ग्रंथ तथा अंगबद्ध अनुभव वाणी की रचना की, जिसके दास, उदास, संभव और खुदवह ये चार भेद हैं।

इनकी कविता का नमूना देखिये :—

निरधन झूरै धन बिना, फल बिन नागर बेल।
रामा झूरै राम बिन, विरही सालै सेल॥
कुंजर झूरै बन्न कूं, सूवा अंबा काज।
बिरहिन झूरै पीव कूं, कबै मिलो महराज॥

(४) दयालदास जी—ये रामदास जी के पुत्र थे और उनके बाद खैड़ापे की गद्दी के अधिकारी हुए थे। इनका जन्म सं० १८१६ में और स्वर्गारोहण सं० १८८५ में हुआ था। ये बड़े अनुभवी और सच्चरित्र महात्मा थे। इनके शिष्य पूरणदास ने अपनी बनाई हुई जन्म लीला में इनकी बहुत प्रशसा की है। कविता भी ये बहुत अच्छी करते थे। इनका बनाया हुआ करुणा सागर ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। इसके सिवा इनके रचे फुटकर पद भी बहुत से मिले हैं।

इनकी कविता देखिये :—

रामइया शरणं की प्रतिपाल।
अब लगि करी सोई अब कीजै अपने घर की चाल॥
जो सूरज परकासै नाहीं रात न कंज विसाल॥
ससि नहि अमी द्रवै जो माधव तो निपजै केम रसाल
विरह कुमोदिनि जीवन सोई सब लालों सिर लाल।
थाल बाल कै समरथ स्वामी रामदास किरपाल॥

(५) **दरियावजी**—ये मारवाड़ राज्य के जेतारण परगने के मुख्य नगर जेतारण के रहने वाले थे और सं १७३३ में पैदा हुए थे। कुछ लोगों ने इन्हे ज ति का मुसलमान (धुनिया) मान रखा है, जो एक निराधार बात है। क्यो कि न तो दरियावजी ने कहीं अपना वंश परिचय दिया है और न इनके सम-कालीन शिष्यों में से किसी ने इनका मुसलमान कुलोत्पन्न होना लिखा है। दरियावाजी के अनुयायियों में से आज भी कोई यह नही कहता कि वे मुसल-मान थे। अपने आचार्य की जाति का ठीक ठीक पता बतलाने में दरियाव पंथी अब असमर्थ हैं। पर दरियावजी मुसलमान नहीं थे, यह कहने में सभी का मत एक है। हमारे ख़याल से दरियावजी को मुसलमान लिखने की सब से पहले ग़लती मारवाड़ राज्य की सेन्सस रिपोर्ट (सन् १८९० ई०) तैयार करने वालों ने की और उसी को सच मान कर लोगों ने इन्हें मुसलमान लिखना शुरू कर दिया है। इसके सिवा कुछ लोगों ने यह भी लिखा है कि दरियावजी की रुई पींजनी की हाथली रैण में रखी हुई है, जिसके दर्शन करने के लिये साल में एक बार इनके अनुयायी बहुत बड़ी संख्या में वहां एकत्र होते हैं। यह भी ग़लत है। रैण में कोई हाथली नहीं रखी हुई हैं। वहाँ दरियावजी का एक चित्र रखा हुआ है और इसी के दर्शनार्थ चैत्र सुदी पूर्णिमा को लोग वहाँ एकत्र होते हैं।

दरियावजी के पिता का नाम मानजी और माता का गीगाँ बाई था—

पिता मानजी जान गीगाँ महतारी।
त्रिविध मेटण ताप आप लियो अवतारी॥

इनका जन्म नाम दरियावजी था। पर साधु होने के बाद से लोग इन्हे दरियासा जी कहने लग गये, जिसका आज कल दरिया साहब हो गया है।

दरियावजी के गुरू का नाम पेमदास था जिनसे इन्होंने सं० १७६९ में दीक्षा ली थी। गुरू मंत्र ग्रहण करने के कुछ वर्ष पश्चात् दरियावजी जेतारण से रैण नामक गाँव में चले गये और वहाँ पर अपनी गद्दी स्थापित की जो अभी तक विद्यमान है। मारवाड़ के सिवा राजस्थान की दूसरी रियासतों में भी दरियावजी के रामस्नेहियों की संख्या काफी है। इनका स्वर्गवास सं० १८०५ में हुआ था।

दरियावजी को हिन्दी, संस्कृत, फारसी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था और काव्य-रचना में भी निपुण थे। कहते हैं कि इन्होने 'वाणी' नमक एक बहुर बड़ा ग्रंथ लिखा था, जिसमें १०००० के लगभग पद, दोहा आदि थे। पर आज-कल तो इनकी बहुत कम कविताएँ मिलती हैं। रामस्नेहियों में यही एक ऐसे कवि हुए हैं जिनकी भाषा सुव्यवस्थित और रचना कवित्वपूर्ण कही जा सकती है। इनकी कविता के नमूने देखिये:—

गुरू आये घन गरज करि, सबद किया परकास।
बीज पड़ा था भूमि में, भई फूल फल आस॥
जो काया कंचन भई, रतनों जड़िया चाम।
दरिया कहै किस काम का, जो मुख नाहीं नाम॥
बिरहिन पिउ के कारने, ढूँढन बन खँड जाय।
निसि बीती पिउ ना मिला, दरद रहा लिपटाय॥
दरिया बगुला ऊजला, उज्जल ही है हंस।
ये सरवर मोती चुगें, वा के मुख में मंस॥
सीखत ज्ञानी ज्ञान गम, करै ब्रह्म की बात।
दरिया बाहर चाँदना, भीतर काली रात॥
कंचन कंचन ही सदा, काँच कांच सो काँच।
दरिया झूठ सो झूठ है, साँच साँच सो साँच॥
साध पुरुष देखी कहै, सुनी कहैं नहिं कोय।
कानों सुनी सो झूठ सब, देखी साँची होय॥

(इ) चरण दासी पंथ

यह पंथ चरणदास जी से निकला है और कबीर पंथ से बहुत मिलता जुलता है। इस पंथ के अनुयायियों में शब्द मार्ग बहुत प्रचलित है और

गुरू चरणों का आश्रय लेना ही सर्वोच्च साधन मानते हैं। चरणदास ने मूर्ति-पूजा का खंडन और निराकारोपासना का समर्थन किया था। पर आज कल उनके अनुयायी मूर्ति पूजा भी करने लग गये हैं। चरणदासी साधु पीले वस्त्र पहिनते हैं, और ललाट पर गोपी चंदन का पतला तिलक लगाते हैं। ये सिर पर पीले रंग की पगड़ी बाधते हैं, जिसके नीचे भी पीले रंग की एक नोक दार टोपी होती है।

(१) **चरणदास**—इनका जन्म मेवात प्रदेश के डहरा नामक ग्राम में वि० स० १७६० के लगभग हुआ था। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण और कुछ दूसर बनिया बतलाते हैं। इनके पिता का नाम मुरलीधर और माता का कुंजों था। जब ये सात वर्ष के थे तब इनके पिता घर छोड़ कर कहीं चले गये जिससे अपनी माता के साथ ये भी अपने नाना के घर दिल्ली में जाकर रहने लगे। कहते हैं कि वहीं १६ वर्ष की आयु में शुकदेव मुनि ने इन्हें शब्दमार्ग का उपदेश दिया। बारह वर्ष तक गुरूपदिष्ट मार्ग से साधन अभ्यास कर बाद में चरणदास ने लोगों को उपदेश देना प्रारंभ किया। इन्होंने चरणदासी पंथ चलाया और अपने पीछे ५२ शिष्य छोड़ कर वि० सं० १८३८ में परलोक सिधारे, जिनकी गद्दियाँ आज भी विभिन्न स्थानों में चल रही हैं। चरणदास जी ने १४ ग्रथों की रचना की। इनके नाम ये हैं :—

(१) अष्टांग योग (२) नासकेत (३) संदेह सागर (४) भक्ति सागर (५) हरि प्रकाश टीका (६) अमर लोक खड धाम (७) भक्ति पदारथ (८) शब्द (९) मनविरक्त करन गुटका (१०) राम माला (११) ज्ञान स्वरोदय (१२) दान लीला (१३) ब्रह्म ज्ञान सागर (१४) कुरुक्षेत्र की लीला।

उदाहरण :—

मैं मिरगा गुरू पारधी, शब्द लगायो बान।
चरणदास घायल गिरे, तन मन बीधे प्रान॥
सतगुरू मेरा सूरमा, करै शब्द की चोट।
मारे गोला प्रेम का, ढहै भरम का कोट॥
कडुवा बचन न बोलिये, तन सों कष्ट न देय।
अपना सा सब जानि के, बनें तो दुख हरि लेय॥

(२) **दयाबाई**—ये महात्मा चरणदास की शिष्या थीं और उन्हीं के गांव में पैदा हुई थीं। सं० १७५० और सं० १७७५ के बीच किसी समय इनका जन्म हुआ था। इन्होंने दयाबोध और विनय मालिका नामक दो ग्रंथों की रचना की। दयाबोध की रचना सं० १८१८ में हुई थी। इस संबंध में इन्होंने स्वयं अपने ग्रंथ में लिखा है।

संवत् ठारा से समै, पुनि ठारा गये बीति।
चैत सुदी तिथि सातवीं, भयो ग्रंथ सुभ रीति ॥

दयाबाई की कविता के विषय हैं—गुरु महिमा, प्रेम का अंग, सूर का अंग, सुमिरन का अंग इत्यादि। इनकी कविता में दैन्य और वैराग्य की प्रधानता है और उस पर इनके उच्चादर्श एवं स्त्री सुलभ कोमलता की छाप लगी हुई है। इनके चार दोहे हम नीचे देते हैं :—

प्रेम पंथ है अटपटो, कोई न जानत वीर।
कै मन जानत आपनौ, कै लागि जेहिं पीर ॥
निरपच्छी के पच्छ तुम, निराधार के धार।
मेरे तुम ही नाथ इक, जीवन-प्रान आधार ॥
नहिं सँजम नहिं साधना, नहिं तीरथ व्रत दान।
मात भरोसो रहत है, ज्यों बालक नादान ॥
सीस नवैं तो तुमहिं कूँ, तुमहिं सूँ भाखूँ दीन।
जो झगरूँ तो तुमहिं सूँ, तुम चरनन आधीन ॥

(३) **सहजो बाई**—इनका जन्म सं० १८०० के लगभग मेवात प्रदेश के डहरा नामक गाँव में एक दूसर वैश्य के घर में हुआ था। दयाबाई की तरह ये भी महात्मा चरणदास की शिष्या थीं। इनके पिता का नाम हरिप्रसाद बतलाया जाता है। सहजोबाई ने अपने गुरू चरणदास की बड़ी महिमा गाई है और उन्हें भगवान से भी ऊँचा माना है। इनकी रचना सरल एवं उल्लास पूर्ण है और उसमें प्रेम की प्रधानता है।

इनकी कविता का नमूना देखिये :—

प्रेम दिवाने जे भये, मन भयो चकनाचूर।
छके रहैं घूमत रहैं, सहजो देख हजूर ॥

साहन कूँ तो भय घना, सहजो निर्भय रङ्क ।
कुंजर के पग बेड़ियाँ, चींटी फिरै निसङ्क ॥
अभिमानी नाहर बड़ो, भरमत फिरत उजारि ।
सहजो नन्हीं बाकरी, प्यार करै संसार ॥

(३) निरंजनी पंथ

यह पंथ हरिदास जी से चला है। इनके अनुयायी निरंजन निराकार की आराधना करते हैं। इनमें भी कुछ तो घरबारी और कुछ निहंग हैं। घरबारी गृहस्थियों के से कपड़े पहिनते और रामानन्दी तिलक लगाते हैं। निहंग खाकी रंग की गुदड़ी गले में डाले रहते हैं और माँग कर खाते हैं। कोई कोई निरंजनी साधु गले में सेली भी बाँधते हैं। पहले ये लोग मूर्ति-पूजा नहीं करते थे, पर अब करने लग गए हैं। मारवाड़ राज्य में डीडवाने के पास गाढ़ा नामक एक स्थान है, जहां हरसाल फाल्गुन सुदी १ से १२ तक मेला भरता है। इस अवसर पर इस पंथ के बहुत से साधु यहाँ इकट्ठे होते हैं, जिन्हें हरिदास जी की गुदड़ी के दर्शन कराये जाते हैं। गाढ़ा निरंजनियों का प्रधान केन्द्र है। यहाँ इनके महन्त और साधु रहते हैं। हरिदास जी के ५२ शिष्य थे जिनसे हरिदासोत, पूरणदासोत, अमरदासोत, नारायणदासोत आदि कई थाँमे स्थापित हुए। इन में से बहुत से अभी तक विद्यमान हैं।

(१) हरिदास—इनके जन्म, वंश, माता, पिता आदि का विवरण अंधकार में है। इनकी जाति के संबन्ध में भी मत की विभिन्नता है। कोई इन्हें बीदा राठोड़ और कोई जाट बतलाते हैं। परन्तु यह तो निश्चय है कि ये एक व्यक्तित्व संपन्न महात्मा और सहृदय कवि थे। इनके नीचे लिखे ग्रन्थों का पता है :—

(१) भक्त विरदावली (२) भरथरी संवाद (३) साखी (४) पद (५) नाम माला ग्रन्थ (६) नाम निरूपण ग्रन्थ (७) व्याहलो (८) जोग ग्रन्थ और (९) टोडरमल जोग ग्रन्थ। इनका देहान्त सं० १७०२ के आस पास हुआ।

इनकी कविता का नमूना नीचे उद्धृत है :—

भूख दूख संकट सहै, सहै बिड़ाणा भार।
हरीदास, मौनी बळद, वासूँ वरै पुकार॥
घर आई निरभै भई, डाव पड़या यूँ होय।
हरीदास ता सार कूँ, पामा लगै न कोय॥
लोहा जल सूँ धोइये, तब लग काँटी खाय।
हरीदास पारस मिल्याँ, मूँघे मोल बिकाय।

पंचम अध्याय



(उत्तरकाल)

सत्रहवीं शताब्दी के बाद उन्नीसवीं शताब्दी तक का दो सौ वर्ष का समय राजस्थानी साहित्य के इतिहास में उत्तर काल कहा जा सकता है। इस काल में भाषा और विषय दोनों ही दृष्टियों से भारी परिवर्तन हुए। इस समय के अधिकांश कवियों की भाषा डिंगल नहीं, बल्कि ब्रजभाषा थी और उनकी कविता के विषय थे कृष्ण। राधा-कृष्ण की प्रेम लीला को लेकर कवियों ने बहुत से ग्रंथ तथा फुटकर कवित्त, सवैया, पद आदि बनाये जिनमें श्रृङ्गार रस की प्रधानता रही। अनेकों रीति ग्रन्थों का निर्माण भी इस काल में हुआ। कुछ कवियों ने वीर रस में भी कविताएँ कीं और कुछ कवि ऐसे भी हुए जिनकी तुलना भारत के किसी भी बड़े से बड़े कवि से हो सकती है। इनमें बिहारी, वृन्द और नागरीदास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

राजा महाराजाओं का देश होने से नरकाव्यों के लिखने की परंपरा का अनुकरण इस काल में थोड़ा बहुत होता रहा और सूरजप्रकास, राजरूपक, राज विलास, हंमीर रासो, ग्रन्थराज, सुजान चरित्र जैसे ग्रन्थों का प्रणयन हुआ भी, पर ये ग्रन्थ इस समय की जन साधारण की चित-वृत्तियों के द्योतक नहीं माने जा सकते। क्योंकि, इस तरह के ग्रन्थ कवियों के उनके आश्रयदाताओं की जीवन-घटनाओं के इतिवृत्त मात्र हुआ करते थे; और जैसे ही समाप्त होते, राजकीय इतिहास भण्डारों की शोभा बढ़ाने

के लिये रख दिये जाते थे। जन साधारण से इनका लगाव कहने मात्र को भी न होता था।

(१) **महाराजा जसवंतसिंह जी**—राठोड़ कुलाभरण महाराजा जसवन्त सिंह जी महाराजा गजसिंह जी के द्वितीय पुत्र थे। इनका जन्म वि० सं० १६८३ की माघ वदि ४ को बुरहानपुर में हुआ था। इतिहास-प्रसिद्ध अमर सिंह राठोड़, जिन्होंने बादशाह शाहजहाँ की भरी सभा में बख़्शी सलावतखां को मारा था, इन्हीं के भाई थे। स्वेच्छाचारी एवं उद्धत प्रकृति होने के कारण महाराजा गजसिंह जी ने अमरसिंह को देश निकाला दे दिया था। इसलिये उनके बाद जसवन्त सिंह जी ही मारवाड़ की गद्दी पर बैठे। राज्याभिषेक के समय इनकी अवस्था १२ वर्ष की थी। अतः बादशाह शाहजहाँ ने शाही मनसबदार आसोप के ठाकुर कूँपावत राजसिंह को इनकी शिक्षा तथा मारवाड़ की देख-भाल के लिये नियुक्त किया। ये बड़े वीर, साहसी और रणकुशल व्यक्ति थे। मुग़ल सिंहासन को प्राप्त करने के लिये जब शाहजहाँ के पुत्रों में झगड़ा हुआ, इन्होंने सम्राट के ज्येष्ठ पुत्र दारा का पक्ष लिया था। क्योंकि राज्य का वास्तविक अधिकारी यही था। इसलिये औरङ्गज़ेब इनसे बहुत कुढ़ता था। इनका बिगाड़ तो वह कुछ भी न सका, पर अपने राज्य से दूर रखने के लिये उसने इन्हें काबुल का गवर्नर बनाकर उधर भेज दिया। वहीं वि० सं० १७३५ की पोष वदि १० को इन्होंने अपनी देहलीला समाप्त की। इनकी मृत्यु का समाचार जब औरङ्ग़ज़ेब के पहुँचा तब उसके आनंद का पारावार न रहा और हर्ष से उछल कर उसने कहा :—

"दर्वाज़ए .कुफ्र शिकस्त"

अर्थात—आज .कुफ्र (धर्म विरोध) का दरवाज़ा टूट गया।

महाराजा जसवन्त सिंह जी का साहित्यिक जीवन उनके ऐतिहासिक और राजनैतिक जीवन से किसी अंश में कम महत्वपूर्ण न था। प्रख्यात वीर होने के साथ ही साथ ये प्रतिभाशाली साहित्य-सेवी भी थे। ये डिंगल-पिंगल के पूर्ण ज्ञाता एवं मर्मज्ञ कवि थे और दानी तथा परोपकारी भी पूरे थे। कवियों और विद्वानों का जैसा आदर इन्होंने किया वैसा

क्या कोई नृपति कर सकता है। ये जैसे वीर थे, उससे कहीं अधिक कविता करने में निपुण थे। इनके रचे भाषा ग्रंथों के नाम ये हैं :—

(१) भाषा भूषण (२) सिद्धान्त बोध (३) सिद्धान्त सार (४) अनुभव प्रकाश (५) अपरोक्ष सिद्धान्त (६) आनन्द विलास (७) चद्र प्रबोध नाटक (८) पूलीजसवन्त संवाद और फुटकर दोहा, कुण्ड-लिया आदि।*

जसवन्त सिंह जी हिन्दी-साहित्य में अलङ्कारों के एक विशिष्ठ आचार्य समझे जाते हैं। यही एक ऐसे महाशय थे जो यथार्थ में आचार्य रूप से साहित्य क्षेत्र में आये। इनके तत्त्व ज्ञान सम्बन्धी ग्रंथ तो विशेष लोक-प्रिय नहीं है, परन्तु भाषा-भूषण का काव्य प्रेमियों में बड़ा आदर है। यह ग्रंथ जयदेव कृत चन्द्रालोक की छाया तथा शैली पर लिखा गया है। पर कवि ने अपने मस्तिष्क तथा दूसरे अलङ्कार ग्रंथों से भी सहायता ली है। यह एक उच्च कोटि का अलङ्कार ग्रंथ है। कुल मिलाकर इसमें २१३ दोहे है। भाषाभूषण की सबसे बड़ी विशेषता है वर्णन की संक्षिप्तता। प्रायः एक ही दोहे में अलंकार का लक्षण एव उदाहरण देकर कवि ने अपने अलंकार विषयक ज्ञान और अपनी काव्यपटुता का अच्छा परिचय दिया है। केशवदास ने अपने ग्रन्थ कवि प्रिया में उपमा, उत्प्रेक्षा, यमकादि के कई भेद-उपभेद कहकर विषय को बहुत जटिल बना दिया है। इसीलिए उसका प्रचार भी बहुत कम है। परन्तु भेद-उपभेद के पचड़े में न पड़कर जसवन्त सिंह जी ने अलंकारों के मुख्याङ्गों को स्पष्टतः समझाया है, और वह भी अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य ढंग से। ग्रन्थ के आदि में नायक-नायिका भेद तथा रसों पर भी थोड़ा सा प्रकाश इन्होंने डाला है। पर इस सम्बन्ध के दूसरे ग्रन्थों—केशव की कविप्रिया, मतिराम का रसराज, पद्माकर का जगद्विनोद और बेनी प्रबीन के रसतरङ्ग—को देखते हुए यह प्रायः नहीं के बराबर है। इनकी कविता देखिये :—

(असङ्गति)

तीनि असंगति काज अरु, कारन न्यारे ठाम।

---

* राजस्थान; वर्ष १, संख्या २, पृ० २४।

और ठौर हीं कीजिए, और ठौर को काम ॥
और काज आरम्भिए, औरे करिए दौर ।
कोयल मदमाती भई, झूलत अम्बा मौर ॥
तेरे अरि की अंगना, तिलक लगायौ पानि ।
मोह मिटायो नाहिं प्रभु, मोह लगायो आनि ॥

(विषम)

विषम अलंकृति तीन विधि, अनमिलते को संग
कारन को रँग और कछु, कारज औरै रंग ॥
और भलो उद्यम किए, होन बुरो फल आइ ।
अति कोमल तन तीय को,कहा विरह की लाइ ॥
खड्गलता अति स्याम तैं, उपजी कीरति सेत ।
सखि लायो घनसार पै, अधिक ताप तन देत ॥

(२) बिहारीलाल—ये माथुर चौबे थे और ग्वालियर के निकट बसुवा गोविन्दपुर के रहने वाले थे । इनका जन्म अनुमान से सं० १६६० में और देहान्त वि० स० १७२० मे हुआ था । इनकी बाल्यावस्था बुंदेलखंड में व्यतीत हुई और युवावस्था में ये कुछ दिन अपनी ससुराल मथुरा में रहे थे । ये जयपुर के मिर्ज़ा राजाजयसिंह (सं० १६८४—१७२४) के दरबार मे रहा करते थे, जिनकी ओर से प्रति दोहे पर इन्हें एक एक अशरफ़ी मिलती थी। अपने आश्रयदाता राजा जयसिंह की प्रशंसा में भी बिहारी ने दो चार दोहे कहे हैं । इनमें से एक यह है :—

यौं दल काढ़े बलखतैं, तैं जयसिंह भुवाल ।
उदर अघासुर कैं परैं, ज्यौं हरि गाइ गुवाल ॥

अपने जीवन काल में बिहारी ने सिर्फ एक ही ग्रंथ, बिहारी सतसई, लिखा जो संसार की स्थायी संपत्ति, भारतीय काव्य-कला का उत्कृष्ट नमूना और हिन्दी-भाषा-भाषियों के गौरव की वस्तु माना जाता है । बिहारी सतसई की काव्योच्चता और लोकप्रियता का अनुमान हमें इसी से हो सकता है कि इस पर सौ से अधिक टीकायें तो हो चुकी हैं और अभी तक भी यह क्रम जारी है । बिहारी की कविता का मुख्य विषय है शृङ्गार, पर नीति, भक्ति

वैराग्य आदि पर भी इन्होंने कुछ कहा है और बहुत अच्छे ढंग से कहा है-अपूर्व काव्य-कौशल और अद्वितीय माधुर्य, बिहारी की कविता के प्रधान गुण हैं। और गहरी तो वह इतनी है कि ज्यों २ हम उसकी गहराई तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, त्यों २ वह अधिकाधिक गहरी होती जाती है। फिर नायक नयिकाओं के हृदयस्थ भावों का विश्लेषण करने में तो बिहारी ने कमाल ही कर दिया है। इस फ़न में विश्व-कवि शेक्सपियर बहुत निपुण समझे जाते हैं। अतएव उनकी तुलना में बिहारी का चमत्कार देखिए।

रोज़ेलिंड की सखी सीलिया अपने प्रेम पात्र ऑरलंडो से मिल कर वापस आती है। उस समय प्रिय-संदेश के सुनने में आतुर रोज़ेलिंड पागल सी हो जाती है, और सीलिया से कहती है कि यदि नायक से मिलने के सब समाचार उसने फौरन ही न कहे तो वह उससे इतने प्रश्न करेगी कि जिनसे सारा उत्तरी सागर भर जायगा। पर उसकी उत्सुकता को बढ़ाने के लिए सीलिया फिर भी मौन ही रहती है। इसपर रोज़ेलिंड प्रश्नों की झड़ी लगा देती है:—

What did he when thou saw'st him? What said he? How looked he? Where in went he? What makes he here? Did he ask for me? Where remains he? How parted he with thee? And when shalt thou see him again? Answer me in one word?

ऐसी ही दुविधावस्था में बिहारी की नायिका भी है। नायिका की सहेली कृष्ण से मिलकर घर आती है। इस पर बिहारी लाल लिखते हैं—

फिरि फिरि बूझति कहि कहा, कह्यौ साँवरे गात।
कहा करत देखे कहाँ, अली चली क्यों बात॥

प्रसंग दोनों का एक है। बिहारी की तरह शेक्सपियर ने भी स्त्री-हृदय के उस स्थल पर हाथ डाला है जो सब से कमज़ोर है! पर जिस समय रोज़ेलिंड के मुँह से शेक्सपियर प्रश्न करवाते हैं, उनकी कल्पना-शक्ति कुन्द हो जाती है और उनकी क़लम से कुछ ऐसे प्रश्न निकलते हैं जिनमें रस, चमत्कार, वाक्विदग्धता आदि

1 Shakspeare; As you like it; Act III, Sc. II

कुछ भी नहीं है। वस्तुतः शेक्सपियर के ये प्रश्न परीक्षा पत्र में दिए हुए प्रश्नों के सदृश जटिल और शुष्क प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत बिहारी नारी हृदय को टटोल कर बाहर निकल आते हैं और सारी बात को बहुत संक्षिप्त, बहुत हृदय ग्राही ढंग से प्रस्तुत करते हैं, जिसमें व्यंग्य है, व्यञ्जना है और है मार्मिक भाव। निःसन्देह अंगरेज़ कवि के प्रश्न संख्या में अधिक हैं। पर सब मे महत्व पूर्ण प्रश्न को तो वे फिर भी भूल ही गए हैं, जिसका उल्लेख बिहारी ने अपने दोहे के अन्तिम चरण में किया है—'अली चली क्यों बात'। हे सखी मेरी बात चली कैसे? मेरा प्रसंग आया क्यों? सच पूछिए तो यही कवि हृदय की मार्मिक अनुभूति है, काव्य कौशल की अंतिम सीमा है।

अस्तु, बिहारी की कविता पर हिन्दी में एक अलग साहित्य बन गया है और इसलिए यहाँ पर यह कहना कि इनकी कविता इतनी गम्भीर, इतनी प्रौढ़ तथा इतनी भाव-पूर्ण है, एक तरह से पिष्ट-पेषण ही होगा। नीचे हम बिहारी के कुछ दोहे देते हैं :—

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जातन की झाँई परैं, स्यामु हरित-दुति होइ ॥१॥
अजौं तरयौना हीं रह्यौ, श्रुति सेवत इक रंग।
नाक-बास बेसरि लह्यौ, बसि मुकुतन कैं संग ॥२॥

बेधक अनियारे नयन, बेधत करि न निषेधु।
बरबट बेधत मो हियौ, तो नासा कौ बेधु ॥३॥
नेहु न नैन नु कौं कछू, उपजी बड़ी बलाइ।
नीर-भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाइ ॥४॥

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगैं कौन हवाल ॥५॥
कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पटु, कहूँ मुकटु बनमाल ॥६॥

हौं हीं बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाऊँ।
कहा जानिए कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाऊँ ॥७॥

सुनत पथिक-मुँह माँह निसि, चलति लुवैं उहिं गाम।
बिनु बूझैं बिनुही कहैं, जियति बिचारी बाम ।।८।।
स्वारथु सुकृतु न श्रमु वृथा, देखि बिहंग बिचारि।
बाज परारौं पानि परि, तूँ पच्छीनु न मारि ।।९।।

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हियैं, दई नई यह रीति ।।१०।।
वे न इहाँ नागर बढ़ी, जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयो, गवँई गाँव गुलाब ।।११।।

बतरस लालच लाल की, मुरलीधरी लुकाइ।
सौंह करैं भौंहन हँसै, दैन कहैं नटि जाइ ।।१२।।
बिरह जरी लखि जी गननु, कह्यौ डहि कै बार।
अरी आउ भजि भीतरी, बरसत आजु अँगार ।।१३।।

पटु पाँखै भखु काँकरै, सपर परेई संग।
सुखी परेवा पहुमि मैं, एकै तुँहीं बिहंग ।।१४।।
चाह भरीं अति रस भरीं, बिरह भरीं सब बात।
कोरि संदेसे दुहुन के, चले पौरि लौं जात ।।१५।।

कर लै सूँघि सराहि हूं, रहै सबै गहि मौनु।
गंधी अंध गुलाब कौ, गवईं गाहकु कौनु ।।१६।।
कर लै चूमि चढ़ाइ सिर, उर लगाइ भुज भेटि।
लहि पाती पिय की लखति, बाँचति धरति समेटि ।।१७।।

अनियारे दीरघ दृगनु, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान ।।१८।।

(३) नरहरिदास—ये रोहड़िया जाति के बारहट लक्खा जी के पुत्र थे। इनका रचना काल वि० सं० १७१० के आस-पास ठहरता है। ये जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्त सिंह जी के आश्रित थे। इनका जन्म मारवाड़ राज्य के मेड़ते परगने के टहला नामक ग्राम में हुआ था। इनके कोई सन्तान न थी। इस सम्बन्ध में इनकी भावज ने इन्हें एक दिन जब ताना दिया तब क्रुद्ध होकर इन्होंने उससे कहा कि सन्तान तो मेरे नहीं है जिससे मेरे मरने के

पश्चात मेरे वंश का नाम दुनिया में रह सके, पर विधाता ने मुझे कविता करने की अलौकिक शक्ति प्रदान की है जिसके द्वारा मैं अपने नाम को सदैव के लिये संसार में अमर कर दूँगा। इसी प्रतिज्ञा को पूरी करने के लिये इन्होंने अवतार चरित्र की रचना की, जिससे अभी तक इनका नाम चला आता है।

अवतार चरित्र ज्ञान सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हो चुका है, जो बहुत अशुद्ध है। इसमें ५२० पृष्ठ हैं। इनमें से ३२० पृष्ठों में रामावतार का और शेष में कृष्णावतार, कपिलावतार, बुद्धावतार आदि का संक्षिप्त वर्णन है। ग्रन्थ की भाषा सरल, शब्दाडम्बर-शून्य एवं व्यवस्थित है, और कथा-प्रसंग के अनुकूल छंदों के चुनने में कवि ने अच्छी पटुता प्रदर्शित की है। व्रज-भाषा पर इतना अच्छा अधिकार राजस्थान के बहुत कम चारण कवियों की रचनाओं में पाया जाता है। अवतार चरित्र को पढ़ कर कोई यह नहीं कह सकता कि यह एक राजस्थान के चारण कवि की कृति है। पर नरहरिदास के भावों में मौलिकता का प्रायः अभाव सा है। मालूम होता है कि तुलसी के रामचरित मानस तथा केशव की रामचन्द्रिका को सामने रखकर कवि ने इस ग्रंथ की रचना की है। क्या रचना पद्धति, क्या घटना क्रम, क्या भाव-व्यंजना और क्या उक्ति चमत्कार सभी रामचरित मानस से मिलते जुलते हैं। जहाँ कहीं रामचरित मानस से विभिन्नता है, वहाँ केशव की रामचन्द्रिका का अनुकरण किया गया है—

चाप चढ़ावन को गनै, सकै न अवनि छुड़ाइ।
भई उर्व्वी निर्वीर अब, कह्यौ जनक अकुलाइ॥
जो जानत निर्वीर भुव, तौ न करित पन एहु।
पावक प्रजलत गेह अब, तब कहँ पईयत मेहु॥
रही कुँवारी कन्यका, लिखत विरंच ललार।
पन कीनौ जो परिहरौं तो उपहास संसार॥

—अवतार चरित्र

रहा चढ़ाउब तोरब भाई, तिल भरि भूमि न सकै छुड़ाई॥
अब जनि कोउ माखै भट मानी, वीर विहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू, लिखा न विधि वैदेहि विवाहू॥

सुकृत जाय जो प्रण परिहरऊँ, कुँवरि कुँवारि रहै का करऊँ ॥
जे जनतेऊँ बिन भट महि भाई, तौ प्रण करि करतेऊँ न हँसाई ॥

रामचरित मानस

कहि पूछत तुम मुद्रिका, होत मौन इहि हेत ।
नाम विपर्जय आपनै, तिहि उत्तर नहिं देत ॥

—अवतार चरित्र

तुम पूछत कहि मुद्रिकै, मौन होत यहि नाम ।
कंकन की पद्वी दई, तुम बिनु या कहँ राम ॥

—राम चन्द्रिका

अवतार चरित्र के सिवा नरहरि दास कृत निम्न लिखित दूसरे ग्रंथों का भी पता लगा है:—

(१) दशम स्कन्ध भाषा (२) रामचरित्र कथा (३) अहिल्या पूर्व प्रसङ्ग ।
(४) बानी (५) नरसिंह अवतार कथा (६) अमरसिंहजीरा दूहा ।
इनकी कविता देखिये:—

जादिन आन उपाइ थकै सब, ता दिन भाइ सहाइ करैगो ।
शोक अलोक विलोकि त्रिलोक रह्यो भव पूरसु दूरि टरैगो ॥
जैसें चढ़ें गज राज की पीठि, त्यौं कूकर वादि हिं भूसि मरैगो ।
जौं करुणा मय स्याम कृपा तो, कहा जग की अकृपा बिगरैगो ॥

कंटक कपूर भए कौतुक भयानक से,
हार अहि भए अँधियार भयो आरसौ ।
नाहर से नूपुर पहार से पहर भए,
सेज समसान भए, भूसन सुभारसौ ॥
आक सो तंबोर सिरवाइसी सुबास सबै,
चीर भए कैंछी से, अंजन अंगार सौ ॥
विपति दुसह ऐसी कपि अवधेस विना,
प्रान भए पाहुनैं से प्रेम भौ प्रहार सौ ॥

(४) कविवरवृन्द—वृन्द सतसई के रचयिता कविवर वृन्द के पूर्व पुरुष बीकानेर के रहने वाले थे । परन्तु किसी कारण विशेष से इनके पिता श्री रूप

जी वहाँ से मेड़ते में आकर बस गये थे। वृन्द जी का पूरा नाम वृन्दावन जी था। ये जाति के शाकद्वीपी भोजक ब्राह्मण थे। इनका जन्म वि० सं० १७०० आश्विन शुक्ला २, गुरुवार को मेड़ते में हुआ था। इनके दादा का नाम सहदेव, माता का कौशल्या और पत्नी का नवरंगदे था। ये लड़कपन से ही सुशील, गम्भीर और तीव्र-बुद्धि थे। इनके पिता श्री रूप जी स्वयं तो बहुत पढ़े लिखे न थे, पर इस ओर इनके चित्त की प्रवृत्ति और रूचि विशेष थी। इसलिये वृन्द जब दस वर्ष के हुए, तब उन्होंने इन्हें विद्याध्ययन के निमित्त काशी भेज दिया। वहाँ तारा जी नामक एक पंडित के पास रहकर इन्होंने व्याकरण, साहित्य, वेदान्त, गणित, दर्शन आदि में पूर्ण योग्यता प्राप्त करली और कविता करना भी सीखा। काशी से लौटकर जब ये अपने स्थान मेड़ते में आये, तब लोगों ने इनका बड़ा सम्मान किया और जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्त सिंह जी ने इन्हें मेड़ते में कुछ भूमि पुण्यार्थ दी तथा बादशाह औरंगजेब के कृपापात्र वज़ीर नवाब मुहम्मदखाँ से इनका परिचय करा दिया, जिनकी कृपा से शनैः शनैः शाही दरबार में भी इनका प्रवेश हो गया।

कहते हैं, जिस समय नवाब मुहम्मदख़ाँ इन्हें शाही दरबार में ले गये उस समय इनकी परीक्षा लेने के हेतु औरंगज़ेब ने इन्हें यह समस्या दी:—

"पयोनिधि पैर्‌यौ चाहै मिसरी की पुतरी"

वृन्द ने उसी वक्त ईश्वर की महत्ता विषयक एक कविता रच कर सुनाई। परन्तु बादशाह को वह अधिक पसन्द न आई, जिससे उन्होंने उक्त समस्या को लेकर उसकी निम्नलिखित पूर्ति फिर की :—

कुंभज करूर ताकी कठिन करूर दीठि,
देखि कै उड़ानौं न हलानौं इत उतरी।
पर हर लहर गहर गाज छाँड़ि दई,
वृन्द कहैं भई गति अदीठ अश्रुतरी ॥
अमल मुकुर कैसो अचल सुभाव रह्यो,
रह्यौ दबि भई बात ऐसी अद्भुतरी ।
ह्वै कर निसंक अंक ऐसो दाव पाय क्यौं न,
पयोनिधि पैर्‌यौ चाहै मिसरी की पुतरी ॥१॥

अर्थात—कुम्भज ऋषि के डर से अपनी स्वाभाविक चंचलता को छोड़ कर समुद्र दर्पण के समान स्वच्छ हो गया। ऐसा मौका पाकर मिश्री की पुतरी समुद्र पार हो गई, क्योंकि मिश्री को घुला देने का गुण अब समुद्र के जल में न रहा।

औरंगज़ेब काव्य का विरोधी था। कवियों को न वह धन देता था और न प्रोत्साहन। परन्तु वृन्द की यह अनूठी उक्ति उस पर भी वार कर गई और उसके मुँह से सहसा निकल पड़ा खूब! खूब!! बादशाह ने वृन्द को बहुत सा धन दिया। उन्हें अपना दरबारी कवि बनाया और अपने ज्येष्ठ पुत्र शाहज़ादा मौज्ज़म (बहादुर शाह) तथा पौत्र अज़ीमुश्शान का अध्यापक नियुक्त कर उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। कालान्तर में जब अज़ीमुश्शान बंगाल और उड़ीसा का सूबेदार होकर उधर गया तब अपने साथ वृन्द को भी ले गया। तभी से ये उसके साथ रहने लगे। हिन्दी साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति वृन्द सतसई अज़ीमुश्शान ही के आग्रह एवं गुण ग्राहिता का फल है। वि० सं० १७६४ के लगभग किशनगढ़ के महाराजा राजसिंह जी ने बहादुर शाह से वृन्द को मांग लिया और अच्छी जागीर देकर उन्हें किशनगढ़ में बसाया। तब से इनके वंशज किशनगढ़ में रहते हैं।

वृन्द का स्वर्गवास वि० सं० १७८० में भादों वदि ३ को हुआ था। वृन्द एक सहृदय कवि, ईश्वर भक्ति एवं आदर्श चेता व्यक्ति थे। इनके ग्रंथों से स्पष्ट मालूम होता है कि संसार के घात-प्रतिघातों का इन्हें गहरा अनुभव था और गुणाढ्य, सुविद एवं बहु श्रुत होने के सिवा ये बहु भाषा ज्ञानी भी थे। शुद्ध और स्वाभाविक अनुभूति के आधार पर रची हुई इनकी वीर, शांत एवं शृङ्गाररस-पूर्ण कविताएँ हिन्दी-साहित्य के विभव को बढ़ाने वाली हैं। भाषा वृन्द कवि की व्रजभाषा है जो रसखान एवं घनानंद की भाषा की तरह विशुद्ध, परिमार्जित एवं व्याकरण सम्मत तो नहीं है, पर है वह इतनी सरल, ललित और चुभती हुई कि पढ़ते ही मनमुग्ध हो जाता है:—

मोहनि मूरति सोभित श्री नग,
भूषण ज्योति उदोत निहारूं।
सुन्दरता सुख-धाम सुधामय,
वृन्द विशेष यहै उर धारूं॥

सब विराजत या तन की छबि,
और कहा उपमा जो विचारूं।
कोटिक काम सुधाकर कोटिक,
कोटिक बेर समेट के वारूं ॥१॥

वृन्द के जीवन का अधिक भाग मुस्लिम-वातावरण में व्यतीत हुआ और प्रधानतः मुसलमान अधिकारियों के विनोदार्थ ही इन्होंने अपनी लेखनी चलाई। परन्तु फिर भी इन्होंने कहीं भी ऐसा वर्णन नहीं किया जिससे हिन्दू धर्मावलम्बियों की अल्पता सूचित होती हो। फुटकर कवित्त सवैयों के अतिरिक्त वृन्द ने नीचे लिखे ग्रंथों की रचना की, जिनमें से वृन्द सतसई को छोड़कर सभी अप्रकाशित हैं।

(१) **वृन्द सतसई**। यह इनका प्रधान ग्रंथ है। इसका दूसरा नाम दृष्टान्त सतसई है। मुग़ल सम्राट औरङ्गजेब के पौत्र शाह अज़ीमुश्शान के विनोदार्थ इसकी रचना का प्रारम्भ कवि ने वि० सं० १७६१ में ढाका शहर में किया था। इसमें कुल मिलाकर ७१३ दोहे हैं और प्रत्येक दोहा सद्विचार-पूर्ण एवं भावापन्न है तथा उससे वृन्द की कवित्व शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। ज्ञान, नीति तथा उपदेश सम्बन्धी विचारों को वृन्द ने ऐसे मन-मोहक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से चित्रित किया है कि वे तुरन्त पाठकों के हृदय में घर कर लेते हैं। प्रसाद-गुण की बहुलता होने से साधारण पढ़े लिखे लोग भी इन दोहों का मर्म समझ लेते हैं और स्थान स्थान पर उद्धृत कर अपने पक्ष एवं प्रसंग का समर्थन करते हैं। दोहे लोकोक्तियाँ बन गई हैं। हिन्दी साहित्य में अधुना सात-आठ सतसइयाँ प्रचलित हैं। काव्य प्रेमियों में सभी का यथेष्ट सम्मान भी है। परंतु सर्वप्रियता की दृष्टि से यदि देखा जाय तो बिहारी सतसई के अनन्तर वृन्द सतसई ही उत्कृष्ट रचना ठहरती है।

(२) **यमक सतसई**—इसमें सात सौ दोहे हैं। वृन्द सतसई में कवि ने भाव प्रदर्शन की ओर विशेष ध्यान रखा है। पर इसकी रचना उन्होंने कविता के कला-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों को सामने रख कर की है। यमक अलंकार की छटा एवंभाव और भाषा का सामंजस्य देखते ही बनता है।

(३) भाव पञ्चाशिका—पचीस दोहे और पचीस सवैयों के इस छोटे से ग्रंथ की रचना वि० सं० १७४३ में औरङ्गाबाद में हुई थी। इसमें मनोभावों का बहुत चमत्कार पूर्ण वर्णन है। यद्यपि यह ग्रन्थ छोटा है तथापि इसकी रचना बहुत ही सरस और हृदयग्राहिणी है और वृन्द की भावुकता का परिचय देती है। भाषा भी इसकी बहुत परिमार्जित, प्रौढ़ और श्रुति मधुर है। इसकी रचना के सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है। जब वृन्द औरङ्गाबाद में थे तब वहाँ पर किसी काव्य-प्रेमी सज्जन ने कवियों की एक सभा की और कवि वृन्द को भी उसमें सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रण दिया। जिस समय सब लोग इकट्ठे हो गए, वहाँ यह प्रश्न उठा कि इस सभा में सब से अच्छा कवि कौन है और आज कौन इसका सभापति बनाया जाय। बड़ी देर तक बहस हुई। जब कुछ भी तय न हो सका, तब उस सज्जन ने कहा कि जो आज की रात में सबसे अच्छी कविता कर के लायगा वही कवि-शिरोमणि समझा जायगा। रात भर में वृन्द ने यह ग्रंथ बनाया और प्रातःकाल होते ही सबों के सामने जाकर पढ़ा। वृन्द की कविता के सामने किसी दूसरे कवि का रङ्ग न जमा और वहीं बहुमत से ये सर्वोत्कृष्ट कवि माने गये। वृन्द के शिष्य कृष्णगढ़ के मीर मुन्शी माधोदास ने भी अपने 'शक्ति भक्ति प्रकाश' में इस घटना की ओर संकेत किया है :—

कारज औ कारण तूँ विस्व विस्तारन है,
अखिल की पालक सुजोति चिदानन्द की।
तूँही गति, तूँही मति, तूँही सुख सम्पति है,
बिपति बिहंडनी बली है अनंद की॥
तेरेगुन गाइबे कौं विधि हू समर्थ नाहिं;
तो कहा गति मेरी रसना मति मन्द की।
भक्तन की पति राखि ताके सुने गीत साखी,
पत राखी मेरता के बासी कवि वृन्द की॥१॥

(४) शृङ्गार शिक्षा—दिल्ली के बादशाह औरंगज़ेब के वज़ीर नवाब मुहमदखाँ के पुत्र मिरज़ा कादरी, जो अजमेर का सूबेदार था, की कन्या को पातिव्रत धर्म की शिक्षा देने के निमित्त यह ग्रन्थ वि० सं० १७४८ में लिखा

गया था। ग्रन्थ के प्रारम्भ में वर और कन्या के लक्षण, उनके गुण-दूषण, उनकी सुन्दरता तथा उनके सम्बन्धियों के लक्षणों का वर्णन है। बाद में स्वकीया नायिका का पातिव्रत धर्म, नायिका, नवोढ़ा, मुग्धा, अज्ञात यौवना, ज्ञात यौवना, आदि का विवरण है। तदनन्तर कवि ने १६ शृङ्गारों का बहुत ही सुन्दर, व्यवस्थित तथा काव्यकलापूर्ण वर्णन किया है। बहुतेरे कवियों के समान न तो इस ग्रंथ में भरती के शब्द एवं वाक्य हैं और न कहीं भावावेश में आकर कवि ने लोक मर्यादा का उलंघन किया है।

(५) **वचनिका**—कृष्ण गढ़ के नरेश महाराजा मानसिंह की आज्ञा से महाराजा रूपसिंह की ख्याति को अक्षय रखने के लिए वृन्द ने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १७६२ में की थी। इसमें उस युद्ध का वर्णन है जो धौलपुर के मैदान में सं० १७१५ में बादशाह शाहजहाँ के पुत्रों दारा, शुजा, मुराद और औरङ्गज़ेबमें दिल्ली के तख़्त के लिए हुआ था। यह एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है। प्रारम्भ में कन्नौज के महाराज राव सीहा जी से लगाकर महाराजा रूपसिंह तक राठोड़ों की लगातार वंशावली देकर बाद में वृन्द ने रूपसिंह के शौर्य का वर्णन किया है। महाराजा रूपसिंह ने दारा का पक्ष लिया था। औरङ्गज़ेब की फौज को काटते काटते वे उसकी सवारी के हाथी तक जा पहुँचे, और वहाँ पैदल होकर हौदे की रस्सियाँ तलवार से काटने लगे। यह देख कर बहुत से आदमी उन पर टूट पड़े और उनके टुकड़े टुकड़े कर डाले। जैसा वीरतापूर्ण इतिहास है,वैसे ही वीरता पूर्ण भाषा में यह लिखा भी गया है। वीर रस का कवि ने ऐसा मौलिक, ओजपूर्ण और लोम हर्षण वर्णन किया है कि पढ़ते ही भुजाएँ फड़कने लगती हैं।

(६) **सत्य स्वरूप**—यह ग्रंथ वि० सं० १७६४ में बना था। यह वृन्द की अन्तिम रचना है। इसमें बादशाह औरंगज़ेब के मरने पर दिल्ली के तख़्त के लिए शाहज़ादा मौज़्ज़म (बहादुर शाह) आज़म, कामबख़्श आदि की लड़ाई का वर्णन है। इस युद्ध में कृष्णगढ़ के महाराज राजसिंह बहादुर शाह की ओर से लड़े थे। उनके हाथ से आज़म शाह के पक्ष के नवाब व राज, महाराजा आदि लड़ने वालों के १७ हौदे खाली हुए जिनमें दतिया के राजा दलपत और कोटा के महाराव राजा रामसिंह मुख्य थे। इस लड़ाई की विजय का सुयश राजसिंह ही को मिला। इतिहास की लग़ाम को मानते हुए

भी कवि ने अपनी प्रतिभा से सत्यस्वरूप को एक उच्चकोटि का काव्य-ग्रंथ बना दिया है। भाषा, भाव, छंद और शब्द विन्यास, सभी का इसमें अपूर्व सम्मिलन है। विस्तार में तो यह ग्रंथ वचनिका से बड़ा है ही, साथ ही उसकी अपेक्षा इसकी कविता भी अधिक पुष्ट और भावमयी है।

उपरोक्त छः बड़े ग्रन्थों के अतिरिक्त वृन्द लिखित पवन पचीसी, हितोपदेशाष्टक, भारत-कथा और हितोपदेश संधि, ये चार छोटे ग्रंथ और मिले हैं। इनकी कुछ कविताएँ नीचे उद्धृत की जाती हैं:—

आप बरद बाहन बरद, कर त्रिसूल हर सूल।
अहितन अहितन हितन कर, सिव प्रभु सिव सुख मूल॥
दीन बीनती दीन-पति, मानहु परम प्रवीन।
हम से अपराधन को, करिये अपराधीन॥
कुहुकि घूमि चूमैं चुगै, रहै परेवी संग।
अरे परेवा काम को, तू सुख लेत बिहंग॥
रह्यौ सबूरी साधि कै, चतुर परेवा जानि।
परी परेवी नीड़ दिव, कांकर साकर मानि॥
रागी औगुन ना गनत, यहै जगत की चाल।
देखो सब ही स्याम कूँ, कहत बाल सब लाल॥
रस अनरस समझै न कछु, पढ़ै प्रेम की गाथ।
बीछू मन्त्र न जानहीं, साँपहि डारे हाथ॥

कोप अति आना मेदपाट पति सों रिसाना
चढ़ी जब सेना जहाँगीर जमराना की।
थहराना अमर समर में न ठहराना
बाना बिसराना सुनि धमक निसाना की॥
छोड़ छोड़ थाना रहा छप्पन में छाना छाना
दाना खाना की न सुधि रही ना खजाना की।
कोपि कै किशन खैग खुरन सों खूंदि खूंदि
दाना दाना दाना कर डारी धर राना की॥

पाऊँ जो हुकुम तो न लाऊँ बार एक पल
जहाँ पाऊँ तहाँ ते' ले आऊँ हेरि हेरि कै।
गढ़ चूरि, गिरि चूरि, सुभटन लसकर तोरि
सीधे करि डारों गज बाजि पेरि पेरि कै॥
सदन ते' बन माँहि, बन तैं छप्पन माँहि,
छप्पन तैं घेरि औ घाटिन में घेरि घेरि कै।
रूप कहै खग्ग तैं गुमान सों खिसानो करि
फिरकी फिरत ज्यों फिराऊँ फेरि फेरि कै॥
नैननि की जोति जो लौं नीकै कै निहार हरि,
सुन ले पुरान जो लौं सुनै तुव कान है।
रसना रसीली जो लौं' रसत रसीले बैन,
तो लौं' हरि गुन गाय जो पै तूँ सुजान है॥
काँपे नाहिं कर तो लौं' भलो भाँति सेवा कर,
पायन प्रदच्छना दे जो लौं' बलवान है।
जरा जकरे तैं' कहा करि हो कहत वृन्द,
भज भगवान जो लौं' देह सावधान है

पटु पराग पट पीत, सुखद सुंदर तन सोहत।
बंसी बंस बजाय, सुमन खग-मृग मन मोहत॥
करि बिलास रस केलि, लता ललिता पुञ्जन में।
सदन सदन संचरत, धीर बिचरत कुंजन में॥
जल न्हात पद्मिनी बास, हर, चढ़त सुविटप कदंब पर।
माधव स्वरूप माधव पवन, कहत वृन्द आनन्द कर॥

(५) कुलपति मिश्र—ये माथुर चौबे थे। कोई २ इन्हें बिहारीसतसई के रचयिता—बिहारी लाल के भानजे बतलाते हैं। इनके पिता का नाम परशुराम था। ये आगरे के रहने वाले थे और जयपुर के महाराजा जयसिंह जी के पुत्र राम सिंह जी के आश्रित थे। इनका जन्म और मृत्युकाल अनिश्चित है। इन्होंने सात ग्रंथ बनाये, जिनमें रस-रहस्य बहुत प्रसिद्ध है:—

(१) दुर्गा भक्ति चन्द्रिका (२) द्रोणपर्व (३) गुण रस रहस्य (४) संग्राम सार । (५) युक्तितरंगिणी (६) नख शिख (७) रस रहस्य।

कुलपति संस्कृत के भारी विद्वान थे। मम्मट के काव्य प्रकाश के आधार पर इन्होंने रस रहस्य की रचना सं० १७२७ में की थी। इसमें काव्यांगों का बहुत सुन्दर निरूपण है। कुलपति की भाषा शुद्ध ब्रज-भाषा है, पर प्राकृत-मिश्रित-भाषा के उदाहरण भी इनकी रचना में यत्र तत्र मिलते हैं। इन्होंने अपने आश्रयदाता रामसिंह जी की प्रशंसा में बहुत से छन्द दिये हैं, जिनमें अलंकारों का लक्षण-लक्ष्य-समन्वित बहुत रोचक स्पष्टीकरण हैं। अलङ्कारों में इन्होंने उपमा को मुख्य माना है। इनका एक उदाहरण:—

ऐसिय कुंज बनी छबि पुंज, रहै अलि गुंजत यौं सुख लीजै,
नैन विसाल हिये बन माल, बिलोकत रूप-सुधा भरि पीजै।
जामिनि जाम की कौन कहै, जुग जात न जानिये ज्यौं छिन छीजै,
आनँद यौं उमग्योई रहै पिय, मोहन को मुख देखिवो कीजै॥

(६) **मानकवि**—इनके जन्म, वंश, माता, पिता आदि का वृत्तान्त अंधकार में है। कुछ लोग इन्हें जाति के भाट और कुछ जैन यति बतलाते हैं। पर यह सब अनुमान ही अनुमान है। हाँ, इतना अवश्य निश्चित है कि ये राजस्थान के कवि थे, मेवाड़ के महाराणा राजसिंह के समकालीन थे, और इन्होंने राज-विलास नामक एक काव्य-ग्रंथ बनाया था, जिसकी समाप्ति वि० सं० १७३० में हुई थी। पर इससे आगे जो कुछ भी इनके सम्बन्ध में कहा जाता है वह सब निराधार है।

मान कवि का बनाया हुआ राज-विलास एक बहुत प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह एक वीर रसात्मक काव्य है और अठारह विलासों अथवा अध्यायों में समाप्त हुआ है। ग्रंथारंभ में सीसोदिया वंश का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है और मुख्य कथा महाराणा राजसिंह की गद्दीनशीनी (वि० सं० १७०९) के बाद से शुरू होती है। इस ग्रंथ में महाराणा राजसिंह के राजत्व काल की प्रायः सभी प्रधान प्रधान घटनाओं का समावेश हो गया है, पर इसका अधिक भाग महाराणा राजसिंह तथा औरंगज़ेब के युद्ध-वृत्तान्तों से रंगा हुआ है।

महाराणा राजसिंह ने मेवाड़ के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी सामग्री एकत्र करवाकर उसके आधार पर रणछोड़ भट्ट नामक एक पंडित से 'राजप्रशस्ति' नामक एक महाकाव्य संस्कृत में लिखवाया था, जो राज समुद्र के बांध पर लगी हुई २५ शिलाओं पर खुदा हुआ है। यह संस्कृत काव्य अन्य काव्यों की तरह कवि कल्पना प्रसूत नहीं है, बल्कि इस में संवतों के साथ साथ ऐतिहासिक घटनाओं का विशद वर्णन है।* मानकृत राजबिलास में वर्णित घटनाएँ इस राज प्रशस्ति महाकाव्य की घटनाओं से भी बहुत कुछ मेल खाती हैं। परन्तु एक इतिहासकार और कवि के क्षेत्र भिन्न भिन्न होते हैं; इसलिये एक इतिहास ग्रंथ तथा काव्य ग्रंथ में जितना अंतर होना चाहिये उतना राज प्रशस्ति महाकाव्य और राजविलास में भी है।

मान कवि एक प्रतिभावान कवि थे। अपने काव्य सम्बन्धी ज्ञान का इन्होंने बहुत ही मर्यादा के साथ प्रयोग किया है। इनकी भाषा सालंकार, वर्णन शैली सुखद तथा कविता कर्ण-मधुर है; और वीर रस के सिवा शृंगार, शान्त आदि रसों का निरूपण भी इन्होंने बहुत सफलता से किया है।

इनकी कविता का नमूना देखिये:—

राजसिंह महाराण पुहुविपत्ति अप्प कुंवरपन।
विपुल लगायो बाग वियो बसुधा नन्दन-बन ॥
प्रवर कोटि तिन परधि झुंड सतपत्र कनक झर।
वृद्धि तहां वापिका कहीं सनमुख दच्छन कर ॥
निजनगर उदयपुर निकट तें अगिन कोन घां अक्खियै।
सब रितु विलास तसु नाम सति नयन सुमहल निरीखियै ॥
ऊचलि गयो अगरो दन्द मच्यौ अति दिल्लिय।
हाजीपुर परिहक डहकि लाहौर सु डुल्लिय ॥
थरस लयौ रिनथंभ धसकि अजमेर सु धुज्जिय।
सुनौ भयौ सिरौंज भगग भै लसा सुभज्जिय ॥
अहमदाबाद उज्जैनि जन थाल मूंग ज्यों थरहरिय।
राजेसराणसुपयान सुनि पिशुन नगर खरभर परिचय ॥

* ओझा; राजपूताने का इतिहास; पृ० ८८७

(८) **जोधराज**—ये आदि गौड़ कुलोत्पन्न अत्रिगोत्रीय ब्राह्मण थे और अपने समय के प्रसिद्ध कवि होने के सिवा एक अच्छे ज्योतिषी भी थे। इनके पिता का नाम बालकृष्ण था और अपने आश्रयदाता नीमराणा के अधिपति महाराज चन्द्रभानु की आज्ञा से इन्होंने हम्मीररासो लिखा, जो सं० १७८५ में समाप्त हुआ था—

चन्द्र नाग बसु पंचगिनि, संवत माधव मास।
शुक्ल सत्रतिया जीवजुत, ता दिन ग्रंथ प्रकास॥

हंमीर रासो नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इसमें चौहान कुलभूषण महाराज हंमीर की वंशावली, उनका अलाउद्दीन से बैर, उनकी वीरता, उनके युद्ध-कौशल, उनकी मृत्यु आदि का यथाक्रम तथा विस्तृत वर्णन है और लगभग १००० छन्दों में समाप्त हुआ है। रासो का ढांचा ऐतिहासिक है पर काव्योपयोगी बनाने की लालसा से कवि ने कथा-वस्तु में परिवर्तन भी यत्रतत्र किया है। हंमीर का जन्म जोधराज ने वि० सं० ११४१ में होना लिखा है, जो ठीक नहीं है। इसी प्रकार हंमीर के आत्महत्या करने तथा अलाउद्दीन के समुद्र में कूद कर मर जाने की कथाएँ भी अनैतिहासिक और प्रमाण-शून्य हैं। हंमीर रासो में जोधराज ने तीन व्यक्तियों—हंमीर, अलाउद्दीन, तथा महिमाशाह, के चरित्रों का विकसित करने का उद्योग किया है और इसमें इन्हें अच्छी सफलता मिली है; विशेषतः हंमीर के चरित्र-चित्रण में। हंमीर जैसे वीर और स्वदेशाभिमानी पुरुष का जिस ढंग से वर्णन होना चाहिये उसी ढंग से रासो में हुआ है। हंमीर और अलाउद्दीन का स्वर्ग में सम्मेलन कराकर कवि ने पाठकों का ध्यान शायद हिन्दू-मुस्लिम एकता की ओर आकर्षित किया है। पर समझ में नहीं आता कि ऐसा करने से उनका वास्तविक अभिप्राय क्या था? यदि अलाउद्दीन जैसा नृशंस, हृदय-हीन तथा पतित मनुष्य भी मरने के पश्चात् स्वर्ग में पहुँचता है तो फिर नरक है किस के लिये?

हंमीर रासो एक वीररसप्रधान काव्य ग्रंथ है। पर शृंगार की अद्भुत छटा भी इसमें इधर उधर दीख पड़ती है। इससे मालूम होता है कि

जोधराज का शृंगार और वीर दोनों ही रसों पर अच्छा अधिकार था। इन्होंने प्रकृति-वर्णन तथा ऋतु-वर्णन भी बहुत अच्छे ढंग से किया है। इनकी कविता देखिये: —

मिले बंधु दोउ धाय। बहु हरष कीन सुभाय॥
अब स्वामि धर्म सुधारि। दोउ उठे वीर हँकारि॥
असमान लग्गिय सीस। मनौं उभै काल सदीस॥
इत कोप महिमा कीन्ह। हम्मीर नौन सुचीन्ह॥
उत मीर गभरू आय। मिलि सेख के परि पाँय॥
कर तेग वेग समाहि। रहि दूहूँ सेन सचाहि।
कम्मान लीन सुहत्थ। जनु सार कार सुपत्थ॥
धरि स्वामि काज समत्थ। दोउ उभै जुद्ध सपत्थ॥
दुहुँ द्वन्द्व जुद्ध सुकीन। मनु जुरे मल्ल नवीन॥
तरवारि बज्जिय ताय। मनु लगी ग्रीषम लाय॥
करि चरण सीस रुहत्थ। परि लुत्थ जुत्थ सुतत्थ॥
घमसान थान सु धीर। धर धरनि खेलत वीर॥
गजराज लुट्टत भुम्मि। बहु तुरंग परत सु झुम्मि॥
बिय बीर बज्जिय सार। तरवार बरसहु धार॥
दोऊ भ्रात स्वामि सकाम। जग में किये अतिनाम॥
दोहु वीर देखत दूर। चढ़ गए मुख अति नूर॥
दल दोय दिख्खत वीर। पहुँचे बिहस्त गहीर॥

तजिये तप पावस बित्ति सबं। ऋतु शारद बादर दीस अबं॥
सरिता सर निम्मल नीर बहैं। रस रंग सरोज सुफुल्लि रहैं॥
बहु खंजन रंजन भृंग भ्रमैं। कलहंस कलानिधि बेद भ्रमैं॥
बसुधा सब उज्जल रूप कियं। सित वासन जानि बिछाय दियं॥
बहु भाँति चमेलिय फूलि रही। लखि मार सुमार सुदेह दही॥
बन रास बिलास सुबास भरैं। तिय काम कमान सुतानि धरैं॥
भ्रमणें पर तैं नर काम जगै। बिरही सुनिकै उर घाव खगै॥
धर अंबर दीपक जोति जगी। नर नारि लखैं उर प्रीति पगी॥

(८) भक्तवर नागरी दास—किशनगढ़ के महाराजा सावन्त सिंह उपनाम नागरीदास का जन्म वि० सं० १७५६ पौष सुदी १२ को हुआ था। महाराजा राजसिंह इनके पिता और मानसिंह दादा थे। अपने पिता के पाँच पुत्रों में सावन्तसिंह तीसरे थे। इनका विवाह भानगढ़ के राजा यशवन्त सिंह की कन्या से हुआ था, जिन से इनके चार सन्तति हुईं, दो कन्याएँ और दो पुत्र। सावन्तसिंह बचपन ही से बड़े भावुक और तीव्र बुद्धि थे। स्मरण-शक्ति इनकी इतनी अच्छी थी कि प्रत्येक बात एवं पाठ को बहुत शीघ्र सीख लेते थे। ये अस्त्र-शस्त्र संचालन में परम प्रवीण थे, और लक्ष्य वेध में, सूक्ष्म से सूक्ष्म निशाना-वेधने में बड़े सिद्धहस्त थे। इन्होंने दो अंगुल चौड़े बाढ वाली एक नये ढंग की तलवार निकाली थी जिसे सावन्त शाही बाढ़ कहते हैं। वीर, निडर एवं साहसी ये इतने थे कि दश वर्ष की आयु में इन्होंने एक मतवाले हाथी को तलवार की एक चोट से विचलित कर दिया था और तेरह वर्ष की अवस्था में बूंदी के हाड़ा जैतसिंह को मारा था। अठारह वर्ष की उम्र में थूंण की गढ़ी जैसे अभेद्य दुर्ग को जीतकर वीर सावन्त सिंह ने अपनी समर-पटुता, साहस एवं शौर्य से लोगों को विस्मित कर दिया था—

वरष अठारह माँझ बड़ो ही विक्रम कीनौं।
पातिसाह के लखत फौज मारी जस लीन्हौं॥
थूणजीति निज हाथ लोह कीने रनवीरं।
बहुर दूसरी बार लोह लग निजतन धीरं॥
शत्रुहिं विडारि कीनी फते श्रीनाथ कृपा ऐसो अडर।
कह राय कवि जग जस प्रगट, धन्य धन्य सावंत कुंवर॥

महाराज राजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र सुखसिंह राजगद्दी का मोह छोड़ कर साधु हो गये थे और दूसरे कुंवर फतहसिंह का देहान्त अपने पिता के जीवन काल ही में हो गया था। इसलिये सावन्तसिंह का अब राज्यसिंहासन पर अधिकार था, और वास्तव में शासन-कार्य-सञ्चालन की पूर्ण योग्यता भी इनमें विद्यमान थी। परन्तु, दैव दुर्विपाक से सावन्त सिंह को एक दिन के लिए भी राज्य-सुख भोगने का अवसर प्राप्त न हुआ। बात यह हुई कि वि० सं० १८०५ में जब इनके पिता महाराज राजसिंह का देहान्त हुआ तब से ये दिल्ली में थे।

वहीं बादशाह अहमदशाह ने इन्हें किशनगढ़ राज्य का उत्तराधिकारी नियत किया। परंतु इनकी अनुपस्थिति में इधर इनके छोटे भाई बहादुर सिंह किशन गढ़ के राजा बन बैठे। भाई के अनधिकार प्रयत्न की सूचना जब सावन्त सिंह को दिल्ली में मिली तब एक महती सेना को लेकर उनसे लड़ने के लिए ये किशनगढ़ आये। दोनों भाइयों की सेनाओं में भयंकर युद्ध और रक्तपात हुआ। परंतु बहादुरशाह की सेना ने इन्हें किशन गढ की सरहद में पाँव न रखने दिया। निराश होकर ये दिल्ली लौट गये और वहाँ से अपने राज्य को पुनः हस्तगत करने का उद्योग करते रहे। मुग़ल साम्राज्य के ढलते दिन थे और अहमदशाह की अवस्था उस समय अत्यन्त ही दयनीय थी। इसलिए वह इन्हें यथेष्ट सहायता न दे सका। दिल्ली में अधिक दिन तक रहना व्यर्थ समझ तथा मरहठों से सहायता प्राप्त करने की आशा से ये दक्षिण की ओर जाने को रवाना हुए। जब वृन्दावन पहुँचे तब वहाँ हरिदास नामक एक वैष्णव ने इन्हें कहा कि अब आप को राज्याधिकार प्राप्त हो ऐसा योग नहीं है और अवस्था भी आपकी पचास से ऊपर हो गई है। इसलिए सब झंझटों को छोड़ कर भगवद्भजन करो और अपने कुंवर को राज्य-प्राप्ति के लिए उद्योग करने दो। यह सुन कर आप तो वहीं रह गये और अपने पुत्र सरदार सिंह को मरहठों की सेना देकर बहादुर सिंह के विरुद्ध लड़ने को भेजा। बहुत लड़ाई के बाद बहादुर सिंह ने किशन गढ़ का आधा राज्य सरदार सिंह को दे दिया, जिसमें सरवाड़, फतहगढ़ और रूप-नगर के तीनों परगने सम्मिलित थे। सावन्त सिंह ने वृन्दावन से आकर आश्विन सुदी १० सं० १८१४ के दिन सरदार सिंह का राजतिलक किया।

पुत्र का राज्याभिषेक हो जाने के पश्चात् सावन्त सिंह वृन्दावन वापस चले गये और कृष्ण-भक्ति में लीन रहने लगे। जब कभी एक आध दिन के लिए आते भी थे तो कृष्णगढ़ में इनका मन नहीं लगता था। अन्तिम बार यह कवित्त कह कर वृन्दावन की ओर चले गये और आजीवन न लौटे—

ज्यौं ज्यौं इत देखियत मूरख विमुख लोग,
त्यौं त्यौं व्रजवासी सुखरासी मन भावै हैं।

खारे जल छीलर दुखारे अन्ध कूप चितै,
कालिन्दी कूल काज मन ललचावे हैं ॥
जेती इहैं बीतत सो कहत न बनत बैन,
नागर न चैन परै प्राण अकुलावे हैं ।
थूहर, पलास, देख देख के बबूल बुरे,
हाय हरे हरे वे कदम्ब सुध आवै हैं ॥

वीर विद्वान एवं भक्त होने के अतिरिक्त सावन्त सिंह कला-प्रेमी भी पूरे थे। संगीत, चित्रकारी, काव्य आदि ललित कलाओं से इन्हें बड़ा प्रेम था और इनकी बारीकियों को ये समझते भी खूब थे। इसके सिवा कई उच्च कोटि के कवि भी इनके साथ आवास करते थे, जिनमें वल्लभ जी, हरिचरणदास, हीरालाल, कनीराम, पन्ना लाल, और बिजयराम के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। ये वल्लभ संप्रदाय के श्री गोस्वामी रणछोड़ दास जी के शिष्य थे, और ब्रजभाषा, ब्रज भूमि तथा ब्रजपति के अनन्य उपासक थे। इनकी कविता से वृन्दावन के प्रति इनकी अखंड भक्ति टपकती है। इन्हें संस्कृत, फारसी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था, और कविता में अपना नाम नागरी, नागर, नागरीदास और नागरिया रखते थे। इन्होंने कुल मिला कर ७५ ग्रंथों की रचना की, जिनके नाम निम्न हैं:—

(१) सिंगार सागर (२) गोपी प्रेम प्रकाश (३) पद प्रसंग माला (४) ब्रज वैकुण्ठ तुला (५) ब्रज सार (६) भोरलीला (७) प्रात रस मञ्जरी (८) बिहार चन्द्रिका (९) भोजनानन्दाष्टक (१०) जुगल रस माधुरी (११) फूलविलास (१२) गोधन आगमन (१३) दोहन आनन्द (१४) लग्नाष्टक (१५) फाग विलास (१६) ग्रीष्म बहार (१७) पावस पचीसी (१८) गोपीबैन विलास (१९) रास रसलता (२०) रैन रूपरस (२१) शीतसार (२२) इश्क चमन (२३) मजलिस मडन (२४) अरिलाष्टक (२५) सदा की माँझ (२६) वर्षा ऋतु की माँझ (२७) होरी की माँझ (२८) कृष्ण-जन्मोत्सव कवित्त (२९) प्रियाजन्मोत्सव कवित्त (३०) साँझी के कवित्त (३१) रास के कवित्त (३२) चाँदनी के कवित्त (३३) दिवारी के कवित्त (३४) गोवर्धन धारण के कवित्त (३५) होरी के कवित्त (३६) फाग गोकुलाष्टक

(३७) हिंडोरा के कवित्त (३८) वर्षा के कवित्त (३९) भक्त मग दीपिका (४०) तीर्थानन्द (४१) फाग विहार (४२) बाल विनोद (४३) सुजनानन्द (४४) वन विनोद (४५) भक्तिसार (४६) देहदशा (४७) वैरागवल्ली (४८) रसिक रत्नावली (४९) कलिवैराग वल्लरी (५०) अरिल्ल पच्चीसी (५१) छूटक विधि (५२) परायण विधि प्रकाश (५३) शिखनख (५४) नखशिख (५५) छूटक कवित्त (५६) चरचरियाँ (५७) रेखता (५८) मनोरथमञ्जरी (५९) रामचरित माला (६०) पद प्रबोधमाला (६१) जुगुल भक्तिविनोद (६२) रसानुक्रम के दोहे (६३) शरद की साँझ (६४) साँझी फूल बीनन समेत संवाद (६५) फाग खेलन समेतानुक्रम कवित्त (६६) वसंत वर्णन (६७) रसानुक्रम के कवित्त (६८) निकुंजविलास (६९) गोविन्द परचई (७०) बन जग प्रशंसा (७१) छूटक दोहा (७२) उत्सवमाला (७३) पद मुक्तावली (७४) बैन विलास (७५) गुप्त रस प्रकाश।

उपरोक्त ग्रंथों के अतिरिक्त इनके लिखे 'धन्य धन्य' तथा 'ब्रज संबंधी नाममाला', दो और ग्रन्थों का पता लगा है।

नागरी दास शृंगारी भक्त एवं प्रेमी जीव थे। विधाता ने इन्हें कवि-हृदय प्रदान किया था। अतः शृंगार का पूर्ण परिपाक इनकी रचनाओं में विद्यमान है। वैष्णव सम्प्रदाय के कृष्णोपासक भक्त कवियों के समान इन्होंने भी राधाकृष्ण की प्रेमलीला विषयक शृङ्गार रसात्मक कविताएँ अधिक संख्या में रची हैं; पर ईश्वर-भक्ति के नाम पर शृंगार रस की पिपासा शान्त करने की प्रवृत्ति कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। विशुद्ध शृंगार के साथ २ कृष्ण भक्ति की उत्ताल तरङ्गे इनकी कविता में प्रवाहित हो रही हैं और उसमें कुछ ऐसा माधुर्य्य, ऐसा रस एवं जादू है कि जो कोई उसे एक बार भी पढ़ लेता है वह सदैव के लिये नागरीदास का बन जाता है। नागरीदास नैसर्गिक कवि थे। इनकी कविता में न तो परिश्रम की झलक है, न दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न और न पाण्डित्य-प्रदर्शन की रुचि। सीधी बात को सीधे ढङ्ग से कहकर इन्होंने हृदय की सुकुमार वृत्तियों को छेड़ने का उद्योग किया है। भाषा और भाव दोनों में सादगी, सहृदयता और प्रेम जनित मस्ती है। दोनों ही बड़े प्रेम से गले मिले हुए हैं। कृष्ण की मुरली के प्रति गोपियों की उपालम्भ पूर्ण कुछ उक्तियाँ देखिए :—

मुख मूंदे रहु मुरलिया, कहा करत उतपात।
तेरे हाँसी घर बसी, औरन के घर जात ॥१॥
बाजे मति मति बाँसुरी, मति पिय अधरन लागि।
अरी घर बसो देत क्यों, रोम रोम में आगि ॥२॥
पीय लियो पिय मन लियो, लियो अधर रस झूम॥
इतौ लयो तैं कहा दियो, बैरनि बंसी सूम ॥३॥
गांठ गठीले बांस की, महा द्रोह की खान।
मति मारैरी मुरलिया, तानन विष के बान ॥४॥

भक्तवर नागरीदास का गोलोकवास वि० सं० १८२१ भादों सुदी ५ को वृन्दावन में कृष्णगढ़ राज्य की कुंज में, जो नागर कुञ्ज के नाम से प्रसिद्ध है, हुआ था। वहाँ पर इनकी समाधि, चरणचिन्ह आदि विद्यमान हैं, जिनकी अभी तक पूजा होती है। कृष्णगढ़ राज्य की ओर से नागर कुंज में २५ मनुष्यों को हमेशा सदावर्त मिलता है, और जब कभी महाराज साहब का उधर पधारना होता है तब वे स्वयं नागरीदास के चरणचिन्हों की पूजा करते हैं। समाधि में निम्न लिखित छप्पय खुदा हुआ है :—

सुत को दे युवराज आप वृन्दावन आये।
रूपनगर पति भक्ति वृन्द बहु लाड़ लड़ाये॥
सूरवीर गंभीर रसिक रिझवार अमानी।
संत चरनामृत नेम उदधि लौं गावै बानी॥

नागरीदास जग विदित सो कृपा ढार नागर ढरिय।
सांवन्त सिंह नृप कलिविषै सत त्रेता सम आचरिय॥

नागरीदास की कविता देखिये :—

देवन के औ रमापति के दोऊ धाम की वेदन कौन बढ़ाई।
शंख रु चक्र गदा पुनि पद्म स्वरूप चतुरभुज की अधिकाई॥
अमृत पान विमानन बैठवौ नागर के जिय नेक न भाई।
स्वर्ग बैकुंठ में होरी जो नाहीं, तो कोरो कहा ले करैं ठकुराई॥

भादौं की कारीअँध्यारी निसा झुकि बादर मन्द फुही बरसावै।
स्यामाजू आपनी ऊँची अटा पै छकी रस रीति मलारहिं गावै॥
ता समै मोहन के दृग दूरतें आतुर रूप की भीप यों पावै।
पौन मया करि घूंघट टारि दया करि दामिनि दीप दिखावै॥

गहिबो अकासन कौ लहिबौ अथाह थाह,
अति विकराल व्याल कलि को खिलायबौ।
ढाल तरवार औ तुपक पर हाथ बान,
गज मृगराज दोनुं हाथन लरायबौ॥
गिरतें गिरत पंच ज्वाल में जरत पुनि,
कासी में करौत तन हिम में गरायबौ।
विषम विप पीबौ कछु कठिन न नागर कहै,
कठिन कराल एक नेह को निभायबौ॥

जो मेरे तन होते दोय।

मैं काहू तें कछु नहिं कहतो मोतें कछु कहतो नहिं कोय॥
एक जो तन हरि-विमुखन के संग रहतो देस विदेस।
विविध भाँति के जग दुख सुख जहँ, नहीं भक्ति लवलेस।
एक जो तन सतसंग रंग रंगि रहतो अति सुख पूर॥
जनम सफल करि लेतो ब्रज बसि जहँ ब्रज जीवन मूर।
द्वै तन बिन द्वै काज न ह्वै हैं, आयु तौ छिन छिन छीजै।
नागरिदास एक तन तें अब कहौ कहा करि लीजै॥

(६) सोमनाथ—इनका रचना काल सं० १७९० से १८१० तक माना जाता है। ये माथुर ब्राह्मण थे और भरतपुर के राजा बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के यहाँ रहते थे। इन्होंने सं० १७९४ में रसपीयूषनिधि नामक एक रीति ग्रन्थ लिखा जिसमें कविता के लक्षण, प्रयोजन, भेद, ध्वनि, भाव, रस, गुण, दोष, अलंकार आदि का विस्तृत वर्णन है। इसके सिवा इनके सुजान विलास, माधवविनोद कृष्णलीलावली, पंचाध्यायी, दशमस्कन्ध भाषा, ध्रुव विनोद, राम कलाधर, वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, अयोध्याकाण्ड

तथा सुन्दरकांड नामक ग्रन्थों का पता भी चलता है। सोमनाथ की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है और शब्दाडंबर के फेर में न पड़कर इन्होंने अपने विषय को बहुत ही सरल और सहज बोधगम्य ढंग से समझाया है। इनका एक कवित्त देखिए :—

दिसि बिदिसनि तें उमड़ि मढ़ि लीनों नभ,
छाँडि दीने धुरवा, जवासे-जूथ जरिगे।
ढहडहे भये द्रुम रंचक हवा के गुन,
कहूँ कहूँ मोरवा पुकारि मोद भरिगे॥
रहि गए चातक जहाँ के तहाँ देखत ही,
सोमनाथ कहै बूँदा बाँदी हू न करिगे।
सोर भयो घोर चहुँ ओर महि मण्डल में,
आए घन आए घन, आयकै उघरिगे॥

(१०) दलपति राय और बंसीधर—ये दोनों अहमदाबाद के रहने वाले थे। इनमें दलपतिराय जाति के महाजन और बंसीधर ब्राह्मण थे। मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह जी की आज्ञा से इन्होंने अलंकार रत्नाकर नामक एक ग्रंथ सं० १७९८ में लिखा था :—

उदयापुर सुरपुर मनौं, सुरपति श्री जगतेस।
जिनकी छाया छत्र बस, कीनौं ग्रन्थ असेस॥
सतरै सै अठ्यानवें, माह पक्ष सितवार।
सुभ बसंत पाँचैं भयौ, यहै ग्रन्थ अवतार॥

अलंकार रत्नाकर पहली बार सं० १९३८ में राजयन्त्रालय उदयपुर में छपा था। इसमें अलंकारों का सोदाहरण विशद विवेचन है और अलंकार विषयक कुछ बातों को समझाने का उद्योग पद्य के साथ २ गद्य में भी किया गया है। यह महाराजा जसवन्त सिंह जी के भाषा भूषण की एक तरह से टीका है। ग्रंथारंभ में लिखा है कि कुवलयानंद का अर्थ तो दलपतिराय ने किया और कवित्त बंसीधर ने बनाये। पर दलपति राय के रचे हुए कवित्त-सवैया भी इसमें उपलब्ध हैं। इससे मालूम होता है कि ये दोनों ही उच्च कोटि के कवि थे तथा अलंकारों का इन्हें अच्छा ज्ञान था और हिन्दी

के प्रधान २ कवियों के ग्रंथ इन्होंने बड़े ध्यान से पढ़े थे। इनकी कविताएँ सुरुचि पूर्ण, सरल एवं कला समन्वित हैं और दोनों की विद्वत्ता तथा गंभीर अध्ययन का परिचय देती हैं। इनकी कविता का नमूना देखिये:—

अलकें अतिलोल अमोल महा चल कुंडल जोत छटा बरसैं।
चल हार हियें बिथुर्‌यौ कचभार औ स्वेद कपोलन पैं दरसैं॥
अति लेत उसास बिलास महाचल चारू नितंबन कों सरसैं।
सिल धन्य हैं पीसत दार जुनार अमंद अनन्द धरैं परसैं॥

—दलपतिराय

हौं नवला गुन रंग रंग्यो नव पल्लव कौ तुहि रंग दियौ हैं।
दोउन कौ तन बीर मनौं भव चाप शिलीमुख छाय लियौ हैं॥
लागत नारि कौ पाय दुहूँन के मोह महा जुन होत हियौ हैं।
मोहि ससोक कियौ इहिं लोक मैं तोहि असोक असोक कियौ हैं।

—बंसीधर

(११) करणी दान कविया—ये कविया शाखा के चारण मेवाड़ के शूलवाड़ा* गाँव के रहने वाले थे। कर्नल टॉड ने इन्हें कन्नौज का चारण बतलाया है, जो ठीक नहीं है। ये जोधपुर के महाराजा अभयसिंह जी के (सं० १७८१-१८०६) समकालीन थे। इन्होंने सूरज प्रकाश नाम का एक बहुत भारी ग्रंथ ७५०० छन्दों में लिखा था, जिस पर मुग्ध होकर महाराजा अभयसिंह जी ने इन्हें लाख पसाव तथा कविराजा की उपाधि दी और हाथी पर बिठाकर स्वयं उन्हें पहुँचाने के लिये उनके साथ डेरे तक गये थे। इस सम्बन्ध में अभी तक यह दोहा राजस्थान में प्रसिद्ध है:—

अस चढ़ियो राजा अभौ, कवि चाढ़े गजराज।
पौहर एक जलेब में, मौहर चले महराज॥

सूरज प्रकाश चारण भाटो की प्रथाबद्ध रीति पर लिखा हुआ एक ऐतिहासिक ग्रंथ है। इसकी वंशावली में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से लगाकर महाराजा अभयसिंह तक के मारवाड़ के राजाओं का वर्णन है जिसमें नरेशों के नाम ही नहीं गिनाये हैं, बल्कि उनके समय की वास्तविक घटनाओं को चित्रित

* वीरविनोद; पृ० ८४६

करने का उद्योग किया गया है। भगवान रामचन्द्र के वर्णन में तो कवि ने एक छोटा मोटा रामायण ही लिख डाला है। कर्नल टॉड ने अपने इतिहास में सूरज प्रकाश की बहुत प्रशंसा की है और मारवाड़ राज्य के इतिहास के लिखने में इसका बहुत उपयोग किया है। महाराजा अभयसिंह को सुनाने के लिये करणी दान ने सूरज प्रकाश का सारांश एक दूसरे छोटे ग्रंथ के रूप में १२६ पद्धरी छन्दों में लिखा था, जिसका नाम बिड़द सिणगार है। ये दोनों ग्रंथ अभी तक अमुद्रित हैं।

इनकी कविता का थोड़ा सा अंश देखिये:—

(दोहा)

भार अरथ कवि भारवी, कायब कियो किरात।
मल्यनाथ टीका मही, वळे लिखी आ वात॥

(छप्पय)

वळे लिखी आ वात, विमळ मल्लिनाथ ब्रहामण।
श्री सुर मंगळ सबद, आदि कहियां नह अवगुण॥
ऐ त्रिहुं सबद उदार, आदि गुण रै में आंणै॥
श्री पति मंगल सरूप, ब्रह्म चत्रु वेद बखांणैं॥
कवि वेदव्यास वलमीक कवि, करि अस्तुति वंदण कियौ।
सूरज प्रकास सूरज जिसौ, अभमल गुण आरंभियौ॥

(छंद पद्धरी)

अनि सुकवि कोइक पूछै अभास, किण अरथ नाम सूरज प्रकास।
जिण जतन काजि सांचौ जबाब, संजुगत अरथ दाखै सताब॥
तिम कसिप सुकवि मन सोहिज तात, माता अदित्य यम सुबध्य मात।
यां हूँत हुआ तप जप उदार, परिहार निसा जड़ता प्रहार॥
चक हेक सु रथ बक हेक चाव, सारथी अरुण बरणन सुभाव।
इण भांति रूप उजळ अरोहि, सपतास तुरँग जिम उछव सोहि॥
ऊगतां अनै कहतां उदार, प्रफुलंत कमल कवि मुख अपार।
जोवतां कुमुद कुमलाइ जाइ, सुणतांज कुकवि चख धर समाइ॥

सँत करँ देखि ध्यानह सनांन, दातार सूर सुणि करै दांन।
म्रि (प्र) हराज किरणि जिम वांणि ग्रंथ, प्रेरक सकति कवि रसण पंथ॥
निसचरां जेम दूजा नरेस, सुणि दबै सूंब कायर जिकेस।
सूरज समांन जग जस उजास, यौ हौ ग्रंथ नाम सूरज प्रकास॥

(१२) स्वामी श्रीहित वृन्दावन दास—ये पुष्कर क्षेत्र के रहने वाले गौड़ ब्राह्मण थे और वि० सं० १७६५ में पैदा हुए थे। राधा वल्लभीय गोस्वामी हित रूप जी इनके गुरू थे। इनके माता, पिता आदि के सम्बन्ध में अभी तक पता नहीं लग सका है। कवि कुलाभरण नागरी दास के भाई हादुर सिंह इन्हें बहुत मानते थे, इसलिए ये प्रायः किशनगढ़ ही में रहा करते थे। पर बाद में जब राज घराने में राज्य सम्बधी कई झगड़े उठ खड़े हुए तब ये किशनगढ़ छोड़ कर वहाँ से वृन्दावन चले गये और अन्त समय तक वहीं रहे। सं० १८४४ तक की इनकी रची कविताएँ मिलती हैं पर इसके बाद की नहीं मिलतीं। जिससे अनुमान होता है कि उक्त संवत् के आसपास किसी समय इन्होंने शरीर छोड़ा होगा।

जनश्रुति है कि वृन्दावन दास ने चार लाख पदों तथा छन्दों की रचना की थी। यदि इसमें कुछ सत्यांश है तो रचना प्राचुर्य्य की दृष्टि से ये सूरदास से भी बहुत आगे बढ़े हुए माने जा सकते हैं। नीचे इनके ग्रंथों के नाम दिये जाते हैं, जिनसे विदित होगा कि कृष्ण लीला सम्बन्धी कितने विभिन्न विषयों पर इन्होंने लिखा है:—(१) कृष्णगिरि पूजन बेली (२) श्री हितरूप चरित बेली (३) भक्ति प्रार्थनावली (४) चौबीस लीला (५) हिंडोरा (६) श्री ब्रज प्रेमानन्द सागर (७) कृष्ण गिरि पूजन मंगल (८) हरिनाम महिमावली (९) हित हरि वंशचन्द्रजू की सहस्र नामावली (१०) भाव विलास टीका (११) राधा सुधा निधि (१२) सेवक बानी (१३) रसिक यश वर्णन (१४) युगल प्रीति पचीसी (१५) आनन्द वर्द्धन बेलि (१६) नवम समय प्रबन्ध शृंखला (१७) कृष्ण सुमिरन पचीसी (१८) कृष्ण विवाह उत्कंठा (१९) रास उत्साह वर्द्धन (२०) इष्ट भजन पचीसी (२१) जगनिर्वेद पच... (२२) पद (२३) प्रार्थना पचीसी (२४) राधा जन्म उत्सव बेलि (२५) वृषभानु जस पचीसी (२६) राधा बाल विनोद (२७) लाड़ली जी की जन्म

बधाई (२८) हित कल्पतरू (२९) भक्त सुजस बेलि (३०) करूणा बेलि (३१) भँवर गीत (३२) लीला (इसमें छोटे छोटे ४५ ग्रंथ हैं) (३३) हरि-कला बेलि (३४) लाड़ सागर (३५) सेवक जी की विरूदावली (३६) छद्म षोड़शी (३७) रसिक अनन्य (३८) ख्याल विनोद (३९) ब्रज विनोद (४०) बेलि (४१) हितरूप चरितावली (४२) सेवक जी की परिचर्यावली।

इनके सिवा इन्होंने अष्टयाम, समय प्रबन्ध, अष्टक, बेली, पचीसी आदि भी कई लिखे हैं।

स्वामी वृन्दावन दास भगवान कृष्ण के अनन्य उपासक थे। इन्होंने श्रीकृष्ण के भोजन, शयन, रास आदि का बड़ा विशद वर्णन किया है। सब से बड़ी विशेषता जो इनकी रचना में हमें दीख पड़ती है वह है इनकी शुद्ध, सरल और व्यवस्थित ब्रज भाषा इनकी पदावली में कान्ति, माधुर्य्य और कोमलता है। पद विन्यास भी बहुत ललित तथा सुन्दर है। भावुक कवि के आराध्य देव के प्रति उठने वाली भाव तरंग का हृदय-ग्राही दृश्य हमें इनकी कविता में देखने को मिलता है।

इनका एक पद यहाँ दिया जाता है :—

हौं बलि जाऊँ मुख सुख रास।

जहाँ त्रिभुवन रूप सोभा, रीझि कियो निवास ॥
प्रतिबिम्ब तरल कपोल कमनी, जुग तरौना कान।
सुधा सागर मध्य बैठे, मनो रबि जुग न्हान ॥
छवि भरे नव कंज दल से, नेह पूरित नैन।
पूतरी मधु मधुप छौना, बैठि भूले गैन ॥
कुटिल भृकुटी अमित सोभा, कहा कहौं बिसेख।
मनहुं ससि पर स्याम बदरी, जुगुल किंचित रेख ॥
लसत भाल बिसाल ऊपर, तिलक नगनि जराय।
मनहु चढ़े बिमान ग्रह गन, ससिहि भेंटत जाय ॥
मन्द मुसुकनि दसन दमकनि' यामिनी दुति हरी।
वृन्दावन हित रूप स्वामिनि, कौन विधि रचि करी ॥

(१३) सूदन—हिन्दी के वीर रस के कवियों में सूदन का स्थान बहुत ऊँचा है। कोई कोई तो चन्द बरदाई के बाद इन्हीं को वीर रस का सर्वोत्कृष्ट कवि मानते हैं। पर दुःख है कि इनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में हिन्दी संसार को बहुत कम बातें अभी तक मालूम हुई हैं। इनके रचे सुजान चरित्र ग्रन्थ से भी केवल इतना ही सूचित होता है कि ये जाति के माथुर एवं मथुरा के निवासी थे और इनके पिता का नाम बसंत था :—

मथुरा पुर सुभ धाम, माथुर कुल उतपत्ति वर ॥
पिता बसंत सुनाम, सूदन जानहु सकल कवि ॥

सूदन भरतपुर के राजा सूरजमल उपनाम सुजानसिंह के दरबारी कवि थे। इन्होंने सुजान चरित्र नामक एक काव्य-ग्रंथ की रचना की, जिसमें सूरजमल के युद्धों का वर्णन है और संवत् १८०२ से १८१० तक की घटनाएँ कही गई हैं। इस ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट विदित होता है कि सूदन कई वर्षों तक राजस्थान में रहे थे, जिससे चारण कवियों का इन पर बहुत प्रभाव पड़ा; और अंत में उन्हीं की काव्य पद्धति पर इन्होंने भी अपने सुजान चरित्र की रूपरेखा तैयार की। यह ग्रन्थ जंगों में विभक्त है। प्रत्येक जंग में भी कई अंक हैं, जिनको किसी ख़ास नियम के अनुसार नहीं रखा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि सूदन ने आँखो देखी घटनाओं का वर्णन किया है, पर फिर भी काव्य ग्रन्थ होने से सुजान चरित्र का ऐतिहासिक महत्व उतना नहीं है, जितना कि होना चाहिये था। इतिहास-विरुद्ध बहुत सी बातें इसमें दृष्टिगोचर होती हैं। उदाहरणार्थ, एक स्थान पर सूदन ने सूरजमल का मेवाड़ को जीतना लिखा है जो निराधार है। वस्तुतः वि० सं० १८०२ और १८१० के बीच में किसी महाराणा का युद्ध ही सूरजमल के साथ नहीं हुआ। हार-जीत तो बहुत दूर की बात है।

सूदन की भाषा शुद्ध व्रजभाषा नहीं है। इस में राजस्थानी, पूरबी, पंजाबी आदि कई भाषाओं का पुट लगा हुआ है। केशवदास की तरह इन्होंने भी छंद बहुत जल्दी जल्दी बदले हैं और जिस स्थान पर जिस छंद का प्रयोग किया है वहाँ छंद-शास्त्र के नियमों का पूरी तरह से पालन किया है। अतएव एक तो छंदोभंग इनकी कविता में बहुत कम है, दूसरे गति भी अच्छी

है। इनकी वर्णन-शैली साधारण रूप से सजीव एवं कविता ओजस्विनी है, पर जैसा कि युद्ध की तैयारी के समय हथियारों तथा दिल्ली की लूट के समय बाज़ार के वर्णन में देखा जाता है, वस्तुओं की नामावली प्रस्तुत करने में कहीं कहीं ये इतने आगे बढ़ गये हैं कि पढ़ते पढ़ते जी ऊब जाता है।

इनकी कविता का थोड़ा सा अंश हम यहाँ देते हैं :—

जुटे रुहेले जट्टहीं । न कोई वीर हट्टहीं ॥
सुएक एक डट्टहीं । झपट्टहीं लपट्टहीं ॥
अनेक अग्ग बाट्टहीं । कितेक मार छाँट्टहीं ॥
किते परे कराट्टहीं । हकार सौं रपट्टहीं ॥
कहूँक हत्थ हत्थहीं । भरैं कहूँक बत्थहीं ॥
परे सुलत्थ पत्थहीं । समट्टि कैं चपट्टहीं ॥
उताल चाल हाल सौं । धवंत कोह ज्वाल सौं ॥
गहै कृवाल ढाल सौं । अरीनु कौं कपट्टहीं ॥
धमंकि धिग धावहीं । तमंकि तेग आवहीं ॥
झमंकि कै चलावहीं । बुलावहीं बल्लक्कि कैं ॥
कटंत कंध कुंडला । छुटंत बाहु डुंडला ॥
फटंत पेट रुंडला । ढुलावहीं ढलक्कि कैं ॥
लरैं कहूँ छुरा छुरी । परैं कबन्ध रातुरी ॥
कितेक टूटि जावुरी । हुलावहीं हलक्कि कैं ॥
भलक्कि भाल भालहीं । झलक्कि झाल झालहीं ॥
रलक्कि घाव घालहीं । घुलावहीं घलक्कि कैं ॥

लुटियौ लडुआ बहु भाँतिन के। जुकतौ अरु मोदक पाँतिन के ॥
कलकंद सुमेथिय मूँग दला। सिमई सत सूत मगद्द भला ॥
सुठि सेव सुअौरिहु गौंद गिरी। खुरमा मठरी भरि ली गठरी ॥
गुप चुप्प गुना गुल पापरियाँ। खजला सु खजूरि खड़ा परियाँ ॥
अमृती रु जलेबिनु पुंज लुटे। खिर सादर भिस्ति चुटे सुफुटे ॥
गुझिया गुल कंद गुलाब करी। तिरकौंनु सुहारिन मोट भरी ॥

बहु घेवर बाबर मालपुवा। अरु सेव कचौरिन लेत हुवा॥
हलुआ हिसमी बहु फेननु की। कतरी रसनासुख चैननु की॥
कहुँ लैत निवात बतासन कौं। सु गिंदौरन ए रनवासिन कौं॥
अरु खोवन ढेर बखेर दरा। बहु खांड खिलौनन लेत भरा॥
अरु लाडूचदाननु गोद भरैं। दधि दूधन के परसाद करैं॥
कुजतीतिल सक्कर रेवरियाँ। बहु पाक पुडार जु सेवरियाँ॥
पकवान जथा रुचि और घना। बुहरी परमल्ल सुखोल चना॥

१४—सुन्दर कुँवरि बाई राजस्थान की कवयित्रियों में सबसे प्रचुर कृति सुन्दर कुँवरि बाई की है। ये किशनगढ़ के महाराजा राजसिंह की पुत्री थीं। महाराजा राजसिंह ने दो विवाह किये थे। इनकी पहली रानी के गर्भ से सावंतसिंह उपनाम नागरी दास और बहादुरसिंह का जन्म हुआ था। जब महाराज की अवस्था लगभग ४५ वर्ष की थी तब, उक्त रानीजी का देहान्त होगया, जिससे इन्होंने जयपुर राज्य के लिवाण ठिकाने के जागीरदार आनन्द राम कछुवाहा की कन्या से दूसरा विवाह फिर किया था। इनके उदर से वि० सं० १७९१ में सुन्दर कुँवरि बाई का जन्म हुआ। जब बाई जी चौदह वर्ष की थीं, इनके पिता का देहावसान हो गया और तदनन्तर किशनगढ़ के राज्य सिंहासन के लिये इनके भाइयों में झगड़े होने लगे, जिससे इनका विवाह न हो सका और ३१ वर्ष की आयु तक ये कुँआरी रहीं। बाद में जब इनके भतीजे सरदार सिंह गद्दी पर बैठे तब उन्होंने इनका विवाह राघोगढ़ के राजा बलभद्र सिंह के पुत्र बलवन्त सिंह के साथ किया।

इनका देहान्त अनुमानत: सं० १८५३ के आस पास हुआ था।

सुन्दर कुँवरि बाई साहित्यिक वायुमंडल में पली थीं; और कविता इन की पैतृक सम्पत्ति थी। इनके पिता राजसिंह, माता ब्रजदासी, भ्राता नागरी दास और भतीजी छत्र कुँवरि बाई सभी साहित्य-रुचि-सम्पन्न एवं प्रकृष्ट कवि थे। इस वातावरण से इन्हें सत्काव्य-रचना में बड़ी सहायता मिली। पन्द्रह वर्ष की आयु में बाई जी बहुत अच्छी कविता करने लग गई थीं और बाद में तो काव्य-रचना का इन्हें ऐसा व्यसन पड़ गया था कि जिस दिन थोड़ा बहुत भी न

लिख लेतीं, इन्हें कल न पड़ती थी। इन्होंने ग्यारह ग्रन्थों की रचना की जिनके नाम ये हैं:—

(१) नेह निधि (२) वृन्दा गोपी महात्म्य (३) संकेत युगल (४) रंग सर। (५) गोपी महात्म (६) रस पुंज (७) प्रेम संपुट (८) सार संग्रह (९) भावना-प्रकाश (१०) राम रहस्य (११) पद तथा स्फुट कवित्त।

सुन्दर कुँवरि बाई की कविता में भक्ति और प्रेम का प्राधान्य है। इनकी रचना से स्पष्ट विदित होता है कि रस, छंद, अलङ्कार आदि का इन्हें प्रौढ़ ज्ञान था, और भाषा तथा भाव के सामञ्जस्य को अच्छी तरह से समझती थीं। इनकी भाषा बड़ी शिष्ट, स्वच्छ एवं सुव्यवस्थित है। इन्होंने काव्य के कलापक्ष तथा भावपक्ष दोनों ही का बड़ी सुन्दरता से निर्वाह किया है।

इनके दो कवित्त यहाँ दिये जाते हैं:—

श्याम रूप-सागर मैं नैर वार पारथ के,
नचत तरंग अंग अंग रगमगी है।
गाजन गहर धुनि बाजन मधुर बैन,
नागिन अलक जुग सोधै सगमगी है॥
भँवर त्रिभँगताई पान पै लुनाई तामैं,
मोती मणि जालन की जोति जगमगी है।
काम पौन प्रबल धुकाव लोपी पाज तातैं,
आज राधे लाज की जहाज डगमगी है ॥१॥

गागरि गिरी हैं कोऊ सीस उघरी हैं कोऊ,
सुध बिसरी हैं ते लगी हैं द्रुम डारिकै।
डग मग ह्वै के भुज धारी गर द्वै के काहू,
बैठि गई कोऊ सीस मटकी उतारि कै॥
मैन-सर पागि कोऊ घूमन हैं लागि कोऊ,
मोती मणि भूषन उतारैं डारैं वारि कै।
ऐसी गति हेरि इन्हैं ग्वार कहैं टेरि टेरि,
मदन दुहाई जीति मदन मुरारि कै ॥२॥

महाराजा प्रतापसिंह—जयपुर नगर के बसाने वाले महाराजा सवाई जयसिंह जी से तीसरी पीढ़ी में महाराजा माधवसिंह हुए जिनके दो पुत्र थे, पृथ्वीसिंह और प्रतापसिंह। पृथ्वीसिंह का जन्म सं० १८१९ में और प्रताप सिंह का सं० १८२१ में हुआ था। माधवसिंह के बाद पृथ्वीसिंह जयपुर के उत्तराधिकारी हुए। परन्तु सं० १८३३ में इनकी अकाल मृत्यु हो गई। इनके कोई सन्तान न थी, इसलिये प्रतापसिंह जी को राज्याधिकार प्राप्त हुआ।

महाराजा प्रतापसिंह जी क्षत्रियोचित गुणों से विभूषित थे। इनके समय में मरहटों का राजस्थान में बड़ा आतंक और जोर था। इसलिये उनका दमन करने के लिये महाराजा को कई युद्ध करने पड़े और दो-एक बार इन्होंने उन्हें पराजित भी किया। पर राजपूतों की अनेकता तथा अन्त: कलह के कारण राजस्थान का राजनैतिक वातावरण उस समय कुछ ऐसा बिगड़ा हुआ था कि इन्हें अपने प्रयत्न में सफलता न मिली। निरन्तर युद्ध में लगे रहने के कारण इनकी धन-जन से ही हानि नहीं हुई, बल्कि इनके स्वास्थ्य को भी भारी धक्का पहुँचा और अंत में सं० १८६० में इनके जीवन का अंतिम अभिनय हो गया।

महाराजा प्रतापसिंह का शरीर सुडौल, रंग गेहुँआ तथा आकृति सुंदर थी। ये बड़े मिलनसार, हँसमुख एवं गुण ग्राही थे और काव्य, संगीत, चित्र-कारी आदि कलाओं के संरक्षक थे। कवियों, विद्वानों, और गायकों का इनके दरबार में बड़ा सम्मान होता था। इन्होंने आईने अकबरी, दीवाने हाफिज़ आदि ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करवाया और ज्योतिष, धर्मशास्त्र, वैद्यक, संगीत आदि विषयों पर भी बहुत से ग्रन्थ लिखवाये, जो जयपुर के राज पुस्त-कालय में सुरक्षित हैं। इनके सिवा इन्होंने कविता के संग्रह ग्रन्थ भी बहुत से तैयार करवाये थे, जिनमें प्रताप वीर हज़ारा और प्रताप सिंगार हज़ारा मुख्य हैं।

महाराजा स्वयं भी बहुत अच्छी कविता करते थे। इन्होंने बहुत से ग्रन्थ बनाये जिनका काव्य प्रेमियों में बड़ा आदर है। कविता में ये अपना नाम ब्रजनिधि लिखते थे। इनके ग्रन्थों के नाम नीचे दिये जाते हैं। ये सभी ग्रंथ नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा ब्रजनिधि ग्रन्थावली के नाम से प्रकाशित

हो चुके हैं। ग्रन्थों के नाम ये हैं—(१) प्रीतिलता (२) स्नेह संग्राम (३) फाग रंग (४) प्रेम प्रकाश (५) बिरह सलिता (६) स्नेह बहार (७) मुरली बिहार (८) रमक-जमक-बत्तीसी (९) रास का रेखता (१०) सुहाग रैनि (११) रंग-चौपड़ (१२) नीति-मञ्जरी (१३) शृंगार मञ्जरी (१४) वैराग्य मञ्जरी (१५) प्रीति पचीसी (१६) प्रेमपथ (१७) ब्रज शृंगार (१८) श्री ब्रजनिधि मुक्तावली (१९) दुखहरणबेलि (२०) सोरठा ख्याल (२१) ब्रजनिधि पद संग्रह (२२) हरि पद संग्रह (२३) रेखता संग्रह।

ब्रजनिधि की भाषा ब्रजभाषा है और कविता के विषय हैं—शृंगार, नीति और वैराग्य। इनकी कविता बहुत सरल, परिमार्जित एवं उल्लास-पूर्ण है। वर्णन शैली बहुत सहज और मार्मिक है। कृष्ण-लीला के विविध दृश्य जो इन्होंने अंकित किये हैं वे बहुत मर्य्याद-पूर्ण तथा लोक-रंजककारी हैं, और उनसे इनकी अखंड कृष्ण-भक्ति ही झलकती है। पर राधा के चित्रांकन से इनकी इन्द्रिय-लिप्सा व्यंजित होती है। ब्रजनिधि की राधा एक भक्त कवि की राधा नहीं, वरन किसी कामुक शृंगारी कवि की राधा प्रतीत होती है।

इनकी दो कविताएँ यहाँ उद्धृत करते हैं :—

बिधिबेद-भेदन बतावत अखिल बिस्व,
पुरुष पुरान आप धार्‌यौ कैसो स्वाँग बर।
कइलास बासी उमा करति खवासी दासी,
मुक्ति तजि कासी नाच्यौ राच्यौ कैयो राग पर॥
निज लोक छाँड्यौ ब्रजनिधि जान्यौ ब्रजनिधि,
रंग रस बोरी सी किसोरी अनुराग पर।
ब्रह्मलोक वारौं पुनि शिवलोक वारौं और,
विष्णुलोक वारि डारौं होरी ब्रज-फागपर॥

राधे बैठी अटरियाँ, झाँकत खोलि किवार।
मनौं मदन गढ़ तें चलीं, द्वै गोली इकसार॥
द्वै गोली इकसार, आनि आँखिन मैं लागीं।
छेदे तन-मन-प्रान, कान्हकी सुधि बुधि भागीं॥

ब्रजनिधि है बेहाल, विरह-बाधा सौं दाधे।
मन्दमन्द मुसकाइ, सुधा सों सींचति राधे॥

(१६) मंछाराम—ये जोधपुर के रहने वाले जाति के सेवग थे। इन्होंने संवत् १८३१ में रघुनाथ रूपक नामक डिंगल का एक रीति ग्रंथ लिखा था। इसमें डिंगल में प्रयुक्त गीतों के लक्षण तथा बयणसगाई आदि अलंकारों पर प्रकाश डाला गया है। उदाहरणों में रामायण की कथा क्रम से वर्णित की गई है। इसकी भाषा शुद्ध डिंगल है और विषय प्रतिपादन शैली भी बहुत उत्तम है। डिंगल की काव्य-रीति पर यह पहला प्रयत्न है और इस दृष्टि से मछाराम का स्थान डिंगल साहित्य में बहुत महत्व का है। इनका एक उदाहरण :—

रूले उकत को रूप अंध सो नाम उचारै,
कहै वले छवकाल विरुद्ध भाषा विस्तारै।
हीण दोष सो हुवै जात पित मुदो न जाहर,
निनङ्ग जेण नें निरख विकल बरणान बिन ठौरै॥
पांगलो छंद भाखै प्रकट बद्घट कला बखाण जै,
बिच अवर अवर ह्रालौवणै, जात विरूधसो जाण जै।
अपस अमूझ्यो अरथ शब्द पिण विण हित साजै,
नाल छेद जिणनाम जथा हीणौं गुण साजै॥
कहै दोष पखतूट जोड़ पतलो अर जालम,
बहरो सो सुंभ वयण मुड़ै, अण शुभ ह्वै मालम।
मरु भूंम पाठ पिंगल मतां साहित वैदक सार नै,
कहै मंछभलां रूपकरो ऐ दस दोष निवारनै॥

(१७) महाराजा मानसिंह—ये महाराजा विजयसिंह जी के पौत्र और गुमानसिंह जी के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १८३९ में हुआ था। इक्कीस वर्ष की अवस्था में ये मारवाड़ की गद्दी पर बैठे। कुछ सरदारों के षड्यन्त्रों, नाथों तथा मरहटों के कारण इनके राज्य में बड़ी अव्यवस्था रही और इन्हें बड़े कष्ट झेलने पड़े। मरहटों आदि से तो इन्होंने खूब लोहा लिया और बड़ी चतुराई से उनका दमन किया, पर नाथ संप्रदाय के प्रति

अत्यधिक भक्ति होने से नाथों का दमन ये न कर सके। यही नहीं, तत्कालीन पोलिटिकल एजेण्ट लडूलों ने जब दो-एक उपद्रवीनाथों को पकड़ कर अजमेर भेज दिया तब इन्हें असीम दुःख हुआ और उनके छुड़वाने की चेष्टा करने लगे। अंत में अपने इस प्रयत्न में जब इन्हें सफलता न मिली तब इन्होंने अनाज खाना छोड़ दिया और सन्यास लेकर इधर उधर भटकने लगे। इनका देहान्त सं० १९०० की भादों सुदी १३ को जोधपुर में हुआ।

महाराजा मानसिंह बड़े समझदार, गुणाढ्य, कविता प्रेमी एवं सरस्वती-सेवक थे। विशेषतः काव्यकला को इन्होंने बड़ा प्रोत्साहन दिया। ये इसके रहस्य को भी भली प्रकार समझते थे, और स्वयं भी काव्य रचना में प्रवीण थे। कवियों, विद्वानों एवं पण्डितों का ये इतना आदर करते थे कि वे पालकियों में बैठे फिरते थे। इन्होंने जोधपुर में 'पुस्तक प्रकाश' नामक पुस्तकालय की स्थापना की जिसमें आज संस्कृत की १६७८ और डिंगल आदि की १०९४ हस्त लिखित पुस्तकों का सुन्दर संग्रह है। इसमें सबसे प्राचीन पुस्तक सं० १४७२ की लिखी हुई है। महाराजा की गुणग्राहिता के विषय में यह दोहा आज भी मारवाड़ में प्रसिद्ध है :—

जोध बसाई जोधपुर, व्रज कीनी व्रिजपाल ॥
लखनेऊ, काशी, दिली, मान करी नेपाल ॥

इनके रचे हिन्दी तथा संस्कृत के ग्रन्थों के नाम ये हैं:—

(१) नाथ चरित्र (२) विद्वज्जन मनोरञ्जनी (३) कृष्ण विलास (४) (टीका भागवत की मारवाड़ी भाषा की टीका) (५) चौरासी पदार्थ नामावली (६) जलन्धर चरित्र (७) नाथ चरित्र (८) जलंधर चन्द्रोदय (९) नाथ पुराण (१०) नाथ स्तोत्र (११) सिद्ध गगा, मुक्ताफल सम्प्रदाय आदि (१२) प्रश्नोत्तर (१३) पद संग्रह (१४) शृंगार रस की कविता (१५) परमार्थ विषय की कविता (१६) नाथाष्टक (१७) जलंधर ज्ञान सागर (१८) तेजमंजरी (१९) पंचावली (२०) स्वरूपों के कवित्त (२१) स्वरूपों के दोहे (२२) सेवा सागर (२३) मान विचार (२४) आराम रोशनी (२५) उद्यान वर्णन।

महाराजा मानसिंह डिंगल और पिंगल दोनों में कविता करते थे। नाथ संप्रदाय के प्रति अत्यधिक भक्ति होने से इन्होंने उक्त पंथ के सिद्धान्तों, उसकी महिमा आदि के विषय में अधिक लिखा है। पर इनकी शृंगार रस की कविताएँ भी थोड़ी सी मिली हैं जो काव्यकला एवं विचार-मौलिकता दोनों ही दृष्टियों से बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं।

इनकी कविता देखिये:—

सररर बरसत सलिल, घरर घरर घन घोरं
झररर झरना झरत, दसा दिसी बोलत मोरं
झर पावस चहुँ दिसि, प्रचंड दामिनि दमकाई
सर डाबर जल झरत, सरित जल निधिहिं मिलाई
किलकारि करत जित तितहिं, विहँग मधुर सबद मन भावहीं
नृप मान कहत या विधि, प्रबल घन बरषा रितु आवहीं

सीत मंद सुखद समीर ते चलत मृदु,
अंबन के मंजर सुबास भरे चारौं ओर।
जिनतें उठत परिमल को लपट अति,
ललित सुचित जौन भौंरन को लेत चोर॥
आयो कुसुमाकर सोहायो सब लोकन को,
हेरत ही हियरे उठत सुख को हिलोर।
अति उमदाने रहैं महामोद साने रहैं,
और लपटाने रहैं जिन पर सांझ भोर॥

(१६) कविराजा बांकी दास—ये आशिया शाखा के चारण थे। इनका जन्म मारवाड़ राज्य के पंचभदरा परगने के भाड़ियावास नामक गांव में सं० १८२८ में हुआ था। इनके पिता का नाम फतह सिंह और दादा का शक्तिदान था। अलकारों के प्रख्यात ग्रंथ जसवन्त जसोभूषण के रचयिता मुरारिदान इनके पौत्र थे। छोटी अवस्था में बांकीदास ने अपने गांव में थोड़ा सा पढ़ना-लिखना सीखा और सोलह वर्ष की आयु में जोधपुर चले गये; जहाँ भिन्न २ गुरुओं से काव्य, व्याकरण, इतिहास आदि विभिन्न विषयों का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। तदनन्तर अपने ऊंचे व्यक्तित्व एवं ऊंची

योग्यता के सहारे महाराजा मानसिंह के प्रीति पात्र बन गये। महाराजा मान सिंह बांकीदास की कवित्व शक्ति और विद्वता पर मुग्ध थे। उन्होंने इन्हें अपना काव्य गुरु बनाया और कालान्तर में कविराजा की उपाधि, ताजीम, पाँव में सोना, बाँहपसाव आदि देकर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। गुरु शिष्य का सम्बन्ध सूचित करने के अभिप्राय के उक्त महाराज ने इन्हें काग़ज़ों पर लगाने की मोहर रखने का मान भी दे रक्खा था, जिस पर निम्न लिखित शब्द अंकित थे:—

श्रीमन् मान धरणि पति, बहु गुन रास।
जिन भाषा गुरु कीनौ, बांकीदास॥

बांकीदास संस्कृत, डिंगल, फ़ारसी तथा ब्रज भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे और आशुकवि होने के साथ साथ इतिहास के भी भारी ज्ञाता थे। कहा जाता है, एक बार ईरान का कोई सरदार भारतवर्ष में भ्रमण करता हुआ जोधपुर आया और महाराजा मानसिंह से मुलाकात करते समय उनसे यह प्रार्थना की कि यदि आपके यहां कोई अच्छा इतिहासवेत्ता हो तो मैं उससे मिलना चाहता हूँ। इस पर महाराजा ने बांकीदास को उसके पास भेजा। बांकीदास के ऐतिहासिक ज्ञान, उनकी स्मरण शक्ति और उनके काव्य-चमत्कार को देखकर वह दंग रह गया और जिस समय जोधपुर से जाने को रवाना हुआ महाराजा से कह गया कि जिस आदमी को आपने मेरे पास भेजा था वह इतिहास ही का पूर्ण ज्ञाता नहीं, वरन् उच्चकोटि का कवि भी है। इतिहास का ऐसा पूर्ण और पुख़्ता ज्ञान रखने वाला कोई दूसरा व्यक्ति मेरे देखने में अभी तक नहीं आया। इसे समस्त भूमण्डल के इतिहास का भारी ज्ञान है। मैं ईरान का रहने वाला हूँ, पर ईरान का इतिहास भी मुझसे अधिक वह जानता है।

बांकीदास का अंतकाल सं० १८९० में श्रावण सुदी ३ को जोधपुर में हुआ था। इनकी मृत्यु से महाराजा मानसिंह को असीम दुःख हुआ और निम्नलिखित शब्दों द्वारा उन्होंने अपने शोकोद्गार प्रगट किये:—

सद्विद्या बहुसाज, बांकी थी बांकावसु।
कर सूधी कवराज, आज कढ़ीगो आशिया॥

विद्याकुल विख्यात, राजकाज हर रहसरी ।
बांका तो बिण बात, किण आगल मनरी कहाँ ॥

इनके ग्रन्थों के नाम ये हैं :—

(१) सूर छत्तीसी (२) सहिछत्तीसी (३) वीर विनोद (४) धवल पच्चीसी (५) दातार बावनी (६) नीति मंजरी (७) सुवह छत्तीसी (८) वैसक वार्ता (९) मावड़िया मिजाज (१०) कृपण दर्पण (११) मोह मर्दन (१२) चुगल मुख चपेटिका (१३) वैस वार्ता (१४) कुकवि बत्तीसी (१५) विदुर बत्तीसी (१६) भुरजाल भूषण (१७) गज लक्ष्मी (१८) अमाल नख शिख (१९) जेहल जस जड़ाव (२०) सिद्ध राव छत्तीसी (२१) संतोष बावनी (२२) सुजस छत्तीसी (२३) वचन विवेक पच्चीसी (२४) कायर बावनी (२५) कृपण पच्चीसी (२६) हमरोट छत्तीसी (२७) स्फुट संग्रह ।

उपरोक्त ग्रन्थों को नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने तीन भागों में प्रकाशित किया है । इनके सिवा बाँकीदास के पांच-सात दूसरे ग्रंथों और २८०० के लगभग ऐतिहासिक वार्तों का पता भी हाल ही में लगा है ।

बाँकीदास सुधारवादी कवि और यथार्थ भाषी सज्जन थे । अपनी कविता में इन्होंने जहाँ वीरों, दानियों, भक्तों आदि का यशोगान किया है वहाँ मूंजियों, चुग़लखोरों, धोखेबाज़ व्यापारियों, कायरों, धन लोलुप क्षत्रियों पर व्यंग्योक्तियां कसकर उनकी भी बहुत बुरी तरह से ख़बर ली है । भावावेश में कहीं २ तो ये इतने आगे बढ़ गए हैं कि अश्लीलता की बू तक आ गई है । इनकी समस्त रचनाएँ काव्य-कला-कलित, भावापन्न एवं स्फूर्ति वर्द्धक हैं, और प्रसाद गुण तो इनकी एक ऐसी विशेषता है जो डिंगल के कवियों में कम पाई जाती है । भाषा इनकी सालंकार, सशक्त तथा विषयानुकूल है । और उसमें प्रवाह गत स्वाभाविकता एवं सरसता है । अलंकारों पर बांकीदास की दृष्टि विशेष रहती थी, मुख्यत: अर्थालंकारों पर । यों तो ढूंढने से साहित्य प्रसिद्ध सभी अलंकार इनकी रचना में मिल जायँगे । परन्तु उदात्त, हेतु आदि अलंकारों की ओर इनका झुकाव अधिक दृष्टिगोचर होता है ।

इनकी कविता के कुछ नमूने हम नीचे देते हैं:—

कृपण कहै ब्रह्मा किया, मांगण बड़ी बलाय।
विसव वसावण वासते, फाटक दिया बणाय।
दियो सबद सुणियो दुसह, लागो तन मन लाय।
सूंब दियो न करै सदन, परब दिवाळी पाय॥
सन मुख अति मीठा सबद, मेह समैंरो मोर।
उगलै विष परपूठ ओ, चुगल दई रो चोर॥
पनग लड़ो कीड़ा पड़ो, सड़ो झड़ो दुख संग।
जग चुगलांरी जीभड़ी, वायस भखो विहंग॥
कूकर लाय जलै नहीं, जुड़े न कायर जंग।
विदुर न ठहरे विपत में, संपत में हीज संग॥
ऊँडा जळ सूकै अवस, नीलो बन जल जाय।
चुगल तणा पग फेर सूं, बसती ऊजड़ थाय॥
सूरज खांखल रतनसल, पोहमी रिण जल पंक।
कायर कटक कलंक इम, कुकवी सभा कलंक॥

पारस की परवाह नहीं, परवाह रसायन की न रही है।
बंक सौं दूर रहो सुर पादप, चाह मिटी कित मेरु मही है॥
देवन की सुरभी दिस दौर, थको मनकी सब सांची कही है।
मांग हैं एक मरूपति मान कैं, नाथ निभायगो टेक गही है॥

किशन जी आढ़ा—ये राजस्थान के प्रसिद्ध कवि दुरसा जी की वंश-परंपरा में थे और मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह जी के आश्रित थे। इनके पिता का नाम दूल्ह था, जिनके छः पुत्रों में ये तीसरे थे। रघुवर जस प्रकास में इन्होंने अपना वंश परिचय इस प्रकार दिया है:—

दुरसा घर किसनेस, किसन घर सुकवि महेस्वर।
सुत महेस खुंमाण, खान साहिब सुत जिण घर॥
साहिब घर पनसाह, पना सुत दुल्ह सुकव पुण।
दुल्ह घरे षट पुत्र, दान[1] जस[2] किसन[3] बुधोभण[4]॥

सारूप[५] चमन[६] मुरधर ऊतन, घणट नगर पाँचेटियो।
चारण जात आढ़ा विगत, किसन सुकवि पिंगल कियो॥

किशन जी को हिन्दी तथा संस्कृत के रीति ग्रंथों का प्रौढ ज्ञान था और डिंगल-पिंगल दोनों में कविता करने के अभ्यासी थे। इतिहास की ओर इनकी रुचि विशेष थी। इतिहास सम्बन्धी सामग्री को एकत्र करने के लिए जब कर्नल टाड ने मेवाड़ में भ्रमण किया था तब ये उनके साथ थे और चारण भाटों के घरों में पड़ी हुई बहुत सी सामग्री इन्हीं के अविश्रान्त उद्योग से कर्नल टाड को प्राप्त हुई थी। इनकी लिखी सैकड़ों फुटकर कविताएं तथा भीम विलास और रघुवर जस प्रकास नामक दो ग्रंथ प्राप्त हुए हैं। भीमविलास महाराणा भीमसिंह जी की आज्ञा से सं० १८७६ में लिखा गया था। इसमें उक्त महाराणा का जीवन - वृत्तान्त है। इतिहास की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण रचना रघुवर जस प्रकास है। इसमें डिंगल के छंद शास्त्र का विस्तृत विवेचन है। यह सं० १८८१ में पूरा हुआ था। इसमें हिन्दी, संस्कृत और डिंगल में प्रयुक्त प्रधान २ छन्दों के लक्षण बहुत सरल भाषा में समझाये गये हैं और उदाहरणों में, जैसा कि मंछाराम कृत रघुनाथ रूपक में हैं, भगवान रामचन्द्र का यशोगान किया गया है। मात्रा, गण, प्रस्तार, वैण सगाई, काव्य दोष आदि पर लिखी हुई इनकी व्याख्याएँ वास्तव में बहुत मौलिकतापूर्ण और अपने रंग ढंग की अनुपम हैं।

इनकी कविता का नमूना देखिये:—

अष्टादस संमतह वरस गुनयासी जानहु।
रित वसंत अरु चैत सुदि दुतिया तिथ मानहु॥
भीम रान करि कृपा हुकंम श्रीमुख फरमाय।
दुल्ह सुतन कवि किसन नाम यह ग्रंथ बनाय॥
सुनि रीझ भीमअरि सिंघ सुत कुरब कपादत अधिक दीय।
यह ग्रन्थ नाम सहुलास चित भीम विलास प्रकास कीय॥

हय अरोह कहा लगत, सर्प सिर पै कहा सोहत।
कहा न दाता कहत, सिद्ध कहि काको रोकत,॥

नर सेवक कहा नाम, कवित्त के आदि:धरत किहिं।
का घटते को कहत, बनिक संचत का कहि वहि॥
दुख चलत खाग कहाँ लरतदल, दसरथ सुत कौ हैं बरन।
कवि कृस्न इहै उत्तर कियौ, रामनाम जग ऊधरन॥

(२०) महाराव राजा विष्णुसिंह जी—इनका जन्म वि० सं० १८३० में हुआ था। ये बूंदी नरेश महाराव राजा उम्मेदसिंह जी के पौत्र और अजीतसिंहजी के पुत्र थे। जब ये साढ़े चार माह के थे तब इनके पिता का देहान्त हो गया। जिससे इनके दादा उम्मेदसिंह जी ने, जो पहले राज्याधिकार अपने पुत्र अजीतसिंह को सौंप कर वानप्रस्थ में चले गये थे, पुन: शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिया लिया और जब तक विष्णु सिंहजी नाबालिग़ रहे तब तक सुचारु ढंग से सभालते रहे। बड़े होने पर इन्होंने राज्य कार्य करना प्रारम्भ किया और जहाँ तक बन सका अपनी तरफ से राज्य को उन्नत करने में कोई कसर न रक्खी। महाराव राजा को मृगया का बड़ा शौक़ था और अपने हाथों से सहस्रों सिंहों का शिकार किया था। इसी मृगया में आवश्यकता से अधिक लिप्त रहने के कारण इनका एक पांव टूट गया था, जिससे ये चिरकाल तक लंगड़े रहे और बहुत छोटे दीख पड़ते थे। इनके समय में बूँदी राज्य और अंगरेज़ी सरकार के बीच में संधि हुई। इन्होंने ७ वर्ष तक राज्य किया, और अपने पीछे दो पुत्रों को छोड़ कर ४५ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुए।

विष्णु सिंह जी बड़े वीर, विचारशील, उदार एवं समयोचित कार्य करने वाले व्यक्ति थे, और विद्वानों तथा कवियों का बड़ा सम्मान करते थे। इसके सिवा ये स्वयं भी उच्चकोटि के कवि थे। इनके बनाये हुए दस हज़ार के लगभग कवित्त सवैया इत्यादि मौजूद हैं, जिनसे इनके अद्भुत काव्य-कौशल और अगाध भगवद्भक्ति का परिचय मिलता है। इनकी भाषा और भाव दोनों जैसे सरल हैं, वैसे ही व्यंजना भी चुभती हुई, आकर्षक है।

इनकी कविता के दो नमूने यहाँ दिए जाते हैं:—

होरी में गोरी किशोरी सबै मिलि दौरी सुपौरि पै कान पयेरी।
हो हो कै हाक करी हँसिकै बसिकै रसिकै चसिकै सचयेरी॥

चन्दन चोवेन चर्चित है चितयौं पियको करिकै रिझयेरी।
मार मची अति ही सुकुमार सुलाल गुलाल तें लाल भयेरी॥

चन्द्भयो विष कन्द हमैं अब सूल सहेली समीर लखीरी।
भाजन भौन भये भय भूखन भोजन भोग भलेन भखीरी॥
जाछिनतैं नँद नँद लख्यो कहि ता दिनतें सब बात नखीरी।
नैनन सैनन सौर लगी उर प्रीत नहीं बिपरीत सखी री॥

(२१) गोस्वामीकृष्णलाल—ये बूंदी के प्रसिद्ध गोस्वामी गदाधरलाल जी के वश में महन्त श्री मोहनलाल जी के पुत्र थे। इन्होंने सं० १८७२ में नायिका भेद का एक ग्रंथ कृष्ण विनोद और सं० १८७४ में दूसरा ग्रंथ अलकारों का रस भूषण नाम का बनाया। महाराव राजा विष्णु सिंह जी की राणी राठोड़ जी की आज्ञा से भक्तमाल की टीका भी इन्होंने लिखी थी। इनकी भाषा सानुप्रास और कविता मधुर है। एक उदाहरण देखियेः—

सूखि सफेद भई बिरहै जरि, सोई गंगे गति ऊरध दैनी।
अंग मलीन अँगार के धूमसी, सो जमुना जग जाहर रैनी॥
ताहि समै भयो प्यारे को आवन, सो अनुराग गिरा गति लैनी।
कृष्ण कहै तब ही वर बालकै, आय कढ़ी ततकाल त्रिवैनी॥

(२२) महाराणा जवान सिंहजी—ये महाराणा भीमसिंह जी के पुत्र और महाराणा हमीरसिंह जी (दूसरे) के पौत्र थे। इनका जन्म वि० सं० १८५७ मार्गशीर्ष सुदि ३ को हुआ था। अपने पिता के स्वर्गवासी होने पर वि० सं० १८८५ में ये मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। इतिहास प्रसिद्ध रूपवती कृष्णा कुमारी इनकी बहिन थी। महाराणा का क़द मझोला, रंग गेहुँआ, शरीर पुष्ट, आँखें बड़ी तथा पेशानी चौड़ी थी, और ये बड़े हँस मुख, मृदुभाषी, कोमल हृदय एवं स्वरूपवान थे। काव्यरचना इनका अभ्यस्त विषय था। इन्होंने सैकड़ों कवित्त, सवैये, पद, दोहे आदि बनाये, जो अर्थ गौरव, काव्योत्कर्ष एवं कोमलकान्त पदावली की दृष्टि से परम प्रशंसनीय हैं। महाराणा की डिंगल में भी अद्भुत गति थी, परन्तु अपनी कविताएँ इन्होंने डिंगल में न लिखकर ब्रजभाषा में ही लिखी हैं। इनकी भाषा परिमा-

र्जित, कल्पनाएँ सुघर और रचना पद्धति सरस है। इनके काव्य में आत्म-समर्पण की झलक है, और शृंगार-भक्ति का अच्छा स्फुरण हुआ है।

वि० सं० १८५५ भाद्रपद सुदि १० को जवानसिंह जी का गोलोक-वास हुआ।

इनकी कविता के दो नमूने नीचे उद्धृत हैं :—

उद्धव आय गये ब्रज में सुनि गोपिन के तन मैं सुख छायौ।
आनँद सौं उमगी सगरी चलि प्रेमभरी दधि आन बँधायौ॥
पूछति है मन मोहन की सुधि बोलतही दृग नीर चलायौ।
देखि सनेह सखा हरि कै घनस्याम वियोग कछू न सुनायौ॥

गज गीध ग्राह कीर गोतम की नार अरु,
केते जीव तारे स्याम त्यौंही अब तारौगे।
सदन कसाई नामदेव और कबीर कहौ,
नरसी को सार्‌यो काज त्यौंही काज सारौगे॥
रावरो कहाय और कौन पै पुकार करौं,
एहो ब्रजराज तुम विरद विचारौगे।
संकट कौं टारौ प्रतपाल क्यौं न पारौ नाथ,
मेरे अपराध ही कौ चित्त मैं न धारौगे॥

(२३) राजिया—इनका रचनाकाल सं० १८६० के आसपास माना जाता है। इनके सम्बन्ध में मत भेद है। चारण लोगों का कहना है कि राजिया के नाम से प्रचलित सोरठे स्वयं राजिया के लिखे हुए नहीं, बल्कि शेखाटी वा (जयपुर राज्य) के कृपाराम नामक एक चारण के रचे हुए हैं। राजिया कृपाराम का नौकर और जाति का रावणा राजपूत था। उसकी सेवा और स्वामिभक्ति से प्रसन्न होकर उसके नाम को अमर रखने के लिए उक्त चारण ने इन सोरठों की रचना की थी। इसके विरुद्ध रावणा राजपूत महासभा तथा कुछ दूसरे लोगों का कथन है कि इन सोरठों का रचयिता राजिया, जिसका पूरा नाम राजाराम था, है न कि कृपाराम चारण। कृपाराम राजाराम के सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय प्रमाण अभी तक नहीं मिला। ऐसी

दशा में उपरोक्त मतों में से एक को ग़लत और दूसरे को सही बतलाना कठिन है। हाँ, हिन्दी काव्य परम्परा तो यही बतलाती है कि कवि अपनी रचना में अपना ही नाम देता है, श्रोता अथवा आश्रयदाता का नहीं। उदाहरणार्थ, कबीर एवं रहीम के दोहों में उन्हीं के नाम हैं और न कि दूसरों के। पर राजस्थान में श्रोताओं को सम्बोधित करके कविता करने की प्रथा भी है और रही है। किसनिया, भेरिया, नाथिया आदि के दोहे इसी प्रकार से लिखे गये हैं। अतः संभव है, राजिया के नाम से जिन सोरठों का आज कल प्रचार है वे कृपाराम के बनाये हुए हों। पर यह कहकर कि सिवा चारण के कोई दूसरा ऐसे भावपूर्ण सोरठे लिख ही नहीं सकता, उन्हें कृपाराम के बनाये हुए प्रमाणित करना हमारे ख़याल से प्रतिभा का ठेका लेना है।

राजिया के लिखे हुए बहुत से सोरठे कहे जाते हैं। पर ये सब ग्रंथाकार में नहीं मिलते; यों ही काव्यानुरागियों के मुँह से यत्र तत्र सुने जाते है और सो भी सब नहीं केवल सौ-दो सौ। जन साधारण से प्राप्त होने तथा प्राचीन हस्तलिखित प्रति के अभाव में यह भी नहीं कहा जा सकता कि इनका वास्तविक रूप कैसा था। पर जितने भी सोरठे, जिस रूप में भी प्राप्त हुए हैं उनकी भाषा सीधी और भाव व्यंजना हृदय ग्राही हैं। राजस्थान के बाल, युवा, वृद्ध, निर्धन, धनिक, शिक्षित, अशिक्षित, सभी बात बात में इन सोरठों का प्रयोग करते हैं और श्रोताओं पर इनका प्रभाव भी जादू का सा पड़ता है। अर्थ चमत्कार और सारल्य राजिया के प्रधान गुण हैं। इनका प्रत्येक सोरठा सांसारिक अनुभव का भंडार है, काव्य दक्षता का द्योतक है।

पाठकों के विनोदार्थ कुछ सोरठे यहां उद्धृत किये जाते हैं:—

मुख ऊपर मिठियास, घट माँही खोटा घड़े।
इसड़ा सूं इखलास, राखी जै नहिं राजिया॥
कारज सरे न कोय, बलप्राक्रम हिम्मत बिना।
हलकारयाँ की होय, रंग्या स्याँला राजिया॥
गुणी सपत सुरगाय, कियो कि सब मूरख कने।
जाणे रूनो जाय, रण रोही में राजिया॥
खूंट गधेड़ा खाय, पैंलारी बाड़ी पड़ै।
आ अण जुगती आय, रड़के चित्त में राजिया॥

ऊँचे गिरवर आग, जलती सह देखे जगत।
पर जलती निज पाग, रती न दीसे राजिया॥

(२४) दीन दरवेश—मेवाड़ की वर्तमान राजधानी उदयपुर से १३ मील उत्तर में मेवाड़ के महाराणाओं के इष्टदेव श्री एकलिंग जी का मन्दिर है। जिस गाँव में यह मन्दिर है उसे अब कैलाशपुरी कहते हैं। दीनजी इसी गाँव के रहने वाले थे। ये जाति के लोहार थे। इनके जन्म एवं मृत्यु के संवत् का ठीक पता नहीं, पर इनके ग्रंथों से इनका रचना-काल सं० १८६३—८८ ठहरता है। मिश्र बंधुओं ने दीन जी का काठियावाड़ी होना बतलाया है, जो एक भारी भ्रम है। वास्तव में दीनजी नहीं, बल्कि इनकेगुरू जिनका नाम बाल गुरू था, गिरनार (काठियावाड़) के रहने वाले थे। इस विषय में दीन जी ने स्वयं एक स्थान पर लिखा है— सत्त कहत है दीन गुरू स्थान गिरनार, हौं उदेपुर देस एकलिंग बासी। दीन जो जात-पाँत, छुआ-छूत इत्यादि के घोर विरोधी थे और हिन्दू-मुसलमानों के भेद को वृथा और हानि कारक समझते थे। ये थे तो साधु पर अपनी रहन-सहन से पूरे गृहस्थ प्रतीत होते थे। ये बढ़िया खाते, बढ़िया पहनते और बढ़िया घोड़े पर सवार होकर बाहर निकलते थे। इनके योग चमत्कार की एक कथा प्रसिद्ध है।

कहते हैं, एक बार दीनजी डूंगरपुर राज्यान्तर्गत बणकोड़े नामक गाँव में गये और कई दिन तक वहाँ के ठाकुर साहब के पास रहे। एक दिन ठाकुर साहब जब कहीं बाहर गये हुए थे तब इन्होंने उनके एक मिट्टी के घड़े में से जल लेकर पी लिया। नौकरों को उनका यह व्यवहार कुछ बुरा मालूम हुआ। परंतु वे उन्हें कह कुछ भी न सके। संध्या समय जब ठाकुर साहब घर लौटे उन्हों ने दीनजी से घड़ा छू जाने की बात उनसे कही। ठाकुर साहब छुआ-छूत को मानने वाले व्यक्ति थे। दीनजी का यह व्यवहार उन्हें भी ठीक न जँचा। उस वक्त तो वे कुछ न बोले पर दूसरे दिन सुबह जब दीनजी भ्रमणार्थ कहीं बाहर गये हुए थे उन्होंने अपने एक नौकर को कहा कि घड़े को उठाकर फेंक दो। नौकर ने उठा कर उस घड़े को झरोखे में से फेंक दिया। परन्तु घड़ा बहुत देर तक तो शून्य में अटका रहा और बाद में धीरे धीरे उतर कर ज़मीन

पर इस तरह से आ कर टिका मानो किसी ने लाकर उसे धीरे से वहाँ रक्खा हो। सब लोग इस घटना को देखकर आश्चर्य-चकित हो रहे थे कि इतने में दीन जी भी वहाँ आगये। ठाकुर साहब ने घड़े की बात उनसे कही और अपनी विचार संकीर्णता पर पश्चात्ताप करते हुए बार बार क्षमा-याचना करने लगे। यह सुन कर दीनजी ने थोड़ा सा हँस दिया और बाद में इस संबंध की यह कविता लिखी:—

बणकोड़े ऐसी बनी, करन हार करतार।
भरी मट्की नीर की, दई गोखतैं डार॥
दई गोखतैं डार, नैकु यह बात नई है।
ऊँचो हाथ इकीस, भरी रहि दुरी नहीं है॥
कहै दीन दरवेस रखै ताकौं कुण फोड़े।
दीनानाथ दयाल बात रखी बणकोड़े॥

मेवाड़ के महाराणा भीम सिंह जी (सं० १८३४—८८) दीन जी को बहुत मानते थे। इसलिये जब तक उक्त महाराणा जीवित रहे तब तक ये विशेष रूप से मेवाड़ में ही रहे। पर बाद में कोटे चले गये, जहाँ एक दिन जब ये चँबल में स्नान करने के लिये गये हुए थे, डूब कर मर गये। यह घटना सं० १८९० के आस-पास हुई थी।

दीनजी के लिखे हुए छोटे छोटे बहुत से ग्रंथ और सैकड़ों फुटकर कविताएँ मिली हैं। इनकी भाषा बहुत अस्तव्यस्त है और कविता में छन्दो भङ्ग भी बहुत मिलता है। पर इनके विचार बहुत ऊँचे तथा मनन करने योग्य हैं।

इनकी कविता देखिए :—

जितना दीसै थिर नहीं, थिर है निरँजन नाम।
ठाट पाट नर थिर नहीं, नाहीं थिर धन धाम॥
नाहीं थिर धन धाम, गाम धर हस्ती घोड़ा।
नजर आत थिर नांहि, नांहि थिर साथ संजोड़ा॥

कहै दीन दरवेश, कह्या इतने पर इतना।
थिर निज मन सत शब्द, नाहीं थिर दीसे जितना॥

बूझै कूप समंद कूं, अइयौ सनमुख आय।
तुव में जल कितनोक है, हम कूं देय बताय॥
हम कूं देय बताय, समंद कै है सुन भाई।
भोले जल मत भूल, नाहि अपनी सर खाई॥
कहै दीन दरवेस, तु होवे तैसा सूझै॥
सुनौं सुग्यानी संत, कूप समंद कूं बूझै॥

छठवां अध्याय



आधुनिक काल (पद्य)

राजस्थानी साहित्य का आधुनिक काल स्थूल रूप से संवत् १९०० के पास से प्रारंभ होता है। इस काल को मोटे ढंग से हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—परिवर्त्तन और उत्तर परिवर्त्तन। प्रारंभ के २०-३० वर्षों का समय परिवर्त्तन और उसके बाद से आज तक का उत्तर परिवर्त्तन कहा जाना चाहिये। परिवर्त्तन काल में सबसे बड़े कवि बूंदी के सूर्य्यमल हुए जिन्हें कोई कोई राजस्थान के सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं। निःसन्देह सूर्य्यमल एक प्रतिभावान कवि थे। अपने समकालजीवी कवियों पर इनका इतना ही गहरा प्रभाव था जितना बंगाल के कवियों पर अधुना श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर का देखा जाता है। रवीन्द्रनाथ की तरह सूर्य्यमल की प्रखर प्रतिभा ने भी राजस्थान के तत्कालीन कवियों की मौलिकता नष्ट कर दी और उन्हें न पनपने दिया। छोटे-मोटे सैकड़ों कवि इनकी काव्य धारा के प्रचंड वेग में विलीन हो गये। सूर्य्यमल की कविता इतनी भाव पूर्ण, इतनी सुन्दर और इतनी उच्च कोटि की होती थी कि कुछ कवियों ने तो इन्हीं के भावों को ला ला कर अपनी रचनाओं में उतारना शुरू किया और कुछ स्वतंत्र कविता करना छोड़ इनके पद्यों को सुना सुना कर वाह वाही लूटने लगे। छोटे २ कई सूर्य्यमल उस समय पैदा हो गये थे। कवि समुदाय में, राजदरबारों में साहित्य सभाओं में, जहाँ देखो वहाँ सूर्य्यमल की चर्चा सुनाई पड़ती थी। अतः सूर्य्यमल के रचना काल के इस समय को यदि सूर्य्यमल-युग भी कह दिया जाय तो इसमें कुछ अनुचित न होगा।

सूर्य्यमल के बाद से राजस्थानी कविता का प्रवाह मंद पड़ गया और उसमें कोई विशेष आकर्षण न रहा। इसके मुख्य कारण दो थे—हिन्दी गद्य का अधिकाधिक प्रचार और कवियों को प्रोत्साहन की कमी। फिर भी कुछ कवियों ने राजस्थानी साहित्य की अच्छी सेवा की जिनमें से स्वामी स्वरूपदास, प्रतापकुँवरि बाई, जीवन लाल नागर, स्वामी गणेशपुरी, कविराजा मुरारिदान (बूंदी), कविराव गुलाबसिंहजी, चन्द्रकलाबाई, बिड़दसिंह, कविराजा मुरारिदान (जोधपुर) बख्तावरजी, ऊमरदान, महाराज चतुरसिंह जी, केसरीसिंह जी बारहट, पंडित उमाशंकर जी द्विवेदी और दिनेशनदिनी चोरड़िया के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(१) कविराजा सूर्य्यमल—ये चारणों की मिश्रण शाखा के एक प्रतिष्ठित कुल में वि० सं० १८७२ में बूँदी में पैदा हुए थे। इनके दादा बदन कवि और पिता चंडीदान की बूंदी दरबार के प्रसिद्ध कवियों में गणना थी। चंडीदान को तो बूंदी नरेश महाराव राजा विष्णुसिंह जी की ओर से होसूदा नामक एक गाँव, लाख पसाव और कविराजा की उपाधि भी मिली थी। सूर्य्यमल ने छः विवाह किए थे पर इनके कोई संतान नहीं हुई जिससे इन्होंने मुरारिदान जी को गोद लिया था। अपने पिता एवं स्त्रियों के विषय में सूर्य्यमल ने अपना वंश परिचय देते हुए स्वय ही वंशभास्कर में लिखा है:—

बदन सुकवि सुत कवि मुकुट, अमर गिरा मतिमान।
पिंगल डिंगल पटु भये, धुरंधर चंडिदान॥
दोला, सुरजा, विजयका, जसारु पुष्पा नाम।
पुनि गोविन्दा पट्प्रिया, अर्कमल्ल कवि बाम॥

सूर्य्यमल बड़े विलासी, मद्यप, तुनुक मिज़ाज एवं स्वतंत्र प्रकृति के पुरुष थे और अपने व्यवहार में इतने रूखे थे कि लोग उनके पास जाना भी पसंद नहीं करते थे। ये दिन रात शराब के नशे में चूर रहते थे और इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि बिना मदिरा-पान के भी कोई मनुष्य ठीक तरह से अपना काम कर सकता है। प्रवाद है कि जिस समय इनकी एक स्त्री का देहान्त हुआ उस समय भी ये शराब पीकर उसकी दाह क्रिया के

लिए घर से बाहर निकले थे। सूर्य्यमल का जीवन ही शराब पर निर्भर था। पर फिर भी नशे में ये इतने उन्मत्त नहीं हो जाते थे कि शरीर की सुध-बुध ही न रहे। इतना ही नहीं, नशे की हालत में इनकी कल्पना शक्ति और भी सजग हो उठती थी और दो आदमी जो इनके दाहिनी तथा बाईं तरफ़ बैठे रहते बड़ी कठिनता से उनकी उस समय की कविताओं को लिख पाते थे। सहृदय कवि होने के अतिरिक्त सूर्य्यमल उच्चकोटि के विद्वान थे और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पिंगल, डिंगल आदि कई भाषाएँ जानते थे। राजस्थान तथा मालवे के राज दरबारों में इनका बड़ा सम्मान था और इनकी टक्कर का दूसरा कवि उस समय न था।

इनका देहान्त सं० १९२० में बूँदी में हुआ था।

सूर्य्यमल ने वंश भास्कर, बलवंत विलास, छंदो मयूख, और वीर सतशती ये चार ग्रंथ बनाये। इनके सिवा इनके लिखे फुटकर कवित्त सवैये भी बहुत से मिलते हैं। ग्रंथों में 'वंश भास्कर' इनकी सर्वश्रेष्ठ और सर्व प्रिय रचना है। बूंदी नरेश महाराव राजा रामसिंह जी (सं० १८७८—१९४५) की आज्ञा से इन्होंने सं० १८९७ में इस ग्रन्थ को लिखा था। इसमें प्रधानतः बूंदी राज्य का इतिहास वर्णित है, पर प्रसंगवश राजस्थान की दूसरी रियासतों का इतिहास भी थोड़ा बहुत आ गया है। कवि कृष्णसिंह जी बारहट ने इसकी टीका की है और टीका सहित ४३६८ पृष्ठों में समस्त ग्रन्थ छप कर तैयार हुआ है। वंश भास्कर की भाषा के संबन्ध में थोड़ा सा मत-भेद है। कुछ लोग इसकी भाषा को डिंगल और कुछ पिंगल बतलाते हैं। परन्तु यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो वंश भास्कर की भाषा न तो शुद्ध डिंगल है, न शुद्ध पिंगल। वह चारणों की खिचड़ी भाषा है जिसमें संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश, ब्रजभाषा आदि कई भाषाओं के शब्दों का प्रयोग हुआ है और क्रियापद, संयोजक शब्द, कारक-चिन्हादि भी डिंगल और पिंगल दोनों के मिलते हैं।

वंश भास्कर की भाषा कठिन भी बहुत है। सूर्य्यमल ने कहीं २ तो अपने निज के गढ़े हुए शब्द रख दिये हैं और कहीं २ ऐसे अप्रचलित एवं क्लिष्ट शब्दों का व्यवहार किया है कि एक साधारण योग्यता वाले पाठक का वंश

भास्कर को समझना तो दूर रहा उसे हाथ में लेने का साहस भी कम होता है। इनकी क्लिष्ट भाषा का थोड़ा सा नमूना देखिये :—

कट्टिल्लल कर्णिकावली भटा हृदावली भये,
अरिष्ठ के अरष्ठ वृन्द लोम कन्द उन्नये।
बने अरी पलास कान अन्दु नाग बल्लरी,
कलेज पीलु पर्णिका कपेरु तोर इक्करी ॥

चारण कवियों तथा वंश भास्कर के दूसरे प्रशंसकों का कहना है कि सूर्य्यमल जैसा प्रतिभावान कवि हिन्दी में न तो हुआ है और न होगा। वंश भास्कर के साथ ही वे सच्ची कविता की इति श्री समझते हैं। चारण लोगों का यह मत कुछ लोगों को अत्युक्ति पूर्ण प्रतीत हुआ होगा और कुछ अंशों में वह अत्युक्ति पूर्ण है भी। परन्तु इतना तो फिर भी कहना ही पड़ेगा कि वीर रस का जैसा भावानुरंजित और पुरअसर वर्णन सूर्य्यमल ने किया है वैसा हिन्दी के किसी दूसरे कवि की रचना में देखने को अभी तक नहीं मिला। उदाहरण स्वरूप भूषण ही को लीजिये। ये वीर रस के सर्वोच्च कवि माने जाते हैं। भूषण राष्ट्रीय कवि हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। वे हिन्दू धर्म के उपासक हैं, इसमें कोई मतभेद नहीं। उनकी कविता में औरङ्गज़ेब के अत्याचारों से प्रताड़ित हिन्दू जाति के हाहाकार की प्रतिध्वनि हैं, इसमें भी कोई अत्युक्ति नहीं। परन्तु इतना होते हुए भी कहाँ सूर्य्यमल और कहाँ भूषण! दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। वीर-वीरांगनाओं के हृदयस्थ भावों का विश्लेषण और काव्यमय निरूपण भूषण की कविता में कहाँ, जिसके दर्शन सूर्य्यमल की रचना में पग पग पर होते हैं। सच तो यह है कि सूर्य्यमल की स्वभाव-सिद्ध स्वर-लहरी के सामने भूषण के वागाडंबर-पूर्ण कवित्त-सवैयेप्राण-विहीन पंजर की तरह शुष्क और निर्जीव प्रतीत होते हैं।

किसी राजपूत महिला का पति शत्रुओं से लड़ने के लिये रणभूमि में गया हुआ है। वह उसी की चिन्ता में मग्न है, पर यह नहीं चाहती कि उसका पति भाग कर घर आ जाय जिससे सती होने की उसकी लालसा पर पानी फिर जाय और संसार के सामने उसे लज्जित होना पड़े। इतने में उसे सूचना मिलती है कि उसका पति रणक्षेत्र की तरफ से भागा हुआ घर की

ओर आ रहा है। अब उसके दुःख का क्या ठिकाना! इतने में पति भी आ पहुँचता है। कायर पति को अपनी आँखों के सामने खड़ा देख एक लंबी साँस खींच कर वह कहती है :—

की घर आवे थें कियौ, हणियाँ बळती हाय।
धण थारे घण नेहड़ै, लीधो बेग बुलाय॥

भावार्थ—हाय, घर आकर तुमने क्या किया? यदि मारे जाते तो मैं भी तुम्हारे साथ सती होती। इस पर पति उत्तर देता है—प्रिये, तेरे प्रेमाधिक्य ही ने तो मुझे शीघ्र बुला लिया।

पूतां रे बेटा थिया, घर में बधियो जाळ।
अब तो छोड़ो भागणो, कंत लुभायो काळ॥

भावार्थ—पोतों के भी पुत्र होकर अब घर में बहुत जाल बढ़ गया है और काल तुम्हारी अवस्था पर लुभा रहा है। कंत, अब तो युद्ध से भागना छोड़ दो।

धव जीवे भव खोवियो, मो मन मारियो आज।
मौनूँ ओछे कँचुवै, हाथ दिखाताँ लाज॥

भावार्थ—प्रीतम इस प्रकार से जी कर तो तुमने सचमुच जन्म खो दिया। तुम्हारी यह दशा देख आज मेरा तो मन ही मर गया। अब तो इस (सौभाग्य चिन्ह) ओछी कँचुकी में हाथ दिखाते हुए भी मुझे लज्जा मालूम होती है।

यो गहणों यो बेस अब, कीजै धारण कंत।
हूँ जोगण किण कामरी, चूड़ा खरच मिटंत॥

भावार्थ—कंत! यह मेरा वेश और ये आभूषण अब आप ही धारण कीजिये। मैं तो योगिनी हो चली। अब आपके किस काम की। अच्छा ही हुआ आपके भी चूड़ियों का खर्च मिटा।

कंत सुपेती देखतां, अब की जीवण आस।
मो थण रहणै हाथ हूँ, घाते मुँहड़े घास॥

भावार्थ—हे कंत, बालों की सफेदी देखते हुए अब और कितने दिन

जीने की आशा है। आश्चर्य होता है कि मेरे स्तनों पर रहने वाले हाथों से तुम कैसे शत्रु के सामने मुँह में तिनका लेते हो।

विश्व के उन समस्त कवियों में जिनकी रचना में युद्ध-वर्णन मिलता है, पाश्चात्य विद्वान महाकवि होमर का स्थान सबसे ऊँचा मानते हैं। और तो और, होमर की तुलना में व्यास और वाल्मीकि के युद्ध-वृत्तान्तों को भी उन्होंने अस्वाभाविक, अतिशयोक्ति पूर्ण एवं आवश्यकता से अधिक अलंकारों से लदे हुए बतलाया है।* यह अपना अपना मत है और इस संबंध में यहाँ कुछ कहना विषयान्तर ही होगा। पर होमर के युद्ध-वृत्तान्तों की यह विशेषता है कि उन्हें पढ़ते समय पाठक यह नहीं महसूस करता कि वह किसी पुस्तक में युद्ध का वर्णन पढ़ रहा है, बल्कि ग्रीस और ट्राय की धावा मारती हुई सेनाओं की पद-ध्वनि, सैनिकों की खुंख्वार हुँकार आदि स्पष्ट रूप से कानों से सुनता और रणक्षेत्र के रोमांचकारी दृश्यों को अपनी आँखों से देखता है। यही गुण हम सूर्य्यमल की रचना में भी पाते हैं। वंशभास्कर में कई स्थानों पर युद्ध का वर्णन है और शायद इसीलिये वह काव्य ग्रंथ माना भी जाता है। नहीं तो इसके अधिक भाग का संबंध काव्य की अपेक्षा अधिक इतिहास से है। जिस समय सूर्य्यमल युद्ध का वर्णन करना प्रारंभ करते हैं, वे किसी भी बात को अधूरी नहीं छोड़ते; युद्ध संबंधी किसी भी विषय को अल्पता से नहीं देखते। सेनाओं की मुठ-भेड़, वीरों का जयनाद, कायरों की भगदड़, घायल वीरों का करुण-क्रन्दन इत्यादि के सिवा जिस समय योद्धा वार करता है उसकी तलवार कैसी दीख पड़ती है, रक्त की सरिता किस प्रकार खल खल शब्द करती हुई समर स्थली में प्रवाहित होती है और माँस के लोभ से लाशों पर बैठे हुए गीध दूर से कैसे दीख पड़ते हैं आदि बातों का नाना प्रकार की उपमा—उत्प्रेक्षाओं द्वारा वे ऐसा सुन्दर, ऐसा स्पष्ट और ऐसा सबल मज़मून बाँधते हैं कि पढ़ते ही हृदय सहसा हिल जाता है:—

*It must be admitted that in Sanskrit poems there is a great redundance of epithets, too liberal a use of metaphor, similie and hyperbole and far too much repetition, amplification and prolixity.

—Sir M. Monier-Williams; Indian Wisdom, P. 423

नीचे हम सूर्यमल की कविता का थोड़ा सा अंश उद्धृत करते हैं —

उम्मेद सिंह के युद्ध का वर्णन

(दोहा)

ससि अंबर बसु इक समा, बिक्रम सक गतबेर ॥
बुंदिय पुर बाज़ार बिच, झरिग बाढ़ असि झेर ॥

(मुक्तादाम)

अमावसि सावन मास अनेह, मच्यो इम बुंदिय खग्गन मेह ॥
छई नभ गिद्धनि चिल्हनि छत्ति, घुमंडत गृद्धन चंचुव घत्ति ॥
लगी लुभि घुम्मन अच्छरि लेन, गुथ्यो रस भाव बिभावन गैन ॥
रच्यो इत तंडव नारद रागि, झुक्यो ऋषि व्हाँ महती झनकारि ॥
उड़े सिर झेलत उद्धहि[1] ईस, बढ़ें इत चंडिय के भुज बीस ॥
चटट्ठहिँ रत्त खिलैं चउसट्ठि[2], बबक्कहिँ बावन गावन गट्ठि ॥
चुरैलिनि मंडत फालन चाल, लगावत डाइनि घुम्मरताल ॥
बजैं लगि खग्गन खग्गन बाढ़, गिरैं भट भीरु भजै तजि गाढ़ ॥
उमेद दिनेस रच्यो खग खेल, तुरयो सठ घुग्घुव दुग्ग दलेल ॥
फबैं असि खुप्परि टोपन फारि, बहैं जनु सज्जु व तंति बिदारि ॥
किरैं कटि हड्डुन खंड करक्कि, झरैं उड़ि धारन बूर झरक्कि ॥
कटैं सह सत्थिन जानुव जंघ, मुज्यों गज सुंडिन खंडन संघ ॥
फदक्कहि कढ्ढहि कालिक फिप्फ[3], भचक्कहि टोप कपालन भिप्फ[4] ॥
उड़ें सिर फुट्टत भेजन ओघ, मनों नवनीत मटक्किय मोघ[5] ॥
मचक्कहिं रीढ़क बंक[6] अमाप, चटक्कहि ज्यों मिथिलापुर चाप ॥
धसैं कढि लोचन सोंनित धार, चढ़ैं सिसु मच्छ विलोमकिबार[7] ॥
कटैं गल स्वास बनैं बिकरार, धमैं धमनी जनु लग्गि लुहार ॥
कढ़ैं हिय छत्रिय फट्टि किवार, मुज्यों हृद[8] लोहित कंज[9] सुढार ॥
परैं कढि अंत अपुव्व प्रकारि, फनी गन जानि टिपारन फारि ॥

---

१ ऊपर ही। २ रक्त पीकर चौसठ योगिनियें खुश होती हैं। ३ कलेजे और फेफड़े। ४ कपालों को भेदकर। ५ मानो मक्खन की मटकी फूटी हो। ६ रीढ़ की हड्डी। ७ जैसे छोटी मछली पानी में उलटी चढ़ती हो। ८ जलाशय। ९ लाल कमल।

परैं छुटि संधित प्रान अपान[१], मनों पय पानिय लोन मिलान[२] ॥
बनै फटि डाच कढे रद बड्ड, किधों धृत डब्बिय रंक कवड्ड[३] ॥
गिरैं रसना कढि भग्गन ग्राम, चढ़ैं नचि नागिनि ज्यों पय श्राम ॥
लगैं दृग मुच्छ फरक्कत लीन, मनों उरभी बनसी मुखमीन ॥
छलैं छत[४] रत्त छछक्कन छुट्टि, फबैं जनु गग्गरि जावक[५] फुट्टि ॥
भुकैं असि मत्त दुहत्थन भारि, मनों रजकालि सिला पट मारि[६] ॥
छुटैं फटि पेटिय लेटिय लंब, तनैं पट जानि कुविंद कदम्ब[७] ॥
मचैं रव टोप उड़ैं फटि मत्थ, अलाबुव जानि अतीतन हत्थ[८] ॥
कढ दृग लग्गि कनीनिय काल[९], मनों कुवलोहित[१०] भौंरन माल ॥
चपैं फटि ढाल बकत्तर चीर, सुज्यों तरु ताडन पत्त समीर ॥
धपैं हिय गोलिय गावत गित्त, मनों पटवा बटवा बिच बित्त ॥
रटैं फटि कोच[११] करी रननंकि, भरैं घन बादन[१२] ज्यों भननंकि ॥
घटैं दम मत्त बकैं छकि घाय, मनों मद पामर जीह जड़ाय ॥
कढ बपु छेकि बरच्छिन व्रात, तृणध्वज[१३] अग्गकि गज्ज प्रपात ॥
लगैं निकसैं छिकि पट्टिस[१४] लाल, मनों परतीयन के कर जाल ॥
सुहैं फटि हड्ड चटच्चट संधि, चटक्कत प्रात गुलाब कि गंधि ॥
उठैं बिनु मत्थ किते तनु तुंग, थेइ त्थेइ नच्चत थुंगत थुंग ॥
बबक्कत डाच किते कन बैंन, मनों बड़ बक्कर टक्कर मैन ॥
गिरैं बर रक्कत पंसुलि गात, मनों कठ छप्पर पत्थर पात ॥
छुटैं पल जानु कढैं नल हड्ड, मनों रद बारन बंगर बड्ड ॥
लटक्कत पाय रकाबन रुक्कि, मनो तप सिद्ध अधो मुख भुक्कि ॥
मलंगत छत्तिन के क्रम मप्पि, मनो नट पट्टरि पाय मलप्पि ॥

१ मिले हुए श्वास और निश्वास की संधि छूटती है । २ मानों नमक मिलाने से दूध और पानी फट गया हो । ३ मुँह के फटने से बड़े बड़े दांत दीखते है, वे ऐसे प्रतीत होते है मानो किसी दरिद्री ने डिबिया मे कोड़ियाँ रखी हो । ४ घाव । ५ जावक का घड़ा । ६ मानो धोबियों की पंक्ति कपड़े पछाड़ रही है । ७ मानों जुलाहों के समूह वस्त्र फैलाते है । ८ मानो जोगियो के हाथ से तूंबे गिरते है । ९ नेत्रों की काली पुतली । १० लाल कमल । ११ कवच । १२ कांसा आदि धातु के वाद्य । १३ बॉस । १४ कटार ।

छुटैं घन घायक[१]सायक सोक, उडैं सरधा[२] गन ज्यों तजि ओक[३] ॥
छकै कति वृत्त फिरें सुधि छोरि, बनैं जनु बालक भंभह भोरि[४] ॥
गिरै सर बिद्ध घनें सिर त्तत्त, मनो सरघान तजे मधु छत्त ॥
सरैं घन संगिन भिन्न सरीर, कुमारिन के जनु उज्ज करीर ॥
बकैं बहु प्रेत मिल गल बत्थ, किधों रन मल्ल अपूरब कत्थ ॥
जगावत हाक रचावत जंग, लगावत भैरव नट्ट मलंग ॥
घसैं चढि डाकिनि के मृत छत्ति[५],मनों कि बिदूसक[६] को तियमत्ति ॥
अटैं पय इक्क किते छक ओप, किते इक नैन लखैं भरि कोप ॥
करैं कटि जीह किते इक कान, धते मुख अद्ध रचैं घमसान ॥
किते इक हत्थ किते गन केस, बनें बहुरूप[७] मनों नव बेस ॥
मिलैं रसना कढ़ि नक्कुट[८] मूल, फबैं भुजगीं कि लगी तिल फूल ॥
किते कर टेकि उठैं रन रत्त, मनों मद छाकन पामर मत्त ॥
रहैं कति गिद्धन कों गलजाय, कहैं कति हूल अंचत हाय ॥
बकैं कति मात पिता तिय बैन, गिरें कति मोहित उच्छलि गैन ॥
श्रवैं घन सावन को इत तुट्ठि[९], बरुथ घटा इत आयुध बुट्ठि ॥
बहैं पुर बुंदिय सोन[१०] बजार, धरो[११] जनु, जोहि सरस्वति धार ॥
गिरैं जल बद्दल गंग सुगाथ, पुर स्त्रिय अंसुव जामुन[१२] पाथ[१३] ॥
बही इम बेनिय पत्तन बीच[१४],मिलें बहु मुक्ति जहाँ लहि मीच ॥
बन्यो रन बुंदिय सावन अद्ध, दुवाँ असि ज्वाल भयो पुर दद्ध[१५] ॥
चुहट्टन लग्गिय लुत्थन लुत्थि, बिथारिग हट्टन बट्टन बुत्थि ॥
समाकुल रूंड परे खिलि खंड, ढरे बनिजारन के जनु टंड ॥
डडक्कत डाहल[१६] के डमरूक, घुरावत घाय घने जनु घूक[१७] ॥
रटैं सिर मार अटैं कति रूंड, मिटैं कति जोर फटैं कति मुंड ॥

---

१ घाव करने वाले। २ मधुमक्खियाँ। ३ घर। ४ बच्चों का एक खेल विशेष (भोंभा भोर्ला)। ५ मरे हुओं की छातियाँ। ६ कामी पुरुष। ७ भाँड। ८ नाक। ९ प्रसन्न होकर। १० रस। ११ बही। १२ जमुना। १३ जल। १४ इस प्रकार नगर में त्रिवेणी बही। १५ दग्ध हो गया। १६ भैरव। १७ उल्लू।

बरैं सिर मंगि भरैं हर बैल, छकैं कति छोह हकैं रन छैल[1] ॥
लगैं कति कंठ लरत्थर पाय, जगैं कति प्रेत ठगैं भट जाय ॥
लखैं कति हूर चखैं मिलिलाह, नखैं[2] नभ फूल रखैं गिनि नाह ॥
किरैं[3] कहुं कोच खिरैं लगि खग्ग, फिरैं कति मत्त भिरैं जनु फग्ग ॥
घिरैं सिर बाढ गिरैं अति चोट, घिरैं नद सोन तिरैं कहुँ घोट ॥
जरैं उड़ि अग्ग झरैं असि जोर, ढरैं भट केक टरैं जिमि ढोर ॥
दरैं कति कुप्पि धरैं धक दाव, भरैं कति भूरि करैं मृतभाव ॥
मरैं थकि स्वास परैं कहुं मूढ, अरैं कहुँ हूर बरैं नवऊढ़ ॥
ररैं हरि केक लरैं धकि रोस, हरैं जिय केक सरैं तजि होस ॥
फटैं धर प्रेत बटैं[4] सिर फांक, लटैं[5] मन केक कटैं उर लांक[6] ॥
खुलैं कहुं नैन डुलैं कहुँ खग्ग, झुलैं कहुं उद्ध फुलैं मुख झग्ग ॥
छुलक्कत घायन रत्त छुछक्क, उरज्झत केस बनै अकबक्क ॥
अहक्कत तंतनि सिंधुब तार, दहक्कत भूतल देत दरार ॥
झनंकत पक्खर बेधित बंट, घमकत घुग्घर घंटन घण्ट ॥
बढी कुणपावलि[7] उग्र बखान, मनो बड़पत्तन[8] दिग्घ मसान ॥
गवाक्षन जालिन के पट डारि, रही रन बुंदिय नारि निहारि ॥
बढी घनमार मची हथ बाह, रुक्यो रवि जंपत[9] वाह सिराह ॥
अरचो नृप छोनिय लैन उमेद, खिज्यो इम देत हलेलहिं खेद ॥
बढ़े गढ़ सम्मुह छेकि बजार, मिली तँह सत्रु हजारन मार ॥
चले सर चंड[10] चटट्ठत चाप, मचावत पंखन सोक अमाप ॥
बहैं बरछी असि तोमर तोम, बनैं नर कातर लोम विलोम ॥
उरज्झत अंत्र[11] कटारन तारि, गही जनु नागिन अंकुस डारि ॥
लगैं खर खंजर पंजर लीन, मनो प्रतिलोम[12] धसैं जल मीन ॥
चलैं फटि पात गदा सिर चीर, मनो तरबूज हनैं करकीर ॥
चलैं तजि म्यान छुरी पल चाह[13], मनो पिचकारिन बारि प्रवाह ॥

---

१ रण रसिक । २ डाल कर । ३ गिरते हैं । ४ बाँटते है । ५ मुड़ कर । ६ कमर; लंक । ७ मुर्दों की पंक्ति । ८ बड़ा नगर । ९ प्रशंसा का बचन कहता हुआ । १० भयंकर । ११ आँत । १२ उल्टा । १३ मांस की इच्छा से ।

झरप्फर चिल्हनि गिद्धनि झुण्ड, मरोरत चंचुन ऐंचत मुंड ॥
किलोलत स्यार सिवा गन[1] कंक[2], नचैं बहु डाकिन प्रेत निसंक ॥
घनै हननंकत घोटक घुम्मि, भिरैं कति भिन्न गिरैं छकि भुम्मि ॥
कुसा[3] गल छुट्टत तुट्टत तंग, भभक्कत मारुत प्रोथन भंग ॥
परैं प्रजरैं जर जीन पलान, किते कबिका[4] बिनु लेत उडान ॥
बहैं पुर तद्दिन रत्त रु बार, धपी बढ़ि बीथिन बीथिन धार ॥
मनों यह दुग्ग छुधातुर पाय, दये बलि मानव[5] संभरराय ॥
समाकुल लुत्थिन बुत्थिन बट्ट, चढैं पल चिक्कन हट्ट चुहट्ट ॥
सह्यो घन चोरन को दुख जाय, लगैं अब बुंदिय भूपति हाय ॥
घनैं दिन भुग्गि वियोगज भार, कियो जनु सोनित रंग सिंगार ॥
दलेल लखो तप की तरवारि, धुज्यो छन दुग्ग पलायन धारि ॥
सुन्यों यह जैपुर जामिप[6] भार, कियो निज मंत्रिय भ्रात तयार ॥

(दोहे)

समली और निसंक भख, जंबुक राह मजाह ॥
पण धण रौ किम पेख ही, नमण विणट्ठा नाह ॥

भावार्थ—ऐ चील्ह ! और २ अग तो तू भले ही निस्संकोच होकर खा; परन्तु शृगाल के मार्ग का अनुगमन मत कर (आँखें मत निकाल) क्योंकि यदि तू प्राणनाथ को नेत्र विहीन कर देगी तो वे अपनी पत्नी का सती होने का प्रण-पालन कैसे देखेंगे ।

निधड़क सूतो कोहरी, तो भी विमुहा पाव ॥
गज-गैंडा धीर न धरैं, वज्र पड़ै बघ वव ॥

भावार्थ—केसरी गहरी नींद में सोया हुआ है, तो भी हाथी और गैंडे धैर्य धारण नहीं करते । और उनके पांव पीछे ही पड़ते हैं । उन्हें व्याघ्र गंध क्या आती है मानों उन पर वज्र पड़ रहा है ।

नायण आज न मांड पग, काल सुणी जे जंग ॥
धारां लागी जैं धणी, तो दीजे घण रंग ॥

---

१ गीदड़ियाँ । २ पक्षी विशेष । ३ बाग । ४ लगाम । ५ मनुष्यों का बलिदान । ६ बहनोई ।

भावार्थ—हे नाइन ! आज मेरे पैरों को (मेहँदी से) चित्रित मत कर; कल युद्ध सुना है। उसमें यदि पति धारा तीर्थ में स्नान करें (तलवार के घाट उतरें) तो फिर खूब रंग देना।

ऊभी गोख अवेखियौ, पेलां रो दल सेर ॥
पड़ियो धव सुणियो नहीं, लीधो धण नालेर ॥

भावार्थ—झरोखे में खड़ी हुई ने देखा कि शत्रु-सेना प्रबल है। बस, पति के देहावसान का संवाद नहीं सुना तो भी पत्नी ने इसे अवश्य भावी मान कर सती होने के लिये नारियल हाथ में ले लिया।

दरजण लंबी अंगियाँ, आणीजै अब मूझ ॥
नव टोटे मोनू दया, दूण सिवाई तूझ ॥

भावार्थ—दरजिन, अब मेरे लिये लबी अंगियें लाया करना। मेरे सधवापन की पोशाकें अब न सीने से जो तुझे घाटा रहेगा उसकी पूर्ति के लिये मैं तुझे दुगनी सिलाई दूंगी।

मणिहारी जारी सखी, अब न हवेली आव ॥
पीव मुवा घर आविया, विधवा किसा बणाव ॥

भावार्थ—सखि मनिहारिन, अब मेरी हवेली पर मत आना। मृतक से पति घर आगये हैं; विधवाओं को शृङ्गार कैसा ?

झूरे इम रंगरेजणी, कूड़ा ठाकुर काय ॥
वसन सती धण रँगताँ, दीधी आस छुड़ाय ॥

भावार्थ—रंगरेजिन रोती है कि ऐ निकम्मे ठाकुर ! युद्ध से भाग कर तू ने यह क्या ग़जब किया ! तेरी सती पत्नी के लिये सुन्दर वस्त्र रँगने की मेरी आशा पर तूने पानी ही फेर दिया।

गंधण कूकी रे गजब, भूंडां आगम भौण ॥
बलण कढ़ायो अतर धण, मुँहगौ लेसी कौण ॥

भावार्थ—गंधिन चिल्ला उठी—ग़ज़ब हुआ। उसका घर आगमन मेरे लिये तो बड़ा अशुभ है। उसकी पत्नी ने सती होने के लिये जो महँगा इत्र निकलवाया था, उसे अब कौन लेगा।

सोनारी झूरै कहै, रे ठाकुर कुल खोय ।।
मूझ घड़ाई खोवणा, तूझ मड़ाई होय ।।

भावार्थ—सुनारिन रोती हुई कहती है कि मेरी जीविका नष्ट करने वाले, रे कुल नाशक ठाकुर ! तेरा नाश हो।

कंत लखीजै दोहि कुल, न थी फिरंती छाँह ।।
मुड़ियाँ मिलसी गीदवो, बल न धणरी बाँह ।।

भावार्थ—हे कन्त, अपने दोनो कुलो को देखना, न कि अपनी फिरती हुई छाया को। ईश्वर न करे यदि आप युद्ध से मुड़ आये तो सिरहाने के लिये तकिया भले ही मिल जाय, पर पत्नी की भुजा तो फिर कभी नहीं मिलेगी।

पहल मिले धण पूछियौ, किण कीधा किणहाथ ।।
बीजल साहे बोलियौ, इण डाकण भू आथ ।।

भावार्थ—पत्नी ने प्रथम मिलन के समय पूछा कि नाथ ! ये हाथ में कठोर चिन्ह किस ने किये ? तलवार लेकर पति बोला कि प्रिये ! इस डाकिनी ने, और पृथ्वी के लिये।

पीहर पूंछे खोलणी, पेई भूषण केर ।।
हेड़वियाँ भाभी हँसी, नणन्द कनै नालेर ।।

भावार्थ—पीहर पहुँचने पर खोली जाने वाली भूषणों की पेटी खोलने पर भावज हँसी कि ओ हो ! ननद के पास तो (सती होने का) नालेर भी मौजूद है।

(२) **बाबा स्वरूप दास**—ये जाति के चारण थे। इनका जन्म अजमेर के पास बड़ली नामक गाँव में हुआ था। इन्होंने दादू पंथ को स्वीकार कर लिया था। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान और धर्म-सिद्धान्तों के अच्छे जानकार थे। रतलाम, सीतामऊ, सैलाना आदि के राजदरबारों में इनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। अधिक क्या, सीतामऊ के तत्कालीन नरेश राजसिंह जी के पुत्र, महाराज कुमार रत्नसिंह जी की तो इनके प्रति इतनी भक्ति थी कि उन्होंने अपने ग्रंथ नटनागर-विनोद के प्रारंभ में ईश्वर की वन्दना न कर के इन्हीं को वन्दना की है। इनका देहान्त सं० १९२० में हुआ था।

बाबा जी चरित्र दृढ़ महात्मा एवं व्यक्तित्व-संपन्न पुरुष थे और राजनीति में भी कुशल थे। काव्य रचना तो इनका अभ्यस्त विषय था। इन्होंने हृन्नयनांजन, उक्तिचंद्रिका, वृत्तिबोध आदि ६ काव्य ग्रंथों की रचना की, जिनमें पांडवयशेन्दुचंद्रिका इनका सब से अच्छा ग्रन्थ माना जाता है। यह ग्रंथ सं० १८९२ में लिखा गया था और स्वामी जी की जीवित अवस्था में ही सं० १९०९ में पहली बार प्रकाशित हुआ था। इसमें महाभारत की कथा का सारांश है और सोलह अध्यायों में समाप्त हुआ है। ग्रन्थारंभ में रस, अलकार, छन्द आदि काव्यांगो पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। इसकी भाषा डिंगल है, पर ब्रजभाषा का प्रभाव भी उस पर स्पष्ट रूप से झलकता है। राजस्थान में इस ग्रन्थ का पहले बहुत प्रचार था, पर अब उतना नहीं है। स्वामी जी की कविता बहुत सरल एवं परिमार्जित है और हृदयस्पर्शी भाव-सौष्ठव तथा विषय गत लालित्य का उसमें अच्छा सयोग हुआ है।

इनकी दो कविताएँ हम नीचे उद्धृत करते हैं :—

भीम को दयौ हौ विष ता दिन बयौ हौ बीज,
लाखागृह भएँ ताको अँकुर लखायो है।
द्यूत-क्रीड़ा आदि विस्तार पाइ बड़ो भयौ,
द्रौपदी-हरन भएँ मंजरि सौं छायौ है॥
मत्स्य गाय घेरी जब पुष्प-फल-भार भर्यौ,
तैनै ही कुमन्त्र-जल सींचि कै बढ़ायौ है॥
बिदुर के बचन-कुठार ते न कढ्यौ बृच्छ,
वाको फल पाकौ भूप! तेरी भेट आयौ है॥

काली को सो चक्र कै फनाली को सो फूँतकार,
लोयन कपाली को सो भय कैसो है उदोति।
आयुध सुरेस को सो मानहुँ प्रलै को भानु,
कोप को कृसानु किधौं मीचहू की मानैं सोति॥
सुयोधन दुसासन दुर्मुख दुहद्गन,
दाहिबो प्रमानि दीप्ति दूनी हू तैं दूनी होति।

जेठ-ज्वाल-झाल है कि जिव्हा जमराज की सी
ज़हर हलाहल कै भीम की गदा की जोति ॥

(३) **जीवन लाल**—ये बूँदी राज्य के निवासी जाति के नागर ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १८७० में हुआ था। ये बूँदी के महाराव राजा रामसिंह जी के प्रीति पात्र थे। इन के पिता का नाम तुलाराम था। ये कई वर्षों तक बूँदी के प्रधान मंत्री रहे और अपनी कार्य कुशलता तथा ईमानदारी से बूँदी राज्य को बड़ा लाभ पहुँचाया। सं० १९१४ के गदर में इन्हो ने बूँदी राज्य का बहुत ही चतुराई से प्रबध किया जिससे खुश होकर उक्त महराव राजा ने इन्हें ताज़ीम, कटार, हाथी आदि पुरस्कार में दिये थे। इनका देहान्त सं० १९२६ में ५६ वर्ष की अवस्था में हुआ।

ये संस्कृत तथा फारसी के प्रौढ़ विद्वान थे। सोलह वर्ष की आयु में इन्होने बारह हज़ार श्लोको का एक बहुत बड़ा ग्रंथ सस्कृत में बनाया था जिसका नाम कृष्ण-खंड है। इसके बाद इन्होंने हिन्दी तथा संस्कृत में सात ग्रंथ और लिखे, जिनके नाम ये हैं—ऊपाहरण, दुर्गा चरित्र, भागवत भाषा, रामायण, गंगा शतक, अवतार माला और संहिता भाष्य।

जीवनलाल की रचना में भक्ति तथा शृंगार की प्रधानता है। इनकी कविता सरल, रोचक और मधुर है। इनका एक कवित्त देखिये :—

निरखि निरखि नैन सुनि सुनि गान बैन,
हरखि हरखि मैन सैन रचिबौ करैं।
फिरि फिरि फेरि लैं लैं इत उत आतु जातु,
उठि उठि बैठि बैठि अति पचिबौ करैं॥
सुनहु सुजान प्यारी आँखें अनियारी वारी,
रोकै हू कहाँ लगियों ता पैं बचिबौ करैं।
उमंगि अनंग राग-रङ्ग मधु भृङ्ग भयो,
तेरे संग-संग मन मेरो नचिबौ करैं॥

(४) **प्रताप कुँवरि बाई**—इनका जन्म वि० सं० १८७३ के लगभग मारवाड़ राज्य के जाखण गाँव में यदुवंशियों की भाटी शाखा के एक प्रसिद्ध परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम गोयन्ददास था। बाई जी

जब सोलह वर्ष की थीं तब इनका विवाह मारवाड़ के महाराजा मानसिंह जी के साथ हुआ। इनके कोई संतान नहीं थी। वैसे ईश्वर भक्ति की ओर बाई जी का झुकाव बाल्यावस्था ही से था, पर जब से इनके पतिदेव का स्वर्गवास (सं० १९००) हुआ तब से सासांरिक कार्यों से इनका मन उचट गया और अपना अधिक समय भगवद् भजन एवं पूजा पाठ में व्यतीत करने लगीं। इनकी रहन सहन सादी और प्रकृति सरल थी। राज्य की ओर से इन्हें कई गाँव मिले हुए थे जिनकी आय का अधिक भाग ये दान पुण्य तथा साधु-सेवा में खर्च किया करती थीं। संत-महात्माओं के अतिरिक्त कवियों, विद्वानों तथा चारण-भाटो को भी बाई जी ने बहुत सा धन दान दिया था। इनका देहान्त सं० १९४९ में ७६ वर्ष की आयु में हुआ।

प्रताप कुँवरि बाई मर्य्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्र की उपासक थीं। महाकवि तुलसीदास की तरह इन्हों ने भी दोहे-चौपाइयों में राम भक्ति की महिमा कही है। इनकी भाषा ब्रजभाषा है जिसमें राजस्थान की बोल चाल की भाषा के शब्द का प्रयोग भी प्रचुरता से हुआ है, जैसे—पुत्र, डडोत, हौद, जाँबू, आंबा इत्यादि। कहीं कहीं अर्बी-फ़ारसी के शब्द भी मिलते हैं। इनकी कविता प्रसादपूर्ण, सद्भावोत्पादक तथा राम भक्ति से परिपूर्ण है और कला उसमें अपने प्रकृत सौन्दर्य्य के साथ विहार कर रही हैं।

इनके रचे ग्रंथों के नाम ये हैं :—

(१) ज्ञान सागर (२) ज्ञान प्रकाश (३) प्रताप-पच्चीसी (४) प्रेम सागर (५) रामचन्द्र नाम महिमा (६) राम गुण सागर (७) रघुवर स्नेह लीला (८) राम प्रेम सुख सागर (९) राम सुजस पच्चीसी (१०) रघुनाथ जी के कवित्त (११) भजन पद हर जस (१२) प्रताप विनय (१३) श्री रामचन्द्र विनय (१४) हरि जस गायन आदि।

इनकी कविता के दो-एक उदाहरण देखिये :—

आस तो काहू की नाहिं मिटी जग में भये रावण से बड़ जोधा।
सावँत सूर सुयोधन से बल से नल से रव बादि विरोधा॥

केते भये नहिं जाय बखानत जूझ मुये सबही करि क्रोधा।
आस मिटे परताप कहै हरि-नाम जपेरु बिचारत बोधा॥

अवधपुर घुमड़ि घटा रहि छाय ॥टेक॥

चलत सुमंद पवन पुरवाई नभ घनघोर मचाय ॥१॥
दादुर मोर पपीहा बोलत दामिनि दमकि दुराय ॥२॥
भूमि निकुंज सघन तरुवर में लता रही लिपटाय ॥३॥
सरजू उमगत लेत हिलोरैं निरखत सिय रघुराय ॥४॥
कहत प्रतापकुँवरि हरि ऊपर बार बार बलि जाय ॥५॥

(५) गणेशपुरी—ये पदमजी चारण के पुत्र थे और वि० सं० १८८३ में मारवाड़ राज्य के चारवास नामक गाँव में पैदा हुए थे। इनका जन्म नाम गुप्त जी था। बचपन में ये बड़े उद्दंड और उपद्रवी थे। पड़ोस के बालकों को मारने पीटने की एक आध शिकायत इनके पिता के पास प्रति दिन पहुँच जाती थी। परन्तु बड़े होने पर इनकी उद्दंडता जाती रही और ये बड़े गंभीर प्रकृति एवं सुशील हो गये। इनके संबंध में प्रसिद्ध है कि वंशभास्कर के रचयिता सूर्य्यमल का नाम सुनकर उन से मिलने के लिये ये एक बार बूँदी गये। जिस समय ये कविराजा जी के मकान पर पहुँचे उस समय वहाँ उनका एक नौकर द्वार पर बैठा हुआ था। उसने जाकर सूर्य्यमल जी को सूचना दी कि एक चारण आपसे मिलना चाहता है और वह आपकी आज्ञा के लिये द्वार पर खड़ा है। सूर्य्यमल जी अपढ़ व्यक्तियों से प्रायः कम मिलते थे। उन्होंने नौकर से कहा कि बाहर जाकर उससे पूछो कि वह पढ़ा हुआ है अथवा नहीं। इस पर नौकर लपका हुआ बाहर आया और वही प्रश्न गुप्त जी से किया। वे सुनकर सुन्न रह गये। कुछ क्षण तक तो प्रस्तर मूर्ति की तरह खड़े रहे फिर गर्दन हिला कर बोले—"नहीं"। इस "नहीं" की ध्वनि अंदर बैठे हुए कविराजा जी के कर्णगोचर हुई और वहीं से चिल्ला कर उन्होंने कहा—"सूर्य्यमल एक अपढ़ चारण का मुँह देखना नहीं चाहता।" तुम जैसे आये हो वैसे ही यहाँ से चले जाओ। सूर्य्यमल जी के शब्द गुप्त जी के हृदय में घाव कर गये। उन्हें लज्जा भी आई, पर अधिक कुछ न कह कर वहाँ से लौट पड़े। यह घटना उस समय की है जब इनकी

अवस्था २७ वर्ष की थी। यहीं से इनके जीवन का नया अध्याय शुरू हुआ। ये साधु हो गये और अपना नाम बदल कर गणेशपुरी रख लिया। वहाँ से ये सीधे काशी पहुँचे और लगभग दस वर्ष तक वहाँ रह कर हिन्दी संस्कृत आदि का ज्ञान प्राप्त किया।

काशी से लौटने के पश्चात् गणेशपुरी जी कुछ वर्ष तक इधर उधर राजपूताने में घूमते रहे, और अंत में मेवाड़ के गुण ग्राही महाराणा सज्जन सिंह जी के आग्रह से स्थायी रूप से मेवाड़ को अपना निवास स्थान बनाया। महाराणा ने इनका बड़ा सम्मान किया और इनके लिये भोजन-वस्त्र आदि का प्रबंध कर कई वर्षों तक अपने पास रक्खा। स्वामी जी एक सुयोग्य साहित्य-सेवी और काव्य कुशल व्यक्ति थे। इनके साहचर्य्य से महाराणा सज्जनसिंह जी भी अच्छी कविता करना सीख गये थे। गणेशपुरी जी का संस्कृत, व्रजभाषा एवं डिंगल का उच्चारण बहुत शुद्ध तथा स्पष्ट होता था और कविता पढ़ने का ढंग भी ऐसा आकर्षक तथा प्रभाव शाली होता कि रसोन्मत्त होकर श्रोता गण गज-शुंड की तरह झूमने लगते थे। साधारण से साधारण कोटि की कविता भी जब इनकी ज़बान से निकलती वह उच्च श्रेणी की प्रतीत होती थी।

ये डिंगल और पिंगल दोनों में कविता करते थे।. इनके रचे हुए फुटकर कवित्त-सवैये और वीर 'विनोद नामक' एक काव्य ग्रंथ राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध है। वीर विनोद महाभारत के कर्ण-पर्व का अनुवाद है। अनुवाद में मौलिकता, भावों की स्पष्टता तथा शब्द योजना के सौष्ठव का अच्छा आनन्द मिलता है। पर क्लिष्ट शब्दों की बहुलता के कारण कहीं कहीं प्रसाद गुण को बड़ा धक्का लगा है। स्वामी जी की फुटकर कविताएँ बड़ी ज़ोरदार, चमत्कार पूर्ण एवं मार्मिक हुई हैं। पर प्रसाद गुण का अभाव इनमें भी खटकता है और शायद यही कारण है कि काव्य-कला-कलित होते हुए भी इनका इतना प्रचार नहीं है जितना कि होना चाहिये। सच तो यह है कि गणेशपुरी जी की कविताएँ उनके मस्तिष्क की उपज है, हृदय की अनुभूति नहीं। अतएव उनके भाव तक पहुँचने के पूर्व पाठकों को भी पर्याप्त मानसिक श्रम करना पड़ता है।

इनकी कविता के दो-एक उदाहरण देखिये :—

चाली नृप भीम पै करालो नृप-भीम-चमू,
नक्रमुखी तोपन के चक्र-चरराटे व्हाँ।
आपनौ रु औरन को सोर न सुनात, दौर,
घोरन की पोरन के घोर घरराटे ह्वाँ॥
मीर[1] हमगीरन[2] के तीर-तरराटे बर,
बीरन-बपुच्छद[3] के बाज बरराटे ह्वाँ।
हूर-हरराटे धर-धूज-धरराटे सेस-
सीस-सरराटे कोल[4]-कंध-करराटे ह्वाँ॥

हरि-सुत-श्रौन हरि-श्रौन हरि देहै कर,[5]
घरी-घरी घोर धनु-घंट-घननाटे तैं।
भेरि-रव-भूरि भट-भीर-भार भूमि भरि,
भूधर भरैंगे भिंदिपाल[6]-भननाटे तैं॥
खप्पर-खनक ह्वै न खेटक के खप्पर ह्वाँ,[7]
खेटकी[8] खिसकि जैहैं खग्ग-खननाटे तैं।
चूकि जैहैं जान-धर[9] जान को चलान, बान,
बान-धर[10] मेरे पान-बान[11]-सननाटे तैं॥

बाढ़ी बीर हाक हर डाक भुव चाक चढी,
ताक ताक रही हूर छाक चहुँ कोद में।
बौलि कै कुबोल हय तोल बहलोल खाँ पै,
बागो आन कत्ता राण पत्ता को बिनोद में॥
टोप कटि टोपी लाल टोपा कटि पीत पट,
सीस कटि अंग मिली उपमा सुमोद में।
राहु गोद मङ्गल की मङ्गल गुरु की गोद,
गुरु गोद चन्द की रु चन्द रवि गोद मैं॥

१—शूरवीर। २—साथियों। ३—कवच। ४—वराह। ५—अर्जुन और घोड़ों के कानों को भगवान हाथों से ढाँकेंगे। ६—गोफन। ७—खप्पर की खनखनाहट नहीं होगी क्योंकि ढालों के खप्पर होंगे। ८—ढालों वाले। ९—सारथी। १०—अर्जुन। ११—हाथ का बाण।

(६) **कविराव बख्तावर जी**—ये दसोंदी राव जाति में टांक शाखा के राव थे। इन का जन्म सं० १८७० में मेवाड़ राज्य के बसी नामक ठिकाने में हुआ था। इनके पिता का नाम सुखराम था। जब ये बहुत छोटे थे तब सुखराम जी की मृत्यु हो गई जिससे बसी के ठाकुर अर्जुनसिंह जी ने इनकी देख-रेख की और पढ़ा-लिखा कर होशियार किया। संवत् १६०६ में किसी घरेलू झगड़े के कारण ये उदयपुर आये। इस अवसर पर इनकी महाराणा स्वरूप सिंह जी से भेंट हुई। इनकी असाधारण काव्य-प्रतिभा देख कर उक्त महाराणा ने इन्हें अपने पास रख लिया और कुछ कालोपरान्त मिहारी एवं डांगरी नामक दो गाँव, बैठक, पाँव में सोना और रहने के लिये एक मकान देकर इनका मान बढ़ाया। महाराणा स्वरूपसिंह जी के बाद के तीन महाराणाओं—महाराणा शम्भुसिंह, महाराणा सज्जनसिंह और महाराणा फतहसिंह—के शासन काल में भी इनकी प्रतिष्ठा पूर्ववत् बनी रही। इनका देहान्त सं० १६५१ में उदयपुर में हुआ। राजकीय दग्ध स्थान, महासतियों में महाराणा अमरसिंह (प्रथम) की छतरी के सामने इनकी भी छतरी बनी हुई है।

बख्तावर जी ने कुल मिला कर ग्यारह ग्रन्थ बनाये जिनके नाम ये हैं—केहर प्रकाश, रसोत्पत्ति, स्वरूप यश प्रकाश, शंभु यश प्रकाश, सज्जन यश प्रकाश, फतह यश प्रकाश, सज्जन चित्र चंद्रिका, संचार्णव, अन्योक्ति प्रकाश, रागनियों की पुस्तक और सामंत-यश-प्रकाश। इनमें केहर प्रकाश इनका प्रधान ग्रंथ है। इसमें कमल प्रसन्न नाम की एक वेश्या के प्रेम का वर्णन है। यह सं० १६३६ में लिखा गया था। इसमें दस प्रकरण हैं और कुल मिला कर १४८६ छन्दों में समाप्त हुआ है। इसकी भाषा डिंगल है। कमल प्रसन्न एवं उसके प्रेमी कुँवर केसरी सिंह के चरित्र वर्णन में स्थान स्थान पर कवि ने रमणीय उद्भावनाओं तथा अनेक कोमल सूक्तियों का समावेश किया हैं। अतः केहर प्रकाश की प्रशंसा में कही हुई किसी सहृदय पाठक की यह उक्ति सचमुच ही ठीक प्रतीत होती है:—

श्रवणां नाहिं सुणीह, निज नैणा दीठी नहीं।
बातां मुकुट बणीह, राव बखत रचना सरस॥

इनके दो फुटकर कवित्त देखिये:—

जुरेई जँजीरन सें द्वार को उदारता दे,
हलें निज दल के सिंगार व्हीजियतु है।
विकट जु बाटन पै महानद घाटन पै,
भुरज कपाटन पै हूल दीजियतु है॥
'बखत' भनत भूमिपालन की रीति ये ही,
रौद्रता प्रचण्ड सों सदाही रीझियतु है।
येक मतवारो होय अंकुश न मानें तो का,
द्विर्द दरबार दूजे दूर कीजियतु है॥

दारिद पै विधिना बनाई हुती चिन्तामनि,
जाकों हरि कंठ कीनी भूषण में भायके।
'बखत' बनाये तब पारिजात कामधेनु,
ताकों सुरलोक राखे सुरन रिझायके॥
तबजु हमाऊ पच्छी दायक बनाये जेऊ,
छिपे कहुँ ठौर पंख छावत न आयके।
तब रान सज्जन बनायो तासों भूतल तें,
भाजि गयो दारिद पताल-पथ पायके॥

(७) **राव गुलाब जी**—ये बूँदी राज्य के दरबारी कवि थे। इनका जन्म सं० १८८७ में अलवर में हुआ था। ये जाति के भाट थे। इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी जिससे बहुत छोटी अवस्था में इन्होंने काव्य प्रकाश, सारस्वत चंद्रिका आदि ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन कर लिया था और बहुत अच्छी कविता करने लग गये थे। जब ये ४१ वर्ष के थे तब अलवर से बूंदी चले आये और आजीवन वहीं रहे। बूँदी के महाराव राजा रामसिंह जी ने इन्हें दो गाँव जीविकार्थ दिये थे और दुशाला, हाथी, ताज़ीम इत्यादि प्रदान कर इन्हें गौरवान्वित किया था। ये बूँदी स्टेट कौंसिल तथा वाल्टर राजपूत हितकारिणी सभा के सदस्य थे और महकमा रजिस्टरी के भी हाकिम थे। इनका देहान्त सं० १९५८ में हुआ था।

राव गुलाब जी बड़े मिलनसार, व्यवहार-कुशल तथा सहृदय व्यक्ति थे और कविता करने तथा समझने में निपुण थे। इनके संसर्ग से कई लोग अच्छी कविता करना सीख गये थे, जिनमें बिड़दसिंह और चन्द्रकला बाई के नाम प्रधान रूप से उल्लेखनीय हैं। सामयिक पत्र-प्रत्रिकाओं में इनकी कविताएं प्रायः छपा करती थीं, जिससे राजस्थान के सिवा बाहर के लोग भी इन्हें जानते थे। रसिक सभा, कानपुर ने गुलाब जी को 'साहित्य भूषण' की उपाधि से विभूषित किया था।

गणेशपुरी जी की तरह राव गुलाब जी का भी पिंगल और डिंगल दोनों भाषाओं पर समतुल्य अधिकार था, परन्तु पिंगल में वे जैसी सरसता ला सकते हैं वैसी डिंगल में नहीं। इन की कविताओं का राजस्थान में बहुत आदर है, और काव्य प्रेमी उन्हें बड़े चाव से पढ़ते, सुनते और सराहते हैं।

इनके रचे ग्रन्थों के नाम ये हैं:—(१) रुद्राष्टक (२) रामाष्टक (३) गङ्गाष्टक (४) बालाष्टक (५) पावस पचीसी (६) प्रन पचीसी (७) रस पचीसी (८) समस्या पचीसी (९) गुलाब कोष (१०) नाम चन्द्रिका (११) नाम सिंधु कोष (१२) व्यङ्गार्थ चन्द्रिका (१३) बृहद् व्यगाथ चंद्रिका (१४) भूषण चंद्रिका (१५) ललित कौमुदी (१६) नीति सिंधु (१७) नीति मंजरी (१८) नीति चंद्र (१९) काव्य नियम (२०) वनिता भूषण (२१) बृहद् वनिता भूषण (२२) चिंता तन्त्र (२३) मूर्ख शतक (२४) ध्यान रूप सत्तिका बद्ध कृष्ण चरित्र (२५) आदित्य हृदय (२६) कृष्ण लीला (२७) राम लीला (२८) सुलोचना लीला (२९) विभीषण लीला (३०) दुर्गा स्तुति (३१) लक्षण कौमुदी (३२) कृष्ण चरित्र (गौलोक खड, वृन्दावन खण्ड, मथुरा खण्ड, द्वारका खण्ड, विज्ञान खण्ड आदि) (३३) कृष्ण चरित्र सूची।

इनके दो कवित्त देखिये:—

मृग से मरोरदार खंजन से दौर दार,
चंचल चकोरन से चित्त चोर पाके हैं।
मीनन मलीनकार जलजन दीनकार,
भंवरन खीनकार अमित प्रभा के हैं॥

सुकवि गुलाब सेत चिक्कन विशाल लाल,
श्याम के सनेह सने अति मद छाके हैं।
बरुनी विशेष धारें तिरछी चितौनि वारे,
मैन बानहू तैं पैनै नैन राधिका के हैं॥

छैहैं बक मंडली उमड़ि नभ मंडल में,
जुगनू चमक ब्रजनारिन जरै हैं री।
दादुर मयूर झीने झींगर मचै हैं सोर,
दौरि दौरि दामिनी दिसान दुख दै हैं री॥
सुकवि गुलाब ह्वै हैं किरचैं करेजन की,
चौंकि चौंकि चौपन सौं चातक चिचै हैं री।
हंसन लै हंस उड़ि जै हैं ऋतु पावस में,
ऐ हैं घनश्याम घनश्याम जो न ऐ हैं री॥

(८) **ऊमरदान**—ये मारवाड़ राज्य के परगना फलौधी के ढाढरवाड़ा ग्राम में वि० सं० १९०८ में उत्पन्न हुए थे और जाति के चारण थे। इनके पिता का नाम बख्शीराम और दादा का मेघराज था। बाल्यावस्था में पिता माता की मृत्यु हो जाने से इनकी देख रेख करने वाला कोई घर में न रहा जिससे ये अत्यन्त उद्दंड हो गये और अपने ज्येष्ठ भ्राता नवलदान के कहने सुनने की परवा न कर राम स्नेही साधुओं में जा मिले। इन्हीं लोगों ने इनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया। अट्ठाईस वर्ष की आयु तक ये साधुओं के साथ रहे। पर जब कुछ ज्ञान-सम्पन्न हुए और अपनी विगत भूल का स्मरण आया तब रामस्नेहियों का साथ छोड़कर पुनः गृहस्थ बन गये।

ऊमरदान का क़द मझोला, शरीर सुदृढ़ और रंग गेहुंआ था। ये अत्यन्त सरल प्रकृति के जीव थे। मोटे वस्त्र एवं घुटनों तक धोती पहन कर जब हाथ में डण्डा लिये घर से बाहर निकलते तब पूरे कृषक प्रतीत होते थे। ये बड़े निःशङ्क एवं हास्य-प्रिय व्यक्ति थे। खूब प्रसन्न रहते थे। सबसे हँसकर मिलते-जुलते और ऐसी चटपटी बातें करते थे कि सुनने वालों के दिल खुश हो जाते थे। इनके व्यवहार में बड़ी मधुरता और बातों में अजीब चुलबुलापन था। एक बार भी यदि कोई इनसे मिल लेता तो उम्र

भर नहीं भूलता था। जो ठीक समझते उसे वे निर्भय होकर तत्काल कह डालते थे। संसार उन्हें क्या समझता है अथवा समझेगा, इसकी उन्हें लेश मात्र भी चिन्ता न थी। अपने इस स्वभाव का परिचय उन्होंने स्वयं ही इस प्रकार दिया है :—

जोगी कहो भव भोगी कहो, रजयोगी कहौ कौ केसेइ हैं।
न्यायी कहो अन्यायी कहो, कुकसाई कहौ जग जैसेइ हैं॥
मीत कहो वो अमीत कहो, ज्युं पलीत कहौ तन तैसेइ हैं।
ऊत कहो अवधूत कहो, लो कपूत कहो हम हैं सोइ हैं॥

इनका स्वर्गवास संवत् १९६० में हुआ था।

कवि ऊमरदान की रचनाओं का एक संग्रह 'ऊमर काव्य' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसमें ईश्वरोपासना, भजन की महिमा, दयानन्द दर्शन, जसवन्त जस जलद, धर्म कसौटी, प्रताप प्रशंसा, असंता की आरसी, अमल का औगण, दारू का दोष आदि अनेक फुटकर प्रसंग हैं। भाषा की स्वच्छता की अपेक्षा काव्यत्व की सरसता ऊमर-काव्य में प्रधान रूप से पायी जाती है। ये सुधारवादी कवि थे। इनकी कविता से रसज्ञता तो झलकती है, पर उद्दंडता की मात्रा अधिक होने से कहीं कहीं भद्दापन आगया है। धर्मध्वज साधु-महात्माओं का छिद्रोद्घाटन जिस ढंग से इन्होंने किया वह भी सभ्यरुचि के प्रतिकूल होने से कुछ ही लोगों को प्रभावित कर सकता है, सर्व साधारण को नहीं। हास्यरस पूर्ण इनकी कोई २ उक्तियाँ बड़ी चुभती हुई हैं। भाषा ऊमरदान की राजस्थानी है, जिसमें साहित्यिकता कम और ग्रामीणता विशेष है। शिक्षित समुदाय की अपेक्षा राजस्थान के अपठित लोगों में इनकी कविताओं का प्रचार अधिक है।

इनकी कविता का नमूना देखिये :—

गायन झीन सुरावलि में गहि, ज्यूँ बधिरादर बीन बजाई।
फूल दियो नकटे कर में फिर, रीस करी रुख राख रुखाई॥
पोल में उत्तम काव्य पढ्यौ, पुनि गोल कपूत की कीरति गाई।
अंध के अग्रिम ज्यूंहि गई वह, चूनरि बांधन की चतुराई॥

रोग को भवन ज्यूं कुजोग को समन जानो,
दया को दमन ओ गमन गरुवाई को।
हिम्मत को हासकारी विद्या को विनाश कारी,
तितिक्षा को तासकारी भीरू भरवाई को॥
ऊमर विचार सिख पाप रिख आपन में,
विषै विष व्यापन में पौन परवाई को।
भगतन को भाई ओ कसाई निज कामनी को,
शत्रु सुखदाई सुरा हेतु हरवाई को॥

---

(६) बिड़दसिंह—ये अलवर इलाके के गाँव किसनपुरे के जागीरदार थे, और जाति के चौहान थे। इनका जन्म संवत् १८९६ में आषाढ़ सुदी २ को हुआ था। इनके पिता का नाम कृपाराम, दादा का नाहरसिंह और पितामह का फतहसिंह था। कविता करना इन्होंने बूँदी के प्रसिद्ध कवि राव गुलाबसिंह से सीखा था। ये बहुत अच्छे कवि एवं बड़े भारी गुण ग्राहक थे। इनके यहाँ कवियों का मण्डली बराबर जमी रहती थी। ग्रन्थ तो इन्होंने कोई नहीं लिखा; पर फुटकर कवित्त-सवैये सैकड़ों की संख्यामें रचे हैं। इनकी कविता शृङ्गार रस प्रधान है और उसमें कला पक्ष खूब निभाया है।

इनकी कविता का नमूना देखिये :—

सोहत है किसलैक फनोवर बेलि बितान कौं फैंट बनायो।
कुन्द कली करि कौड़िन माल विभूति ज्यों अंग पराग लगायो॥
माधव केलि प्रसून लै खप्पर कोकिल कूक सदा कै सुनायो।
प्रान की भीख वियोगिनि पै ऋतुराज फकीर ह्वै मांगन आयो॥

काहू कर्म मुख्य राख्यो काहू नै उपासना कौ
विविध विधान करि जतायो सुडौल है।
काहू पंच भूत मन बुधि चित अहंकार
और हू प्रकृतिन सौं लियो करि तोल है॥
सत्य सरबज्ञ सर्वव्यापक अखंड एक
अलख अलेख ऐसे बद्यो काहू बोल है।

है न आदि अंत जाको ताकौ कहि सकत कौन
दृष्टि करि देखौ तौ दिखात गोल मोल है ॥

(१०) कविराज मुरारिदास जी (बूँदी)—ये सूरजमल जी के दत्तक पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १८६९ में और देहान्त सं० १९६४ में हुआ था। अपने पिता की तरह ये भी षट्भाषा में प्रवीण और काव्य कुशल कवि थे। वंश भास्कर लिखते समय जब सूरजमल जी ने महाराव राजा रामसिंह जी के गुण दोषों का भी विवेचना करना प्रारम्भ किया तब राव राजा उनसे सहमत न हुए और विवश होकर उन्हें अपने ग्रंथ को अधूरा छोड़ना पड़ा। इसे सूरजमल जी की मृत्यु के बाद मुरारिदास जी ने पूरा किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने डिंगल कोष और वंश समुच्चय नामक दो और ग्रंथ बनाये, जिनका राजस्थान में बड़ा आदर है। मुरारिदास प्राकृत मिश्रित ब्रजभाषा लिखते थे, जिसमें थोड़ा बहुत पुट राजस्थानी का भी रहता था। कविता इनकी हृदय बेधक एवं स्वतंत्र होती थी।

एक उदाहरण देखिये :—

सेस अमरेस औ गनेस पार पावैं नाहिं,
जाके पद देखि देखि आनँद लियो करैं।
अक्षर है मूल फेरि व्यक्त और अव्यक्त भेद,
ताही के सहाय सब उपमा दियो करैं ॥
अव्यय है संज्ञा तीनों काल सैं अमोघ क्रिया,
वाके रस लीन होय पीयूष पियो करैं।
रचना रचावै केहि भाँति तैं मुरारिदास,
ऐसे शब्द ईश्वर कैा नमन कियो करैं ॥

(११) चंद्रकला बाई—ये बूँदी के प्रसिद्ध कवि राव गुलाब जी के घर की दासी थीं। इनका जन्म सं० १९२३ में और देहान्त सं० १९६० और १९६५ के बीच में हुआ था। उक्त कवि राव जी के संसर्ग से इन्होंने अच्छी कविता करना सीख लिया था। पढ़ी-लिखी तो चन्द्रकलाबाई विशेष न थीं, पर कविता के मर्म को समझने की इनमें विलक्षण शक्ति थी और स्मरण शक्ति भी बहुत तीव्र थी जिससे इन्होंने सैकड़ों कवित्त-सवैये मुखाग्र कर लिए

थे। अपने गुरु गुलाब सिंह जी की तो प्रायः सभी अच्छी २ कविताएँ इन्हें कंठस्थ थीं। समस्या पूर्ति का इन्हें विशेष शौक़ था और इस कला में थीं भी ये बहुत निपुण। एक समस्या की पूर्ति कई प्रकार से कई रसों में कर सकतीं थीं और काव्य-चमत्कार सभी में इक सा होता था। हिन्दी के रसिक मित्र, काव्य सुधाकर आदि पत्रो मे इनकी कविताएँ प्रकाशित हुआ करती थीं। इनकी रचनाओ से मुग्ध होकर सीतापुर जिले के बिसवाँ नामक ग्राम के कवि मंडल ने इन्हें 'वसुन्धरा-रत्न' की उपाधि से विभूषित किया था।

इन्होंने करुणा-शतक, पदवी प्रकाश, राम चरित्र, महोत्सव प्रकाश आदि ग्रंथ लिखे, पर इनकी ख्याति शृंगार रसात्मक फुटकर कवित्त-सवैयों के कारण ही से विशेष है। इनकी भाषा सालंकार, सरस तथा व्यवस्थित है, और इन्होंने अपने भावों को सरल से सरल ढग से अभिव्यक्त करने का उद्योग किया है। हिन्दी की कवयित्रियों में कला की दृष्टि से इतनी अधिक श्रेष्ठता किसी ने प्रदर्शित नहीं की जितनी चन्द्र कला बाई ने। ये करुण रस के लिखने में भी सिद्ध हस्त थीं। विषाद की एक हृदय वेधक रेखा इनके करुणा-शतक में चित्रित दीख पड़ती है।

आगे हम इनकी दो कविताएँ उद्धृत करते हैं:—

नख तें सिख लौं सब साजि सिंगार, छटा छबि की कहि जात नहीं।
सँग लाय अली न लली ललचाय चली, पिय पास महा उमही ॥
कहि चन्द्रकला मग आवत ही, लखि दौरि तिया पिय बांह गही।
नहिं बोल सकी सरमाय लली हरषाय हिये मुसकाय चली ॥

जो अति दुर्लभ देवन कौं तन मानुष सो निज पुन्य न पावै।
इद्रिन के सुख में लय होय जु ईश्वर और न नैकु लखावै ॥
चन्द्रकला धिक हैं तिहि जीवन नारि सुतादिक में मन लावै।
है मति-हीन प्रवीन बन्यौं वह कांच के लालच लाल गमावै ॥

(१२) कविराजा मुरारिदान (जोधपुर)—ये आशिया शाखा के चारण जोधपुर नरेश महाराजा जसवंत सिंह जी (दूसरे) के आश्रित थे। इनके दादा का नाम बाँकीदास और पिता का भारतीदान था। मुरारिदान जी जोधपुर राज्य सभा (स्टेट कौंसिल) के मेम्बर थे और साहित्य शास्त्र के

पूर्ण मर्मज्ञ थे। महाराजा जसवंत सिंह जी का नाम जगत विख्यात करने के अभिप्राय से पंद्रह वर्ष तक कठोर परिश्रम कर इन्होंने "जसवन्त जसो भूषण" नामक एक रीति ग्रंथ बनाया, जो अलंकारों पर एक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। सं० १६५० में जब यह ग्रन्थ बन कर तैयार हो गया तब मेवाड़, कोटा, बूँदी आदि राज्यों के राजदरबारों से बड़े २ कवि और विद्वान जोधपुर बुलाए गये थे और इन सब की उपस्थिति में महाराजा जसवन्त सिंह जी ने इसे सुना था। इसकी कविता पर मुग्ध होकर उक्त महाराजा ने मुरारिदान को कविराजा की उपाधि और कई बहुमूल्य वस्तुएँ पुरस्कार में दीं, जिनका वर्णन उन्होंने ग्रंथ के अंत में किया है:—

इक गज द्वै हयराज, कनक भूषन सौं भूषित।
मुक्तमाल सिरपेच, रत्न जटित जु कर अति हित॥
कुंडल कंकन वसन, खड़ग जमदड्ड जुत भूषन।
पंच सहस्र मुद्रिका, अपर परिजन हित दिय गन॥
प्रति वर्ष सहस्र पट उपज के, लक्ष पूर्ति कौं ग्राम दिय।
निज ग्रंथ रीझ जसवन्त नृप, यह विध जग थिर नाम किय॥

'जसवन्त जसो भूषण' ८५२ पृष्ठों का एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इसका सारांश रूप 'जसवन्त भूषण' है, जो ३५१ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। ये दोनों ग्रन्थ मारवाड़ स्टेट प्रेस जोधपुर की ओर से छप चुके हैं। हिन्दी साहित्य के रीति ग्रन्थों में 'जसवन्त जसो भूषण' सबसे बड़ा है। इसकी सर्वोपरि विशेषता यह है कि कवि ने अलंकारों के नामों को ही उनका लक्षण माना है और गद्यमय परिभाषाएँ देकर उन्हें स्पष्टतः समझाने की पूरी २ चेष्टा की है। इसमें सन्देह नहीं कि इसके लिखने में कवि ने संस्कृत और हिन्दी के बहुत से प्राचीन तथा प्रसिद्ध ग्रंथों से सहायता ली है। पर नाम में ही लक्षण की कल्पना करने से उन्हें बहुत से स्थानों पर खींचातानी का आश्रय लेना पड़ा है और ऐसे उद्योग में सर्वत्र सफलता भी नहीं हुई है। इन्होंने अतुल्ययोगिता, अनवसर तथा अपूर्व-रूप ये तीन नये अलंकार बनाये हैं और प्रमाण को अलंकार ही नहीं माना है। 'जसवंत जसो भूषण' की रचना-शैली, काव्य-माधुर्य एवं विषय-विवेचना हृदय ग्राही है तथा

इससे मुरारिदान के साहित्य विषयक ज्ञान का अच्छा परिचय मिलता है। इनका देहान्त सं० १९७० में हुआ था।

इनकी कविता देखिये :—

गोकुल जनम लीन्हौ, जल जमुना को पीन्हौ,
सुबल सुमित्र कीन्हौ, ऐसो जस-जाप है।
भनत 'मुरार' जाके जननी जसोदा जैसी,
उद्धव! निहार नंद तैसो तिह बाप है॥
काम-वाम तें अनूप तज ब्रज-चन्द-मुखी,
रीझे वह कुबरी कुरूप सौं अमाप है।
पंचतीर-भय को न बीर नेह-नय को न,
बय को न, पूतना के पय को प्रताप है॥

सुर-धुनि-धार घनसार पारबती-पति,
या बिधि अपार उपमा को थौभियतु है।
भनत 'मुरार' ते बिचार सौं बिहीन कवि,
आपने गँवारपन सौं न छौभियतु है॥
भूप - अवतंस, जसवन्त! जस रावरो तो,
अमल अतंत तीनों लोक लौभियतु है।
सरद पून्यौं निसि जाए हंस को है बंधु,
छीर-सिंधु-मुकता समान सौभियतु है॥

(१३) **महाराज चतुरसिंह जी**—मेवाड़ के महाराणा संग्राम सिंह (दूसरे) के चार पुत्र थे—जगतसिंह, नाथसिंह, बाघसिंह और अर्जुनसिंह ज्येष्ठ पुत्र होने से जगतसिंह संग्रामसिंह के बाद मेवाड़ की गद्दी पर बैठे और इनके शेष भाइयों को क्रमशः बागोर, करजाली तथा शिवरती की जागीरें और महाराज की उपाधि मिली। महाराज चतुरसिंह जी करजाली के स्वामी बाघसिंह के वंशज थे और उनसे छठवीं पीढ़ी में हुए थे। इनका जन्म सं० १९३३ माघ कृष्णा १४ को हुआ था। इनके पिता का नाम सूरतसिंह और दादा का अनूपसिंह था। अपने पिता के चार पुत्रों में चतुरसिंह जी सबसे छोटे थे।

महाराज साहब के पिता बड़े धर्मात्मा एवं भगवद्भक्त पुरुष थे और दिन रात पूजा-पाठ तथा भजन-स्मरण में लगे रहते थे। इसलिये चतुरसिंह जी के हृदय में भी भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य के अंकुर जन्म ही से मौजूद थे। अठारह वर्ष की आयु में इनका विवाह हुआ जिससे इनके दो कन्याएँ हुईं। परन्तु १० वर्ष बाद इनकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। इससे सांसारिक विषय-वासनाओं से इनका मन उचट गया और दूसरा विवाह करने का विचार छोड़ अपना अधिक समय योगाभ्यास, ईश-भजन, शास्त्राध्ययन आदि में व्यतीत करने लगे। घर में रहने से स्वाध्याय में बाधा पड़ती थी इसलिये इन्होंने घर भी छोड़ दिया और उदयपुर शहर के बाहर सुकेर नामक गाँव के पास एक झोंपड़ी बना कर रहने लगे।

इस झोंपड़ी में महाराज साहब कई वर्षों तक रहे। प्रकृति के दीर्घ कालीन मनन ने इनके व्यक्तित्व को भी प्रकृतिमय बना रक्खा था। ये बड़े सरल हृदय, साधु प्रकृति एवं उदार थे। ऊँच-नीच का विचार छोड़ कर सभी श्रेणियों के लोगों से बड़ी विनम्रता और प्रेमभाव से मिलते और संभाषण करते थे। सरलता तो इनके जीवन का मूल मंत्र ही था। सरल जीवन और उच्च विचार के ये ज्वलन्त उदाहरण थे, जीवित प्रतिमा थे। इनके अंग-प्रत्यग से, वेश-भूषा से, वार्तालाप से, व्यवहार से, जहाँ देखो वहाँ से सादगी प्रस्फुटित होती थी। बातचीत करते समय ये इतनी सरल एवं मधुर भाषा का प्रयोग करते थे कि देखते ही बनता था। कठिन से कठिन विषय को सरल करके लोगों को समझा देना इनके नीचे था। कैसा भी कठिन विषय क्यों न हो, महाराज साहब की प्रतिभा-खराद पर चढ़ कर वह नया रूप धारण कर लेता था और उसकी दुरूहता हवा हो जाती थी।

विक्रम संवत् १९८६ में महाराज साहब को सोज़िश की तकलीफ़ हुई और करीब दस दिन बीमार रहने के बाद आषाढ़ वदि ९ को, प्रातःकाल नौ बजे इन्होंने अपनी जीवन लीला समाप्त कर ली। मृत्यु के कुछ ही समय पहले इन्होंने निम्नलिखित पद बनाया था जिसमें ईश्वर और अपने विभिन्न गुरुओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट की गई है :—

जगदीश्वर जीवाय दियो, थेंही थारो काम कियो।
दरशण योग दियो कर दाया, मरतलोक में अमर कियो।
एक एक अक्षर ईं'रा ने देख देख ने दंग रियो।
ईं' जग जंगल रा भटका ने पल ही में पलटाय दियो।
माँगूँ कई कई अब बाकी अण माँग्या ही अभय दियो।
आवा रे कागद साथे ज्यूँ आखर पढ़ताँ आय गियो।
पाराशर्य, पतंजल जोगी, कीके, कपिल, गुमान, कियो।
कर करुँणा थूँ ही दोनाँ पे भीषम, ईश्वर कृष्ण दियो।
चौड़े खुल्यौ कमाड़ खजानो देने भी कीनेक दियो।
मनख शरीर दियो थें मालक शागे जनम सुधार दियो।
'चातुर' चोर चाकरी रो पण आखर थें अपणाय लियो।
जगदीश्वर जीवाय दियो, थें ही थारो काम कियो।

चतुरसिंह जी संस्कृत के अच्छे विद्वान थे और हिन्दी के सिवा गुजराती, मराठी, बंगला आदि भाषाएँ भी जानते थे। इन्होंने ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य, रामानुज भाष्य, उपनिषद्, श्री मद्भगवद् गीता, योगवाशिष्ठ, पंचदशी, आत्मपुराण, विचार सागर, श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि ग्रन्थों का खूब मनन कर रखा था। हिन्दी के कवियों में कबीर, तुलसी, मीराँ, दादू, और नानक की कविता इन्हें बहुत पसंद थी। इन्होंने छोटे मोटे १६ ग्रंथ बनाये, जिनके नाम ये हैं:—

(१) भगवद्गीता की समश्लोकी सार दर्शावणी और गंगा जली टीका (२) परमार्थ विचार (भाग १—७) (३) योग सूत्र की हिन्दी और मेवाड़ी टीका (४) सांख्य तत्व समास की टीका (५) सांख्य कारिका की टीका (६) मानव मित्र राम चरित्र (७) शेष चरित्र (८) अलख पचीसी (९) तुँही अष्टक (१०) अनुभव प्रकाश (११) चतुर चिन्तामणि (भाग १—३) (१२) महिम्न स्तोत्र—मेवाड़ी समश्लोकी अनुवाद (१३) चन्द्रशेखराष्टक—मेवाड़ी समश्लोकी अनुवाद (१४) हनुमान पंचक (१५) समान बत्तीसी (१६) चतुर प्रकाश।

महाराज साहब ने राजस्थानी और ब्रजभाषा दोनों में कविता की है।

इनकी भाषा बहुत सरल, संयत तथा सादी है और इनकी कविता से इनका व्यक्तिगत जीवन प्रतिबिम्बित होता है। इन्होंने भक्ति और वैराग्य पर प्रधान रूप से लिखा है, और जो भी लिखा है वह दूसरों से लेकर नहीं, बल्कि अपने अनुभव के आधार पर। इसलिए इनके काव्य में सच्चाई और स्वाभाविकता है। एक बहुत बड़ी विशेषता जो महाराज साहब की कविता में दीख पड़ती है, वह यह है कि अत्यन्त भावमयी एवं मौलिकता-पूर्ण होने साथ साथ वह सदुपदेशों से ओत-प्रोत है और मनुष्यों को उच्च आदर्शों के दर्शन कराती है। ऐसे सत्यं, शिवं और सुन्दरं साहित्य के रचयिता बहुत कम पैदा होते हैं।

इनकी कविता के दो-एक नमूने देखिये:—

(दोहे)

रहँट फरै चरख्यौ फरै, पण फरवा में फेर ॥
वो तो वाड़ हरयौ करै, वो छूंता रा ढेर ॥

भावार्थ—रहँट फिरता है और कोल्हू भी, मगर दोनों के फिरने में (फिरने के उद्देश्य में) अंतर है। वह (रहँट) तो (पानी देकर) गन्ने के खेत को हरा भरा करता है और वह (कोल्हू) गन्नो को पेल कर छोई का ढेर लगा देता है।

वाला वचे विरोध जो, करे फूँकरयाँ चाड़।
वासूं तो भाटा भला, रूप न मेटे राड़ ॥

भावार्थ—उन लोगों से जो दो प्रेमियों को उकसा कर उनमें मन मुटाव पैदा करते हैं, तो वे पत्थर (मीनारे) अच्छे हैं जो दो सीमाओं के बीच में गड़ कर झगड़े का अंत कर देते हैं।

चावै जतरी छोल जे, वेर भले ही वाड़ ।
मंदर रा म्हारा कदी, करजे मती कमाड़ ॥

भावार्थ—(लकड़ी सुतार से कहती है) हे सुतार, तेरी इच्छा हो उतनी तू मुझे छीलना और काटना। पर कभी मंदिर के किवाड़ तो मेरे मत बनाना।

भावे जी भुगताय, दूजा दुख दीजे सभी।
खोळा सूं खिसकाय, मत दीजे मातेश्वरी॥

भावार्थ—हे मातेश्वरी, तेरी मर्जी हो वे दुख तू मुझे देना। पर कम से कम तेरी गोदी में से तो मुझे मत खिसकाना।

कारड़ तो कह्तौ फरै, हर कीने हक नाक।
जींरी व्है वीने कहै हिये लिफाफो राक॥

भावार्थ—काड़ तो हर किसी को व्यर्थ ही अपनी बात कहता फिरता है। पर लिफ़ाफ़ा तो जो बात जिसको कहने की होती है उसी को कहता है।

(सवैया)

ब्याह की चाह उठे मन मांहि तो वर्ष पचीस वा बीस में कीजै।
तीस मों फेरहु जोड़ सके मिल चार की शून्य पै नाम न लीजै॥
शीश नटे अरु काँपे कलेवर दूबरो देह छिनो छिन छीजै।
फेर भी चाह उठे उर माँहि तो खोलि उपान कपाल में दीजै॥

(पद)

रे मन छन ही में उठ जाणो।
ईं रो नी है ठोड़ ठिकाणो, अरे मन छन ही में उठ जाणो।
साथे कई न लायो पेली, नी साथे अब आणो।
वी वी आय मलेगा आगे, जी जी करम कमाणो॥ १॥
सो सो जतन करे ईं तन रा, आखर नी आपांणो।
करणो वे सो झटपट कर ले, पछे पड़े पछताणो॥ २॥
दो दनरा जीवारे खातर, क्यूँ अतरो एठांणो।
हाथां में तो कई न आयो, वातां में बेकाणो॥ ३॥
कणी साम पे गाम वसावे, कणी नीम कमठाणो।
ईं तो पवन पुरुष रा मेला, चातुर भेद पछाणो॥ ४॥

(१४) केसरी सिंह जी बारहठ—बारहठ जी मेवाड़ के निवासी हैं। इनके पिता का नाम खेमराज था। आदि में इनके पूर्व पुरुष गुजरात के रहने वाले थे। लगभग छ सौ वर्ष हुए, तब वे वहां से मेवाड़ में आकर

बसे। केसरी सिंह जी का जन्म सं० १६२७, आषाढ़ वदि २ को चारण जाति के सोदा बारहठ कुल में हुआ।

केसरी सिंह जी बड़े सच्चरित्र, शील-स्वभाव तथा निरभिमानी पुरुष हैं और सुकवि होने के साथ २ इतिहास के भी भारी विद्वान हैं। अब तक इन्होंने बहुत सी फुटकर कविताएँ तथा प्रताप चरित्र, दुर्गादास चरित्र, जसवंत सिंह चरित्र और राजसिंह चरित्र नाम के चार काव्य ग्रंथ बनाये हैं, जिनमें से प्रताप चरित्र के सिवा दूसरे अप्रकाशित हैं। प्रताप चरित्र में महाराणा प्रताप का जीवन-इतिहास वर्णित है। पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी, बाबू श्याम सुन्दर दास जी, पं० अयोध्या सिंह जी उपाध्याय आदि विद्वानों ने इस ग्रन्थ की भूरि २ प्रशंसा की है और डाक्टर पीताम्बर दत्त जी बर्थवाल ने तो इसके आधार पर बारहठ जी को इस युग का 'भूषण' बतलाया है। संवत् १६६२ में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की ओर से 'रत्नाकर पुरस्कार' तथा 'बलदेव दास पदक' भी इन्हें इस ग्रंथ पर मिले हैं। बारहठ जी की कविता ओजस्विनी, शब्द योजना ललित एवं वर्णन शैली सरस तथा मर्म स्पर्शिणी होती है और वीर रस का उसमें अच्छा परिपाक मिलता है।

दो-एक नमूने देखिये:—

बोली वीर भगिनी मैं तो पै बलिहारी वीर
जगावत शूर और जरी मम जी की है।
जननी हमारी जन्म भूमि हेत जावत तू
कीरति अपार कहौं केती या घर की है॥
कै तो जीत ऐहू, कै पयान कर देहू प्रान
सुनत अथाह चतुरंगिनी अरी की है।
मो कौं सरमावे मत, सासरे समाज बीच
तेरे भुज भाई आज लाज चूनरी की है॥

मैं तो अधीन सब भांति सों तुम्हारे सदा,
तापै कहा फेर जयमत्त ह्वै नगारो दे।
करनो तू चाहै कछु और नुकसान कर,
धर्मराज मेरे घर एतो मत धारो दे॥

दीन होइ बोलत हूँ पीछो जियदान देहु,
करुना निधान नाथ ! अबके तो टारे दे।
बार बार कहत प्रताप मेरे चेटक कों,
एरे करतार ! एक बार तो उधारो दे॥

(१५) पंडित उमाशंकर जो द्विवेदी, साहित्यरत्न—पंडित जी का जन्म मेवाड़ राज्य के राजनगर ज़िले के पीपलान्तरी गाँव में सं० १६४६ में हुआ था। ये जाति के पालीवाल ब्राह्मण हैं। इनके पिता का नाम नानजी राम था, जो संस्कृत के अच्छे विद्वान और यशस्वी वैद्य थे। पंडित जी के गाँव में कोई स्कूल न था। इसलिए इनके पिता ने अपने घर ही पर इन्हें शिक्षा दी। इन्होंने आरंभ में हिन्दी और फिर संस्कृत आदि भाषाओं में अभ्यास करके शीघ्र ही अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद इन्होंने मेवाड़ के दो-एक ठिकानों में कार्य किया और तदनंतर उदयपुर में चले आये, जहाँ आज कल सेटलमेंट के महकमें में हेडक्लर्क का काम कर रहे हैं।

पंडित जी एक सहृदय साहित्य सेवी और राष्ट्रीय विचारों के व्यक्ति हैं। सरकारी नौकरी के बाद जितना भी समय शेष रहता है उसका अधिकांश ये साहित्य चर्चा में व्यतीत करते हैं। ये हिन्दी गद्य और पद्य दोनों लिखते हैं। ग्रन्थ तो इन्होंने अभी तक कोई नहीं लिखा पर फुटकर लेख तथा कविताएँ प्रचुर परिमाण में लिखी हैं। पंडित जी वीर रस के बड़े भक्त हैं, पर शृंगार, शान्त आदि अन्य रसों में भी बड़ी मार्मिक कविता करते हैं। इनकी भाषा भावों के साथ चलती है और परिश्रम की झलक न इनके भावो में दृष्टिगोचर होती है, न भाषा में। पंडित जी की कविता में बल है, क्योंकि उसमें सचाई और भावना है।

इनकी कविता देखिये:—

अंगनि उघारि सान बान मरजाद छीनी
पंत पंथियों ने चीर खींच के उघारी लाज।
रस हीन, भाव हीन, व्यंग व्यंजना से हीन;
भूषन विहीन कीन्ह, कीन्ह नटनी को साज।

सूर है न तुलसीन, देव पद्माकर है;
गावै दुखड़े को कहाँ कौन पै करत नाज।
कबौं भोज सिवा छत्रसाल को पुकारे कबौं
रोवत है ज़ार ज़ार कविता बिचारी आज॥

उद्गम कैधौं रौद्र-रस की नदी को भीम,
कैधौं यह ताली मुंडमाली की विभूती की।
कैधौं दृढ़ साहस की सीम को मिनार गड़्यो,
कैधौं विसराम थली कीरति अछूती की॥
'विरही' विराजमान कैधौं अभिमान हिन्द,
कैधौं है निसानी प्रलैकाल करतूती की।
कैधौं गढ़ बाँको गहिलोतन को चित्रकूट,
कैधौं धरि धीर बैठी धाक रजपूती की॥

(१५) कुमारी दिनेशनंदिनी चोरड़िया—बाई जी का जन्म सं० १९७३ में उदयपुर में हुआ। आपके पिता श्रीयुत श्यामसुन्दर लाल जी चोरड़िया, एम. ए., अंग्रेज़ी के प्रौढ़ विद्वान, भावुक कवि एवं हिन्दी भाषा के प्रेमी हैं और उदयपुर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों में गिने जाते हैं। इस समय आप मॉरिस कॉलेज नागपुर में अंग्रेज़ी के प्रोफेसर हैं। बाई जी के दादा मोतीसिंह जी कन्याओं को स्कूलों में भेजने के पक्षपाती नहीं थे, इसलिए इनका पाठारंभ घर ही पर हुआ। परन्तु जब इन्होंने हिन्दी अंग्रेज़ी, गणित आदि विषयों में अच्छी दक्षता प्राप्त कर ली तब इनका ध्यान उच्च शिक्षा की ओर गया और सन् १९३८ में नागपुर विश्वविद्यालय से मैट्रिक्यूलेशन की परीक्षा पास की। आजकल आप इन्टरमीडिएट की परीक्षा के लिए तैयारी कर रही हैं। अपने स्वतंत्र विचारों के कारण बाई जी अभी तक अविवाहित हैं। कहा जाता है कि इनको योगाभ्यास का भी अच्छा अनुभव है।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने से बाई जी का झुकाव हिन्दी कविता की ओर हुआ और आपने गद्य-काव्य लिखना शुरू किया जो माधुरी, सुधा, हंस, विशाल भारत, कल्याण आदि हिन्दी के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में समय

समय पर छपते रहे। धीरे २ बाई जी का नाम चारों ओर फैल गया और आज तो हिन्दी-साहित्य के गद्य-काव्य लेखकों में इनका एक ख़ास स्थान माना जाता है। इनके गद्य-काव्यों के तीन संग्रह—गुरू संदेश, शबनम तथा मौक्तिक माल प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से शबनम पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की तरफ से 'सकसेरिया पुरस्कार' भी इन्हें मिला है।

प्रारंभ में बाई जी के गद्य-काव्यों में संस्कृत शब्दों की बहुलता रहती थी। पर जब से हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दोस्तानी का सवाल एक राजनैतिक समस्या के रूप में देश के सामने आया है, इन्होंने हिन्दोस्तानी को अपनी भाव-व्यंजना का माध्यम बना लिया है। इनकी रचना का प्रधान विषय है, प्रेम। इसमें संदेह नहीं कि भावुकता से ओत-प्रोत इनके इस प्रेम-वर्णन से इन्द्रियलिप्सा झलकती है, पर साथ ही उसमें एक विशेष तल्लीनता, स्त्रियोचित कोमलता भी पायी जाती है जो इन्हें हिन्दी के अन्यान्य गद्य-काव्य रचयिताओं से बहुत ऊँचा उठा देती है। बाई जी के गद्य-काव्यों में सौन्दर्य, यौवनोल्लास और भावना मय जीवन का प्रतिबिंब प्रत्यक्ष है।

इनका एक गद्य-काव्य यहाँ दिया जाता है:—

ऐ मेरे चित्रित शयन-मन्दिर की खिड़की को स्पर्श करने वाले स्वप्निल श्यामल वृक्ष! तेरे मेरे बीच कोई रोज़ का पर्दा नहीं है!

कोयल के मञ्जुल सङ्गीत को सुन कर मैंने तेरे अंग अंग में कामाग्नि प्रज्वलित होते देखी है;

मैंने तेरी दिव्य आत्मा के देवता पवन को तेरे कोमल हृदय को स्पर्श करते, और तेरे चिरपिपासित ओष्ठाधरों पर अपने अतृप्त अधरों को रख कर तुझ में राग का ज्वार लाते देखा है!

तैंने भी मुझे प्रेम-पेंग में झूलती देखा है, संयोग और वियोग में हँसते और कलपते देखा है, और प्रीतम-प्यारे के साथ दान-लीला और मान-लीला करते देखा है।

ऐ शीतल, स्वप्निल श्यामल वृक्ष! तेरे मेरे बीच कोई रोज़ का पर्दा नहीं है!

सातवां अध्याय



आधुनिक काल (गद्य)

राजस्थान में गद्य लिखने की परंपरा बहुत प्राचीन काल से है। हिन्दूपति महाराज पृथ्वीराज चौहान के समय के कुछ पट्टे-परवाने और सनदें मिली हैं, जो राजस्थानी गद्य में लिखी हुई हैं। इनके सिवा कुछ जैन लेखकों के लिखे हुए गद्य-ग्रन्थों का पता भी लगा है। संवत् १६८० के आस पास जटमल नाम का एक कवि हुआ था। इसने 'गोरा-बादल की बात' नामक एक छोटा सा ग्रंथ बनाया। इस ग्रन्थ की कई प्राचीन हस्त-लिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं जिनमें से एक प्रति में पद्य के साथ साथ गद्य भी दिया हुआ है। इससे मालूम होता है कि वह गद्य और पद्य दोनों के लिखने में सिद्धहस्त था। जटमल के बाद दामोदर दास नामक एक दादू पंथी साधु का लिखा हुआ गद्य ग्रन्थ मिलता है, जो मार्कंडेय पुराण का अनुवाद है; यह संवत् १७१५ के लगभग बना था। इसके अनन्तर राजस्थान का गद्य-साहित्य ख्यातों[1] और बातों[2] के रूप में विशेषकर के मिलता है, जिनका इतिहास और भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बड़ा महत्व है। इन ख्यातों में 'मुँहणोत नैणसी री ख्यात,' 'जोधपुर रा राठोड़ाँ री ख्यात,' 'बीकानेर रा राठोड़ाँ री ख्यात' आदि सर्व प्रसिद्ध हैं। बात-साहित्य तो बहुत विस्तृत है। ये बातें ऐतिहासिक, धार्मिक, पौराणिक, नैतिक आदि विविध विषयों पर लिखी गई हैं और कोई कोई

१—इतिहास और वंश सम्बन्धी ग्रन्थ।

२—कहानी को राजस्थानी में बात कहते हैं।

तो साहित्यिक उत्कर्ष के दृष्टि-कोण से भी बहुत मार्मिक तथा सुन्दर बन पड़ी है। सब से अधिक बातें मारवाड़ के कविराजा बांकीदास ने लिखी हैं। इनकी लिखी बातों की संख्या २८०० के लगभग हैं। ये सब अभी तक अमुद्रित हैं।

विक्रम संवत् १९०० के आस पास तक राजस्थान में राजस्थानी गद्य में साहित्य-निर्माण करने की परम्परा रही। पर इसके अनन्तर जब से भारत में राष्ट्रीयता की लहर उठी और हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का पद दिया जाने लगा तब से प्रान्तीय भाषा के मोह को छोड़ कर राजस्थान के लेखकों ने हिन्दी-गद्य में लिखना शुरू कर दिया और फलस्वरूप शुद्ध साहित्यिक राजस्थानी गद्य का विकसित होना रुक गया। अतएव इस समय से राजस्थानी गद्य का इतिहास एक तरह से राजस्थान में हिन्दी गद्य ही का इतिहास है। इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण देश होने से यहां के विद्वानों ने अधिकतः इतिहास ग्रन्थ बनाये जिनमें से कुछ का राजस्थान और भारत में ही नहीं, बल्कि भारत के बाहर भी बहुत से देशों में अच्छा आदर हुआ। इन विद्वानों में महामहोपाध्याय राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा का स्थान सर्व प्रथम है। ओझा जी राजस्थान के प्रमुख हिन्दी-लेखक और हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ इतिहासकार हैं। इनके जोड़ का इतिहासवेत्ता हिन्दी में अभी तक कोई दूसरा नहीं हुआ। अँग्रेज़ी साहित्य में जो आदरणीय स्थान प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन (Gibbon) का है वही हिन्दी साहित्य में ओझा जी को प्राप्त है। राजस्थान के लिये यह बड़े गौरव की बात है। ओझाजी के अलावा भी राजस्थान में कुछ ऐसे इतिहासवेत्ता हुए और आज भी विद्यमान हैं जिनके ग्रन्थ किसी भी साहित्य को गौरव दे सकते हैं। इनमें सर्व श्री कविराजा श्यामलदास, मुंशी देवीप्रसाद, दीवान बहादुर हरबिलास सारड़ा, पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ और पं० रामकर्ण आसोपा के नाम प्रधान रूप से उल्लेखनीय हैं।

राजस्थान के प्राचीन गौरव तथा ऐतिहासिक वैभव को प्रकाश में लाने के लिए जितना परिश्रम ओझाजी प्रभृति विद्वानों ने इतिहास और पुरातत्व पर किया क़रीब क़रीब उतना ही उद्योग जयपुर के पुरोहित श्री हरिनारायण जी ने यहाँ के प्राचीन काव्य साहित्य, विशेषतः संत साहित्य को एकत्र कर ने

में किया। लगभग चालीस वर्ष तक घोर परिश्रम कर इन्होंने दादू, सुन्दरदास आदि सन्त कवियों को इधर उधर बिखरी हुई कविताओं का संग्रह किया तथा उनकी प्रामाणिक जीवनियाँ लिखीं और उनके संबन्ध में फैली हुई अनेकों ग़लतफ़हमियां दूर कीं। पुरोहितजी द्वारा संपादित सुन्दर-ग्रन्थावली, ब्रजनिधि ग्रन्थावली आदि संग्रह-ग्रन्थों की भूमिकाएँ इस कथन के प्रौढ़ प्रमाण हैं। ये भूमिकाएँ बड़ी छान बीन के बाद लिखी गई हैं और पंडितजी के अनवरत अध्ययन, सतत श्रम और असामान्य साहित्य प्रेम का परिचय देती हैं। पं० हरिनारायणजी की तरह ठाकुर भूरसिंहजी शेखावत, बाबू रामनारायणजी दूगड़, मुंशी देवीप्रसादजी, पंडित रामकर्णजी आसोपा, सूर्य्यकरणजी पारीक, ठाकुर रामसिंहजी, स्वामी नरोत्तमदासजी आदि विद्वानों ने भी प्राचीन काव्यों का संग्रह और सम्पादन कर उनके रचयिताओं की कीर्ति को विनष्ट होने से बचाने का बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया है। इनमें से कुछ ने समालोचना का काम भी किया है। पर ये आलोचनाएँ बहुत दूर तक नहीं जातीं; आलोचना शास्त्र की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। क्योंकि इनमें किसी ने भी काव्यों के गुण-दोषों का विवेचन कर उनके मर्म को समझाने की कोशिश नहीं की, केवल मात्र उनके बाह्य रूप को परखा है। वस्तुतः ये आलोचनाएँ एक तरह से ग्रथ-प्रणेताओं के गुणानुवाद और उनकी कृतियों पर दी हुई अपनी एकांगी सम्मतियो के रूप में है। हाँ, सूर्य्यकरण जी पारीक की आलोचनाएँ अवश्य ऊँचे ढंग की हुआ करती थीं और यह आशा थी कि आगे चल कर वे इस दिशा में और भी अधिक प्रवीणता प्राप्त कर लेंगे। पर पारीक जी अब नहीं रहे। उनकी मृत्यु से राजस्थान को भारी धक्का पहुँचा है।

अच्छे औपन्यासिक और नाटककार राजस्थान में बहुत कम हुए हैं—पं० लज्जाराम जी मेहता, ठा० कल्याण सिंह जी और श्री जर्नादन राय जी। पं०, लज्जाराम जी ने धूर्त्त रसिकलाल, हिन्दू गृहस्थ, आदर्श दंपती, विपत्ति की कसौटी आदि बहुत से उपन्यास लिखे थे। ये सभी उपन्यास सामाजिक हैं। इनमें आदर्श समाज की कल्पना की गई है और क्या चरित्र-चित्रण, क्या कथानक और क्या घटना वैचित्र्य सभी दृष्टियों से खरे सिद्ध हुए हैं। कुछ वर्ष हुए जब ठाकुर कल्याणसिंह जी (खारचियावास) ने सत्यानन्द तथा शुक्र और सोफिया नाम के दो उपन्यास लिखे थे। कला के विचार से ये उपन्यास भी

बहुत सुन्दर बन पड़े थे और इस लिये इनका प्रचार भी अच्छा हुआ। पर न मालूम क्यों, ठाकुर साहब ने बाद में कोई उपन्यास नहीं लिखा। श्री जनार्दनराय ने दो उपन्यास और चार-पाँच नाटक लिखे हैं। ये कहानियाँ भी अच्छी लिखते हैं। इनसे हिन्दी का हित होने की बड़ी आशा है। नाटक शिवचन्द्र भरतिया के भी अच्छे हैं। पर ये राजस्थानी में लिखे हुए हैं। गद्य-काव्य लेखकों की तो राजस्थान में एक तरह से बाढ़ सी आगई है। हिन्दी में जितने गद्य-काव्य लेखक इस समय विद्यमान हैं, उनमें आधे से अधिक तो अकेले राजस्थान ही के हैं।

राजस्थान के सामयिक पत्र-पत्रिकाओं का इतिहास एक दुख भरी कहानी है। बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में जहाँ उच्चकोटि के कई दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र निकलते हैं वहाँ राजस्थान से एक भी दैनिक पत्र नहीं निकलता और 'राजस्थान', 'नवज्योति' आदि दो-एक साप्ताहिक पत्र जो अजमेर से निकल रहे हैं उनकी भी आर्थिक स्थिति कोई बहुत संतोषजनक नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि ये पत्र रियासती जनता को स्वतंत्रता का पाठ पढ़ाना चाहते हैं जिसे यहाँ के राजा-महाराजा सहन नहीं कर सकते। राजस्थान में इस समय छोटी बड़ी कुल मिला कर २३ रियासतें हैं। इन में से प्रायः सभी बड़ी बड़ी रियासतों की ओर से पत्र निकलते हैं। पर इन पत्रों में सिवा इश्तहारों और सरकारी विज्ञप्तियों के और कुछ नहीं रहता। इन के द्वारा न तो प्रजा के दुख-दर्द राजा तक पहुँचाये जा सकते हैं, न वहाँ के शासन की अलोचना हो सकती है और न भारतीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर विचार-प्रदर्शन हो सकता है। 'सरस्वती', 'सुधा', 'विशालभारत' आदि के ढंग का कोई मासिक पत्र भी यहाँ से नहीं निकलता। कुछ वर्ष पहले 'त्याग भूमि' नाम का एक मासिक पत्र श्रीयुत हरिभाऊ उपाध्याय ने निकाला था। इसका राजस्थान की जनता ने अच्छा स्वागत किया। पर यह भी राष्ट्रीयता के रंग में डूबा रहता था जिसका परिणाम यह हुआ कि आज उसके संबंध की कहानी मात्र कहने को रह गई है। बात यह है कि इस बीसवीं शताब्दी में कोई अराष्ट्रीय पत्र भारत में जी नहीं सकता और राष्ट्रीयता से राजा-महाराजाओं का ३६ का सम्बन्ध है, इसलिये कोई राष्ट्रीय पत्र यहाँ चल नहीं सकता। दुख तो यह है कि जिस प्रकार के विचारों का अंग्रेज़ी इलाक़ों में

आग की छोटी २ चिनगारियों का सा मूल्य भी नहीं है, वही विचार राजस्थान में बम के भयंकर गोले समझे जाते हैं। यह बात ज़रा विचारणीय है। सारांश, पत्रकारिता की दृष्टि से राजस्थान आज भी क़रीब क़रीब उसी जगह पर है, जिस जगह पर पचास वर्ष पहले था और निकट भविष्य में भी इस दिशा में बहुत अधिक उन्नति की आशा नहीं है।

पत्रकारिता को छोड़ कर अन्य क्षेत्रों में हिन्दी-प्रगति का कार्य यहाँ बड़े वेग से हो रहा है। विश्वविद्यालयों से उच्च शिक्षा प्राप्त किये हुए बहुत से नवयुवक लेखक बड़ी लगन के साथ हिंदी-साहित्य की सेवा कर रहे हैं। राजस्थानी ग्रंथ माला (पिलाणी), राजस्थान रिसर्च सोसाइटी (कलकता), राम विलास पोद्दार स्मारक ग्रंथ माला (नवलगढ़), राजस्थानी साहित्य परिषद (बीकानेर), संत-ग्रंथ-माला (जयपुर) आदि संस्थाओं की स्थापना हुई है, जहाँ से उच्च कोटि का साहित्य निकल रहा है। अभी तक इन सस्थाओं की ओर से संग्रह-ग्रंथ ही अधिकतः प्रकाशित हुए हैं। पर आगे चल कर विभिन्न विषयों के मौलिक ग्रंथों का प्रकाशन भी इनके द्वारा होगा, ऐसी आशा है।

(१) **कविराजा श्यामलदास**—ये दधिवाड़िया गोत्र के चारण मेवाड़ राज्य के ढोकलिया ग्राम के निवासी थे। इन के पूर्वज मारवाड़ राज्यान्तर्गत मेड़ते परगने के गाँव दधिवाड़ा में रहते थे और रूण के सांखले राजाओं के 'पोलपात' थे। जब राठोड़ों ने सांखलों से उनका राज्य छीन लिया तब वे मेवाड़ में चले आये। उनके साथ श्यामलदास जी के पूर्वज भी यहाँ आकर बसे। दधिवाड़ा गाँव से आने के कारण ये दधिवाड़िया कहलाये।

श्यामलदास जी का जन्म सं० १८९३ आषाढ़ कृष्णा ३ मंगलवार को हुआ था। इनके दादा का नाम रामदीन और पिता का कमजी (कायमसिंह जी) था। ये चार भाई थे—ओनाड़सिंह, श्यामलदास, ब्रजलाल और गोपाल सिंह। इन्होंने दस वर्ष की आयु में व्याकरण का सारस्वत ग्रंथ पढ़ना प्रारंभ किया और उसके बाद वृत्तरत्नाकर, साहित्य-दर्पण, रसमंजरी, कुवलयानंद इत्यादि ग्रंथों का अध्ययन किया जिससे संस्कृत काव्य के प्राय: सभी अंगों का इन्हें अच्छा बोध हो गया। सं० १९१२ तक विद्याभ्यास चलता रहा। इस अर्से में इन्होंने संस्कृत के सिवा उर्दू-फ़ारसी और डिंगल में भी अच्छी

दक्षता प्राप्त कर ली। इन्होंने दो-एक ग्रंथ ज्योतिष तथा वैद्यक के भी पढ़े थे।

इनका पहला विवाह सं० १६०७ में शाकरड़ा के भादकलाजी की बेटी से हुआ। सं० १६१६ में इनके एक पुत्र हुआ जो तीन वर्ष बाद मर गया। फिर तीन कन्याएँ और दो पुत्र हुए, जो बहुत छोटी अवस्था में परलोक सिधार गये। इन्होंने दूसरा विवाह सं० १६१६ में किया था। इनके एक भी पुत्र जीवित नहीं रहा जिससे इन्होने अपने छोटे भाई के पुत्र जसकरण को अपनी गोद ले लिया था। श्यामलदासजी का देहान्त सं० १६५१ में हुआ।

श्यामलदासजी एक सभा-चतुर, नीति-निपुण एवं स्पष्टभाषी पुरुष थे और महाराणा सजन सिंह जी के इतने कृपा पात्र थे कि उनके दाहिने हाथ समझे जाते थे। इसलिये लोग इनसे प्रायः बहुत जलते थे। इसका एक कारण यह भी था कि ये हाँ-हुज़ूरी नापसंद करते थे और कितना ही प्रतिष्ठित व्यक्ति क्यों न होता उसे खरी २ सुनाये बिना नहीं रहते थे। ये कहा करते थे कि अपने मतलब के लिए मीठी २ बातें तो सभी कह देते हैं। पर हितकारक कटु बात कहने वाले कम मिलते हैं। अतः कटु सत्य कहने का काम मेरा है। ये (State Council) महद्राज सभा के मेम्बर थे और इतिहास-कार्यालय, पुस्तकालय, म्यूज़ियम आदि की देख-रेख भी करते थे। इसके सिवा राज-काज सम्बन्धी प्रायः सभी महत्व पूर्ण विषयों पर इनकी सलाह ली जाती थी। मेवाड़ राज्य के प्रति की हुई सेवाओं के कारण कविराजा जी का सम्मान भी खूब हुआ। महाराणा सज्जनसिंहजी ने इन्हें कविराजा की पदवी, जुहार, ताजीम, छड़ी, बाँह पसाव, चरण शरण की मुहर, पैरों में सर्व प्रकार का सुवर्ण भूषण और पगड़ी में माँझा आदि देकर इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई जिसका वर्णन इन्होंने स्वयं ही निम्न लिखित छप्पय में किया है—

जिम जुहार ताजीम, पाय लंगर हिम पटके।
पूरण बाँह पसाव, खळां अदवां मन खटके॥

जाहिर छुड़ी जळेब, थरु बीड़ो जस थापण।
माँझो पाघ मँझार, छाप कागळ बड़ छापण॥
कविदास तेण कविराज कर, कठिन अंक विधि कापिया।
करि शुभ निगाह श्यामल कुरब,सज्जन राण समापिया॥

अंग्रेज़ी सरकार ने भी इनकी योग्यता की कदर कर इनको महामहोपाध्याय का खिताब दिया था। महाराणा साहब के प्रसन्न होने से मेवाड़ के पोलिटिकल एजेंट कर्नल इम्पी ने अपनी कोठी पर दरबार किया और कविराजा जी को कैसरे हिन्द का तग़मा देकर कहा कि आपने महाराणा साहब को समय २ पर बहुत उत्तम सलाह दी हैं, जिससे खुश होकर अंग्रेज़ सरकार आपको यह तग़मा देती है।

श्यामलदासजी कवि और इतिहासकार दोनों थे। पर राजस्थान में इनकी कीर्ति का आधार इनकी कविताएँ नहीं, बल्कि इनका लिखा 'वीरविनोद' नामक इतिहास ग्रन्थ है। यह बृहद् इतिहास दो भागों में विभक्त है और रॉयल चौपेजी साइज़ के २२५९ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। महाराणा शम्भु सिंह जी की आज्ञा और कर्नल इम्पी के आग्रह से सं० १९२८ में इसका लिखना प्रारंभ हुआ और महाराणा फतहसिंह जी के राजत्व काल में सं० १९४९ में इसकी समाप्ति हुई। इसके लिए सामग्री जुटाने आदि में मेवाड़ दरबार का १०००००) रु० व्यय हुआ था। ग्रंथ छप तो गया पर महाराणा फतह सिंह जी ने कुछ विशेष कारणों से इसका प्रकाशित होना मुनासिब न समझा और इसका प्रचार होना रोक दिया। इसलिए छपजाने पर भी यह सर्व साधारण के काम में न आ सका। कई वर्षों तक बंद कोठरियों में पड़ा रहा। वर्तमान महाराणा साहब ने अब इसको बेचने की आज्ञा देकर इतिहास प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है। वीर विनोद इतिहास का एक स्टेण्डर्ड ग्रन्थ है और मेवाड़ के इतिहास पर प्रमाण समझा जाता है। इसमें मुख्यतः मेवाड़ का इतिहास ही वर्णित है पर प्रसंग वश जयपुर, जोधपुर, जैसलमेर आदि राजस्थान की दूसरी रियासतों तथा बहुत से मुसलमान बादशाहों का विवरण भी इसमें आ गया है, जिससे इसकी उपादेयता और भी बढ़ गई है। प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों, सिक्कों, बादशाही फरमानों इत्यादि का इसमें अपूर्व संग्रह हुआ है।

कविराजा जी को संस्कृत का जितना ऊँचा ज्ञान था उसको देखते हुए उनकी उर्दू-फ़ारसी की जानकारी बहुत साधारण थी। पर हिन्दी लिखते वक्त न मालूम उनकी यह संस्कृतज्ञता कहाँ हवा हो जाती थी। 'वीर विनोद' को पढ़ कर आज कोई यह नहीं कह सकता कि वह एक ऐसे व्यक्ति की रचना है जो उर्दू-फ़ारसी की अपेक्षा संस्कृत अधिक जानता था। कारण, श्यामलदास जी की लेखन-शैली पर फारसी शैली का अत्यधिक रंग है और भाषा में अर्बी-फ़ारसी के शब्दों की इतनी भरमार है कि वह हिन्दी न रह कर एक तरह से उर्दू हो गई है, सिर्फ लिपि नागरी है। देखिये:—

"बादशाह ने उन लोगों की सलाह पर बिल्कुल ख़याल न किया और यही जवाब दिया कि राणा के आये बग़ैर इस लड़ाई से हाथ उठाने में मुझे शर्म आती है और उन दोनों सरदारों से फर्माया कि राणा के हाज़िर हुये बिना यह अर्ज़ मंज़ूर नहीं हो सकती। तब डोडिया सांडा ने अर्ज़ की कि हमारे मालिक तो पहाड़ी मुल्क के राजा हैं और पहाड़ी लोगों में जहालत (असभ्यता) ज्यादा होती हैं; वे इस वक्त मौजूद नहीं हैं इसलिए उनके हाज़िर होने का इक़रार हम लोग नहीं कर सकते। हम लोगों को जो पेश-कश देकर लाचार करते हैं, ज़बरदस्ती बादशाही कायदे के खिलाफ है, इस पर जयपुर के राजा भगवानदास ने बादशाह के कान में झुक कर अर्ज़ की कि देखिये यह कैसा गुस्ताख़ आदमी है कि शाहंशाही दरबार में सख्त कलामी से पेश आता है। अकबर शाह तो बड़ा क़दरदान था। उसने फ़रमाया, कि यह शख्स जो अपने मालिक की खैरख्वाही पर मुस्तैद होकर सवालों के जवाब बेधड़क दे रहा है इनाम के लायक़ है। इससे राजा भगवानदास को, जिसने अदावत से चुग़ली खाई थी, शर्मिन्दा होना पड़ा।*

(२) पं० लज्जाराम मेहता—पंडित लज्जाराम मेहता हिन्दी साहित्य के अमर जीवों में से एक हैं। इनका जन्म संवत् १९२०, चैत्र कृष्णा २ को बूँदी में हुआ था। ये बड़नगरे नागर थे। इनके पूर्वज बड़नगर के रहने वाले थे जहाँ से वे राजस्थान में आ बसे थे। इनके पिता का नाम गोपालराम और पितामह का गणेश राम था। पंडित जी १८ माह तक गर्भवास में रहे

*वीरविनोद; भाग दूसरा, पृ० ७७।

थे। इसलिये माँ के उदर से ही बहुत सी बीमारियाँ अपने साथ लेकर आये थे। इनकी ६८ वर्ष की आयु में एक दिन भी ऐसा नहीं निकला जब इन्हें कोई न कोई शारीरिक कष्ट न रहा हो। खाँसी इनकी चिरसंगिनी रही। बवासीर, हृद्रोग आदि व्याधियों के कारण इनको अपना जीवन एक भार सा मालूम देता था। रात को नींद नहीं आती थी। इसलिये इन्होंने दिन में दो बार अफ़ीम का सेवन करना शुरू कर दिया था। आँखों की कमज़ोरी को दूर करने के लिये ये तमाखू भी खूब सूँघते थे।

मेहता जी को स्कूली शिक्षा बहुत कम मिली थी। पर बाद में अपने निजी परिश्रम द्वारा इन्होंने अंग्रेज़ी, संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। सम्वत् १९३८ मे जब इन के पिता की मृत्यु हो गई तब इनको 'कपड़ा की दुकान' पर उनकी जगह १२) रु० मासिक की नौकरी मिली। वहाँ से इनका तबादला सरकारी स्कूल में हुआ। पर ये एक ईमानदार, निष्पक्ष और अपने विचारों पर दृढ़ रहने वाले व्यक्ति थे इसलिये यहाँ भी इनका टिकाव अधिक दिनों तक न हो सका। राज कर्मचारियों की धींगा-धींगी तथा अपने जातीय भाइयों के षड्यन्त्रों से तंग आकर इन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और जीविकार्थ बम्बई चले गये। बम्बई में ये पहले 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' के सहकारी सम्पादक और बाद में प्रधान सम्पादक बनाये गये। सुयोग्य और बहुभाषाज्ञानी तो ये थे ही। इस क्षेत्र में बहुत जल्दी चमक गये। सं० १९६० तक ये 'श्री वेंकटेश्वर समाचार' के संपादक रहे। बाद में वापस बूँदी चले आये। इसबार बूँदी का वातावरण इनके लिये अधिक अनुकूल रहा। बूँदी-नरेश महाराव राजा रघुवीरसिंहजी ने इन्हें अपने यहाँ नौकर रख लिया और स्पष्टभाषी, निष्पक्ष एव विश्वसनीय समझ कर कई तरह से इनकी प्रतिष्ठा बढ़ाई। इनका देहान्त सं० १९८८ में बूँदी में हुआ। पंडित जी के कोई संतान नहीं हुई। उनके भानजे श्रीयुत रामजीवनजी आजकल उनकी धनसंपत्ति के मालिक हैं। ये भी हिन्दी के बहुत अच्छे लेखक और बहुपठित विद्वान् हैं। इनको 'देशी बटन', 'कौतुक माला', 'मुक्ता' इत्यादि दस के लगभग पुस्तकें छप चुकी हैं।

पं० लज्जाराम जी सनातन धर्म के कट्टर अनुयायी और हिन्दू आदर्शों के पूर्ण पक्षपाती थे। हिन्दी की सेवा भी इन्होंने खूब की। सं० १९८६ में होने

वाले हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति चुने जाने के लिये मेहता जी का नाम समाचार पत्रों में निकला था। पर कुछ तो शारीरिक अस्वस्थता के कारण और कुछ यह समझ कर कि देशी राज्य में रह कर इस तरह के उत्सवों में सम्मिलित होना ठीक नहीं होगा, इन्होंने उक्त पद को स्वीकार नहीं किया। इन्होंने कुल मिला कर २३ ग्रंथ लिखे जिनमे से १३ उपन्यास और शेष ऐतिहासिक तथा संग्रह ग्रंथ हैं। इन ग्रंथो के नाम ये हैं:—

(१) कपटी मित्र (२) द्यूत चरित्र (३) शराबी की खराबी (४) विचित्र स्त्री चरित्र (५) बीरबल विनोद (६) हिन्दू-गृहस्थ (७) धूर्त रसिक लाल (८) स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी (९) विक्टोरिया चरित्र (१०) अमीर अबदुर्रहमान (११) आदर्श दम्पती (१२) भारत की कारीगरी (१३) सुशीला विधवा (१४) बिगड़े का सुधार (१५) विपत्ति की कसौटी (१६) उम्मेद सिंह चरित्र (१७) पराक्रमी हाड़ाराव (१८) जुझार तेजा (१९) आदर्श हिन्दू (२०) पं० गंगासहाय का चरित्र (२१) ओसवाल गोत्र का वंशवृक्ष (२२) आप बीती (२३) पद्रह लाख पर पानी।

हिन्दी के उपन्यासकारो में पं० लज्जाराम जी का स्थान बहुत ऊंचा है। इनके उपन्यास आदर्शात्मक हैं, पर हैं वे सब मौलिक। इनमें से किसी पर भी भावापहरण अथवा विषयापहरण का लांछन नहीं लगाया जा सकता। अपने उपन्यासों में इन्होंने समाज के सजीव चित्र अंकित किये हैं और पाप की पराजय तथा पुण्य की विजय दिखला कर मनुष्यों का ध्यान उच्चादर्शों की ओर आकर्षित किया है। इनके उपन्यासों के सम्बन्ध में कुछ लोगो ने यह आक्षेप किया है कि उनमें मनोरंजन की मात्रा कम और उपदेश की अधिक है। पंडित जी के प्रारंभ के दो-एक उपन्यासों में यह दोष देखा जाता है। पर बाद के उपन्यासो में नहीं। इनके 'विपत्ति की कसौटी', 'आदर्श हिन्दू' आदि उपन्यास काफी रोचक और कला-समन्वित हैं। मेहता जी बहुत प्रौढ़, परिमार्जित एवं मुहावरेदार भाषा लिखते थे। इनकी भाषा में संस्कृत शब्दों का आधिक्य और उर्दू के शब्दों की न्यूनता है। उदाहरण देखिये:—

"बूंदी के उपलब्ध पंडितों और डिंगल तथा पिंगल के नामी नामी कवियो में से चुने हुए व्यक्ति इसमें नियत किये गये थे। मैं भी उनमें पाँचवां

सवार था। मैने एक काम किया और वह समस्त सदस्यों के पसंद आया। करता यह था कि जिस पद्य के अर्थ में कुछ उलझन दिखाई देती और सब लोग अपनी अपनी राय पर उसका अर्थ खेंचते थे फौरन ही मै पेन्सिल काग़ज़ लेकर उसका अर्थ अपनी बुद्धि के अनुसार लिखता और उस पर बहस होकर तुरन्त एक मार्ग निकल आता था। प्रयोजन यह कि जो कुछ मेरे ध्यान में आया कच्चा-पक्का अर्थ मैंने पत्रारूढ़ कर दिया।'[1]

(३) **मुंशी देवी प्रसाद**—ये जाति के कायस्थ थे। इनका जन्म अपने नाना के घर जयपुर में स० १९०४ में हुआ था। इनके पिता का नाम नत्थनलाल था। मुशीजी पहले टोंक राज्य में नौकर थे, फिर महाराजा जसवंतसिंहजी के समय में सं० १९३६ के आस-पास जोधपुर चले आये। जोधपुर में इन्होंने मुंसिफ का काम किया और मर्दुम शुमारी के महकमे पर भी रहे। ये एक परिश्रमी, बहु पठित तथा ज्ञान पिपासु व्यक्ति थे और अपनी धुन के बड़े पक्के थे। जिस काम को अपने हाथ में लेते उसे पूरा कर ही के छोड़ते थे। सरकारी नौकरी के अलावा जितना भी समय शेष रहता उसे ऐतिहासिक खोज के काम में लगाते थे। ये अरबी-फ़ारसी तो खूब जानते थे, पर संस्कृत का यथेष्ट ज्ञान न था। इसलिये प्राचीन शिला-लेखों के पढ़ने में संस्कृत के पंडितों की सहायता लेते थे। संस्कृत न जानने का पछतावा भी इन्हें आयु पर्य्यन्त रहा। फ़ारसी ग्रंथों के आधार पर इन्होने बहुत से ग्रंथ लिखे जिनसे मुसलमानकालीन इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। नागरी प्रचारिणी सभा काशी को इन्होंने १००००) रु० का दान दिया था, जिसके ब्याज से ऐतिहासिक पुस्तकें छापी जाती हैं। इनका देहावसान सं० १९८० में हुआ।

मुंशी जी ने छोटे-मोटे कुल मिला कर संख्या में पचास से ऊपर ग्रंथ लिखे जिनके नाम ये हैं:—

अकबर, शाहजहां, हुमायूँ, हमास्य, बाबर, पीरशाह सांगा, रत्नसिंह, विक्रमादित्य (चित्तौड़) वणवीर, उदयसिंह, प्रतापसिंह, पृथ्वीराज (जयपुर) पूरणमल, रतन सिंह, आसकरण, राजसिंह (जयपुर) भारमल, भगवान-दास, मानसिंह, बीकाजी, नरा जी, लूणकरण, जैतसी, कल्याणमल, मालदेव

बीरबल, मीरांबाई, जसवन्त सिंह, खानखाना, औरङ्गज़ेब, जसवन्त स्वर्ग वास, सरदार सुखसमाचार, विद्यार्थी विनोद, स्वप्न राजस्थान, मारवाड़ का भूगोल, प्राचीन कवि, बीकानेर राज्य पुस्तकालय, इंसाफ सग्रह, नारी नव रत्न, महिला मृदु वाणी, मारवाड़ के प्राचीन शिलालेखों का संग्रह, सिंध का प्राचीन इतिहास, यवन राज वंशावली, मुगल वंशावली, युवती योग्यता कवि रत्न माला, अरबी भाषा में संस्कृत ग्रंथ, रूठीरानी, परिहार वंश प्रकाश, परिहारों का इतिहास और राज रसनामृत।

मुंशी देवी प्रसाद ने कोई बहुत बड़ा तथा क्रमबद्ध इतिहास कहीं का भी नहीं लिखा। परंतु अकबर, प्रताप, मीरांबाई आदि की जीवनियाँ बड़े अनुसधान के बाद लिखी गई हैं और इनसे उनकी शोधक बुद्धि, विद्वत्ता और ऐतिहासिक ज्ञान का परिचय मिलता है। ये बहुत सरल, व्यवहारिक एवं चलती हुई भाषा लिखते थे और शब्दाडम्बर तथा किसी बात को घुमा फिरा कर कहने के विरुद्ध थे। इनकी भाषा-शैली में उर्दू-हिन्दी का अपूर्व सम्मेलन हुआ है। विषय प्रतिपादन-प्रणाली सादी तथा वाक्यावली सुलझी हुई होने से इनके ऐतिहासिक ग्रंथों के पढ़ने में भी उपन्यासों के पढ़ने का सा आनन्द आता है। इनकी स्वतंत्र भाषा का थोड़ा सा नमूना देखिये—

"हे राजन्! जो मैं कहता हूं उसे आप अभिमान छोड़कर सुनें। जब न तो मैं ही कुत्ते से कम हूँ और न आप राजा युधिष्ठिर से बढ़ कर हैं, तो फिर मेरी और आपकी बातचीत होने से दरबारी लोग क्यों बुरा मान रहे और ख़फ़ा हो रहे हैं। सुनिए, इस असार संसार में मनुष्य का नाशवान शरीर ममता से ठहरा हुआ है, जो यह न हो तो किसी का काम ही न चले। देखिये, जैसे आपको अपने अलंकारों से सजे हुये शरीर का अहंकार है वैसे ही हम ग़रीबों को भी अपने नंगे-धड़ंगे शरीरों का है। आपको बड़े २ महलों वाली अपनी राजधानी जैसी प्यारी है वैसे ही मुझे भी अपनी यह बुरी सुरी झोंपड़ी अच्छी लगती है जिसकी खिड़की घड़े के घेरे से सजाई गई है और जो जन्म-दिन से माता के समान मेरे दुख सुख की साथिन रही है।"*

* इंसाफ-संग्रह, भाग तीसरा, पृ० २

(४) **बाबू रामनारायण जी दूगड़**—इनका जन्म वि० सं० १९०६ पौष सुदी २ को उदयपुर में हुआ था । ये जाति के दूगड़ महाजन थे। इनके पिता का नाम शेषमल था। रामनारायण जी कई वर्षों तक सज्जन निवास बाग़, उदयपुर के सुपरिंटेंडेंट रहे और बड़ी नेकनियती से काम किया । ये बड़े कोमल स्वभाव तथा मितभाषी पुरुष थे और सभा-सोसाइटियों में प्राय: कम जाते थे । अपने पीछे ये दो पुत्र छोड़कर मरे, जिनमें से छोटे पुत्र तेजमल ने, न मालूम क्यों, आत्महत्या कर ली थी। बड़े पुत्र श्री खेमराज जी आज कल सुमेर पुष्टिकर हाई स्कूल, जोधपुर में ड्राइङ्ग मास्टर हैं। रामनारायण जी का देहावसान वि० सं० १९८८ में हुआ।

रामनारायण जी को हिन्दी, संस्कृत डिङ्गल, अँग्रेज़ी, उर्दू आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था और इतिहास के अच्छे जानकार थे। इन्होंने मुंह-णोत नैणसी की ख्यात (प्रथम भाग) तथा बाँकीदास ग्रन्थावली (दूसरा भाग) का सम्पादन किया और राजस्थान रत्नाकर, राणासांगा पृथ्वीराज चरित्र एवं वीर भूमि चित्तोड़गढ़ ये चार ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे ये बहुत मुहावरेदार, चुश्त एवं परिष्कृत भाषा लिखते थे जिसमें न तो संस्कृत शब्दों की भरमार रहती थी और न उर्दू के शब्दों की। यथा—

"राजा विक्रम-भोज की भाँति उसने बड़े बड़े विद्वान, कार्य कुशल और राज भक्त मंत्रियों को अपने दरबार में रक्खा। मत-द्वेष को तो कभी उसने पास तक न फटकने दिया। अपने राज्य में सब प्रकार शान्ति बनाये रखने के हेतु उसने हिन्दू-मुसलमान सबके साथ एक सा वर्ताव किया। राज्य के बड़े २ मंसब और मुल्की और जंगी कामों पर अनेक हिन्दू व्यक्ति और राव-राजा आदि तैनात थे। गोवध बिलकुल बन्द कर दिया था और बिना किसी भेदभाव के सर्वप्रजा हितकारी कार्यों में सदा दत्तचित्त रहता था।*

(५) **पंडित रामकर्ण जी आसोपा**—पंडित जी का जन्म वि० सं० १९१४ भादों वदि २ शुक्रवार को अपने नाना के घर मारवाड़ राज्य के बड़लू नामक गाँव में हुआ था। ये जाति के दहिमा ब्राह्मण हैं । इनका आद्य

* वीर भूमि चितौड़ गढ़; पृ० ८०

स्थान मेड़ता है, जहाँ से इनके पिता बलदेव जी जोधपुर में आकर बस गये थे। पंडित जी की माता का नाम शृङ्गार देवी था, जो पति की परम भक्त और पतिव्रता स्त्रियों में गणना करने योग्य महिला थी।

पंडित जी जब पाँच वर्ष के थे तब इनकी शिक्षा प्रारंभ हुई। हिन्दी तथा गणित का थोड़ा सा ज्ञान हो जाने पर इन्होंने सारस्वत पढ़ना प्रारंभ किया जिसके साथ साथ श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध का पाठ भी चलता रहा। तदनन्तर रघुवंश आदि काव्य एवं ज्योतिष तथा वैद्यक के ग्रंथ पढ़ाये गये। फिर अपने पिता के साथ बंबई चले गये जहाँ भारत मार्तण्ड, प्रज्ञा-चक्षु प्रसिद्ध पंडित गट्टूलालजी के पास रह कर सिद्धान्त कौमुदी, महा-भाष्य, वेदान्त, काव्य, नाटक, साहित्य इत्यादि विषयों का अध्ययन किया। संवत् १९४२ में ये श्री दरबार हाई स्कूल, जोधपुर में अध्यापक नियुक्त हुए, जहाँ सोलह वर्ष तक रहे। वहाँ से इनका तबादला राजकीय इतिहास कार्यालय में हुआ। यहाँ पर इनका मुख्य काम शिलालेखों को पढ़ने तथा उनका अनुवाद करने का था। इन्होंने सैकड़ों पुराने शिलालेख तथा ताम्रपत्र पढ़े और कई पुरातत्व शोधक यूरोपियन विद्वानों के पढ़े हुए लेखों का संशोधन कर उन्हें Indian Antiquary, Epigraphia Indica आदि जरनलों में छपवाये। पंडित जी दो साल के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय में राजपूत इतिहास के लेक्चरार भी रह चुके हैं।

राजस्थान के वर्त्तमान साहित्य सेवियों में पंडित रामकर्ण जी सबसे वृद्ध हैं। इनकी आयु इस समय ८१ वर्ष की है। पर चरित्रवान एवं संयमी होने से इनके शरीर में आज भी युवकों की सी स्फूर्ति और बालकों का उत्साह है। ये बहुत शान्त, गंभीर और मिलनसार हैं। सादगी इनको बहुत प्रिय है। ये संस्कृत के उद्भट विद्वान, अच्छे इतिहासवेत्ता तथा पुरातत्व के लब्ध प्रतिष्ठ पंडित हैं। डिंगल भाषा के मर्मज्ञ हैं। डा० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर, सर जे० एच० मार्शल आदि विद्वानों ने इनके पांडित्य की बड़ी सराहना की है और प्राचीन शिलालेखों के पढ़ने के परिज्ञान के कारण इनकी भारत के आधे दर्जन विद्वानों में गणना की है। इस समय ये डिंगल भाषा का एक बृहद् कोष तैयार करने में लगे हुए हैं जिसके

लिए ६०००० के लगभग शब्दों का संग्रह हो चुका है। इनके द्वारा रचित, संपादित तथा अनुवादित ग्रन्थों के नाम ये हैं—

(१) श्रीमद्भागवत् का अनुवाद (२) श्री तुलसीकृत रामायण की टीका (३) बाल चित्र बोध (४) सुभाषित सार (५) श्रीमद्भगवद्गीता की मारवाड़ी भाषा टीका (६) मारवाड़ी व्याकरण (७) मारवाड़ी भाषा-प्रथम, द्वितीय और तृतीय पुस्तक (८) हिन्दी व्याकरण (९) श्री सूक्त भाष्य हिन्दी भाषान्तर (१०) ईशावास्योपनिषत् विवृति (११) मारवाड़ का भूगोल (१२) संस्कृत कोर्स की सविवरण टीका (१३) धातुरूप (१४) काव्य प्रकाश का अनुवाद (१५) मारवाड़ का मूल इतिहास (१६) मारवाड़ का संक्षिप्त इतिहास (१७) राष्ट्रोड़ वंश (१८) मेवाड़ के महाराणाओं का इतिहास (१९) डिंगल कोष (२०) नींबाज ठिकाने का इतिहास (२१) संखवास ठिकाने का इतिहास, (२२) आसोप ठिकाने का इतिहास (२३) पोंहकरण ठिकाने का इतिहास (२४) जसवन्त भूषण (२५) आबू और मारवाड़ के परमार (२६) सत्यनारायण कथा का अनुवाद (२७) मारवाड़ का वृहद् सविस्तर इतिहास (२८) हिस्ट्री ऑफ राठोर्स (अंग्रेजी भाषा में) (२९) अनुभव प्रकाश (३०) वंश भास्कर (३१) जसवन्त जसो भूषण (३२) जसवन्त जसो भूषण (संस्कृत वाणी में) (३३) जसवन्त भूषण (३४) अमृत रस संग्रह (३५) नैणसी की ख्यात (३६) कवि कल्पलता (३७) सूरज प्रकाश (एक अंक) (३८) राजरूपक (३९) बांकीदास ग्रन्थावली (प्रथम भाग) (४०) कर्ण पर्व (स्वामी गणेशपुरीकृत) (४१) लघुस्तव प्रयोग सहित (४२) नाथ चरित्र (४३) मुंडकोपनिषत्।

उपरोक्त ग्रन्थों में से कुछ अभी तक अप्रकाशित हैं।

पडित जी हिन्दी भाषा के बहुत पुराने लेखक हैं। इनकी भाषा उस भाषा का एक उत्कृष्ट नमूना है जिसे आज कल कुछ लोग विशुद्ध हिन्दी बतलाते हैं। ये बहुत प्रौढ़, परिमार्जित एवं सजीव भाषा लिखते हैं जिसमें संस्कृत शब्दों का बाहुल्य रहता है। इनके लेखों में व्यर्थ का पिष्टपेषण नहीं मिलता; कुछ और कुछ नई बात अवश्य कहते हैं और जो भी कहते

हैं उसे सप्रमाण सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। इनकी भाषा का नमूना देखिये:—

"डिंगल भाषा अपभ्रंश भाषा का ही स्वरूप है। उसकी जन्मदात्री संस्कृत और प्राकृत भाषा है। मुसलमानों के आगमन से पूर्व प्रायः भारत के समस्त प्रदेशों में संस्कृत और प्राकृत का प्रचार अधिक होने से समस्त साहित्य और धर्म ग्रंथ संस्कृत और प्राकृत में निर्माण किये जाते थे। वैदिक और बौद्ध ग्रंथ बहुधा संस्कृत में लिखे जाते थे, और जैन ग्रंथों की रचना प्राय: प्राकृत में और उनकी टीका, विवृत्ति आदि की रचना संस्कृत में होती थी। परन्तु साहित्य के अंगभूत नाटक ग्रंथों में दोनों भाषाएँ समान रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। इन दोनों भाषाओं के अरिरिक्त तीसरी प्राचीन देशी भाषा थी, जो सदा बोल चाल में आती थी। वह भाषा मथुरा आदि के प्राचीन शिलालेखों में देखने में आती है। संस्कृत और प्राकृत के शब्द बिगड़ने और प्राचीन देशी भाषा के शब्द मिश्रित होने से जो भाषा बनी, वही अपभ्रंश भाषा कही जाने लगी। उस अपभ्रंश भाषा का उदाहरण हेमचन्द्राचार्य ने, जो अणहिलवाड़ा के चालुक्य राजा सिद्धराज जयसिंहदेव और कुमारपाल के समय में थे, अपने व्याकरण में यह दिया है—

ढोला मइं तुहुँ वारिया, माकुरु दीहा माणु।
निद्दरा गमिही रत्तड़ो, दड़बड़ होइ विहाणु" ॥*

(६) पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा—ओझा जी का जन्म सिरोही राज्यान्तर्गत रोहेड़ा नामक गाँव में सं० १९२० में हुआ था। ये सहस्र औदिच्य ब्राह्मण हैं। इनके पिता का नाम हीराचंद और दादा का पीताम्बर था। इनके पूर्वज मेवाड़ के रहने वाले थे। किन्तु लगभग ३०० वर्ष से वे सिरोही में जाकर बस गये थे। पंडित जी के पिता एक विद्यानु-रागी तथा कर्मनिष्ठ व्यक्ति थे और अपने तीन पुत्रों में इन्हें सबसे होनहार एवं चतुर समझते थे। इसलिए आर्थिक स्थिति के खराब होते हुये भी उन्होंने इन्हें ऊँची शिक्षा दिलाने का दृढ़ निश्चय कर लिया और हिन्दी, संस्कृत, गणित आदि की जितनी भी शिक्षा इनके गाँव में मिल सकती थी उतनी

*एकादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कार्य विवरण; पृ० १६

प्राप्त कर ली तब इनके बड़े भाई नंदराम के साथ इन्हें बम्बई भेज दिया। अर्थ संकट और नाना प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते हुये सं० १६४२ में पंडित जी ने मेट्रिक्युलेशन की परीक्षा पास की और बाद में विल्सन कालेज में भर्ती हुए। पर शारीरिक अस्वस्थता के कारण इंटर मीडियेट की परीक्षा में न बैठ सके और अपने गाँव रोहेड़ा में चले आये।

बंबई में पंडित जी को अपनी मानसिक शक्तियों को विकसित करने का अच्छा अवसर मिला। स्कूल तथा कॉलेज में जो पाठ्य पुस्तकें नियत थीं, उनके सिवा भी इन्होंने ग्रीस तथा रोम के इतिहास और पुरातत्व सबंधी बहुत से ग्रंथों का मनन किया। राजस्थान के इतिहास की ओर इनका झुकाव कर्नल टॉड के अमर ग्रंथ 'ऐनाल्स एण्ड एण्टिक्विटीज़ ऑफ राजस्थान' के पढ़ने से हुआ। अपना ऐतिहासिक ज्ञान बढ़ाने के लिए इन्होंने राजस्थान में भ्रमण करना निश्चित किया और सबसे पहले उदयपुर आये। जिस समय ये उदयपुर पहुँचे उस समय यहाँ कविराजा श्यामलदासजी की अध्यक्षता में 'वीर विनोद' नामक एक बहुत बड़ा इतिहास ग्रन्थ लिखा जा रहा था। पंडितजी जब कविराजा जी से मिले तब वे इनकी इतिहास विषयक जानकारी एवं धारणा शक्ति से बहुत प्रभावित हुए और इन्हें पहले अपना सहायक मन्त्री तथा बाद में प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। तदनन्तर ये उदयपुर म्यूज़ियम के अध्यक्ष नियुक्त हुए। सं० १६६५ में ये राजपूताना म्यूज़ियम, अजमेर के क्यूरेटर बनाये गए; अजमेर में रह कर इन्होंने इतिहास के शोध का बहुत काम किया जिससे सं० १६७१ में इनको अंग्रेज़ सरकार की ओर से रायबहादुर की और स० १६८५ में महामहोपाध्याय की उपाधि मिली। सं० १६६४ में जब इनकी लिखी 'प्राचीन लिपि माला' का दूसरा संस्करण निकला तब इनको हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की ओर से मंगलाप्रसाद पारितोषक दिया गया। हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग के तत्वावधान में मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पर तीन व्याख्यान भी इन्होंने दिये है जो प्रकाशित हो चुके हैं। इसके सिवा हिन्दू विश्वविद्यालय ने इनको डी० लिट् की उपाधि से और हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने साहित्य वाचस्पति की उपाधि से विभूषित किया है। हिंदी साहित्य सम्मेलन ने इनके सम्मानार्थ ओझा अभिनन्दन ग्रंथ भी निकाला है। ये नागरी प्रचारिणी सभा के संपादक

और साहित्य सम्मेलन के प्रधान भी रह चुके हैं। कोई साल भर हुआ पंडित जी सरकारी नौकरी से रिटायर हुए हैं।

पंडित जी बड़े हँसमुख, मिलनसार, सदाशय तथा शान्त प्रकृति के पुरुष हैं और आडम्बर एवं अभिमान से कोसों दूर रहते हैं। इनका स्वभाव इतना सरल और रहन-सहन इतनी सादी है कि इनके संपर्क में जो जितना आता है उसकी इनके प्रति श्रद्धा उतनी ही बढ़ती जाती है। ये बड़े अध्यवसायी एवं परिश्रमी हैं और इतिहास तथा पुरातत्व सम्बन्धी शोध का कार्य इस वृद्धावस्था में भी उसी उत्साह और लगन के साथ कर रहे हैं जैसा कि युवावस्था में करते थे। पण्डित जी इतिहास के एक भारी विद्वान हैं। इन्हें राजस्थान तथा भारत ही के इतिहास का नहीं, बल्कि संसार के सभी उन्नत देशों के इतिहास का प्रौढ़ ज्ञान है। इनका लिखा 'प्राचीन लिपि माला' नामक ग्रंथ संसार में शोध के लिये एक अलभ्य ग्रंथ माना जा चुका है और प्राच्य एवं पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने उसकी एक स्वर से प्रशंसा की है तथा उसके आधार पर इनको अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का व्यक्ति बतलाया है।

पंडित जी एक सुखी और समृद्ध गृहस्थ हैं। लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की इन पर समान कृपा है। इनके तीन पुत्र हैं, जिनमें से सबसे बड़े पुत्र श्रीयुत रामेश्वर ओझा एम० ए० गवर्नमेण्ट कॉलेज अजमेर में संस्कृत के प्रोफेसर हैं। ये भी इतिहास प्रेमी और हिन्दी के अच्छे लेखक हैं।

ओझाजी को हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, पाली आदि बहुत सी भारतीय भाषाओं का असाधारण ज्ञान है और अंग्रेज़ी भी बहुत अच्छी लिखते हैं। परन्तु हिन्दी के प्रति प्रेम विशेष होने से इन्होंने अपने सब ग्रन्थ हिन्दी ही में लिखे हैं। यह हिन्दी भाषा भाषियों के लिये बड़े गौरव की बात है। इनके द्वारा रचित तथा संपादित ग्रंथों के नाम ये हैं—

(१) मौलिक ग्रंथ—

(१) प्राचीन लिपि माला (२) भारतीय प्राचीन लिपि माला (३) सोलंकियों का इतिहास (४) सिरोही राज्य का इतिहास (५) बाप्पा रावल का सोने का सिक्का (६) वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप (७) मध्य

कालीन भारतीय संस्कृति (८) राजपूताने का इतिहास (चार खंड) (९) उदयपुर राज्य का इतिहास (दो भाग) (१०) भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री (११) कर्नल जेम्स टॉड का जीवन चरित्र (१२) राजस्थान ऐतिहासिक दन्तकथा (प्रथम भाग) (१३) नागरी अंक और अक्षर।

(२) संपादित ग्रंथ—

(१) अशोक की धर्म लिपियाँ (२) सुलेमान सौदागर (३) प्राचीन मुद्रा (४) नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग १-१२ (५) कोशोत्सव स्मारक संग्रह (६) हिन्दी टॉड राजस्थान (पहला और दूसरा खंड) (७) जयानक प्रणीत पृथ्वीराज विजय महाकाव्य सटीक (८) जयसोम रचित कर्मचन्द्र वंशोत्कीर्तनक काव्यम् (९) मुंहणोत नैणसी की ख्यात (दूसरा भाग) (१०) गद्य रत्न माला (११) पद्य रत्न माला।

ओझाजी के ग्रंथों का अध्ययन करते समय सबसे पहली बात जो स्पष्ट रूप से सामने आती है वह है इनकी विशुद्ध भाषा। ये बहुत संयत, व्यवहारिक एवं प्रौढ़ भाषा लिखते हैं और सरल तो वह इतनी होती है कि जिस किसी को हिन्दी भाषा का थोड़ा सा भी ज्ञान है वह बहुत सुगमता से उसे समझ लेता है। जहाँ तक हो सकता है पंडित जी शुद्ध संस्कृत शब्दों से ही काम लेते हैं, पर अरबी, फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग भी इन्होंने न्यूनाधिक किया है। लेकिन सिर्फ ऐसे ही शब्दों का जो कई शताब्दियों से हिन्दी में प्रयुक्त होते आ रहे हैं और हिन्दी के माने जा चुके हैं—जैसे मज़ूर, अर्ज़, क़ैद, ख़ूब, क़िला, ग़रीब, फ़तह, ख़ाली इत्यादि। शब्द किसी भी भाषा का हो पंडित जी उसे ठीक तत्सम रूप में प्रयुक्त करने के पक्षपाती हैं। यही बात राजस्थानी भाषा के शब्दों के प्रयोग में भी देखी जाती है। वैसे यदि देखा जाय तो प्रान्तीयता का प्रभाव इनकी भाषा पर बिलकुल नहीं है। पर जहाँ कहीं प्रांतीय शब्दों का व्यवहार करना पड़ा है, उन्हें इन्होंने ठीक उसी रूप में लिखा है, जिस रूप में वे वास्तव में बोले जाते हैं, जैसे—राठोड़, चित्तोड़, राणा, मेवाड़, रावळ, मीरांबाई, खुमाण इत्यादि। राजस्थान के बहुत से तथा राजस्थान के बाहर के प्रायः सभी

हिन्दी लेखक इनके स्थान पर क्रमशः राठौर, चित्तौर, राना, मेवार, रावल, मीरा, खुमान आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, जो वस्तुत: अशुद्ध हैं। ये शब्द राजस्थान में इस तरह से कभी बोले ही नहीं जाते।

पंडितजी की प्रायः सभी रचनाओं में धारावाहिकता का आनन्द खूब मिलता है। सामान्यतः ये बहुत छोटे २ वाक्य लिखते हैं, और प्रत्येक वाक्य जञ्जीर की कड़ी की तरह एक दूसरे से इस प्रकार जुड़ा हुआ रहता है कि किसी एक को अलग कर देने से विचार शृङ्खला नष्ट हो जाती है। पांडित्याभिमान अस्वाभाविकता तथा व्यर्थ का वाग्आडंबर इनके ग्रंथों में नहीं मिलता। इनकी दृष्टि सदैव तथ्य-निरूपण की ओर रहती है। इसलिये ये ऐसेही शब्दों का प्रयोग करते हैं जो, बहुत सरल तथा प्रसंगानुसार उपयुक्त होते हैं। ऐतिहासिक सत्य को कायम रखते हुए यदि कहीं अवसर मिला तो आलंकारिक भाषा में साहित्यिक छटा भी थोड़ी बहुत दरसा देते हैं। ऐसे स्थलों पर इनके वाक्य कुछ लम्बे अवश्य हो जाते हैं, पर इससे वर्णन में सजीवता आ जाती है और विचार-सामग्री से लदे हुए पाठक के मस्तिष्क को बड़ा सहारा मिलता है, जिससे ग्रंथ को आगे पढ़ने का चाव बराबर बना रहता है। उदाहरण देखिये—

"राजपूत जाति के इतिहास में यह दुर्ग एक अत्यन्त प्रसिद्ध स्थान है, जहाँ असंख्य राजपूत वीरों ने अपने धर्म और देश की रक्षा के लिये अनेक बार असिधारा रूपी तीर्थ में स्नान किया और जहाँ कई राजपूत वीरांगनाओं ने सतीत्व रक्षा के निमित्त धधकती हुई जौहर की अग्नि में कई अवसरों पर अपने प्रिय बाल बच्चों सहित प्रवेश कर जो उच्च आदर्श उपस्थित किया वह चिरस्मरणीय रहेगा। राजपूतों ही के लिये नहीं, किन्तु प्रत्येक स्वदेश प्रेमी हिन्दू संतान के लिये क्षत्रिय रुधिर से सिंची हुई यहाँ की भूमि के रज कण भी तीर्थरेणु के तुल्य पवित्र है"। *

और भी—

"ऐसे ही चित्तोड़ का महाराणा कुंभा का कीर्ति स्तम्भ एवं जैन स्तम्भ, आबू के नीचे की चन्द्रावती और झालरापाटन के मंदिरों के भग्नावशेष भी

*राजपूताने का इतिहास, खंड पहला; पृ० ३४९

अपने बनाने वालों का अनुपम शिल्पज्ञान, कौशल, प्राकृतिक सौन्दर्य तथा दृश्यों का पूर्ण परिचय और अपने काम में विचित्रता एवं कोमलता लाने की असाधारण योग्यता प्रगट करते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु ये भव्य प्रासाद परम तपस्वी की भाँति खड़े रह कर सूर्य का तीक्ष्ण ताप, पवन का प्रचण्ड वेग और पावस की मूसलधार वृष्टियों को सहते हुए आज भी अपना मस्तक ऊँचा किये, अटल रूप में ध्यानावस्थित खड़े, दर्शकों को बुद्धि को चकित और थकित कर देते हैं" ।*

(७) पुरोहित हरिनारायण जी, बी० ए०—पुरोहित जी का जन्म जयपुर राज्य के एक उच्च पारीक कुल में सं० १६२१, माघ कृष्णा ४ को हुआ था। इनके पिता का नाम मन्नालाल, पितामह का नानूलाल और प्रपितामह का अभयराम था। ये सभी बड़े परोपकारी, स्वामिभक्त तथा धर्मात्मा पुरुष हुए हैं। इनके बनवाये हुए कई मन्दिर आदि आज भी जयपुर में विद्यमान हैं।

पुरोहित जी की शिक्षा का आरंभ पहले पहल घर ही पर हुआ और जब हिन्दी अच्छी तरह से पढ़ना लिखना सीख गये तब उन दिनों की पद्धति के अनुसार इन्हें अमर कोष और सारस्वत का अध्ययन कराया गया। इनकी दादी ने इन्हें गीता, सहस्त्र नाम, रामस्तवराज इत्यादि का अभ्यास कराया तथा बड़ी बहिन योगिनी मोतीबाई ने धर्म, योगाभ्यास इत्यादि विषयों की ओर प्रवृत्ति कराई। साथ साथ उर्दू-फ़ारसी का अध्ययन भी चलता रहा। बारह वर्ष की आयु में ये महाराजा कॉलेज जयपुर में भर्ती हुए और सं० १९४३ में इंट्रेन्स की परीक्षा पास की। पुरोहित जी का विद्यार्थी-जीवन बहुत ही उज्ज्वल रहा। अपनी कक्षा में ये हमेशा प्रथम रहे जिससे राज्य की ओर से इन्हें बराबर छात्र वृत्ति मिलती रही। एफ० ए० और बी० ए० की परीक्षाओं में सर्व प्रथम रहने से इनको दो बार 'लॉर्ड नॉर्थ ब्रुक मेडल' तथा सारे मदरसे में सर्वश्रेष्ठ विद्यार्थी सिद्ध होने से 'लॉर्ड लेन्सडाउन मेडल' मिला।

कॉलेज छोड़ने के बाद सं० १९४८ में सब से पहले ये जयपुर में मर्दुम शुमारी के काम की देख रेख करने के लिये रूम इन्स्पैक्टर नियुक्त हुए। तत्पश्-

* वही; पृ० २४

चात् इन्होंने राजवकील, नाज़िम, स्पेशल सी० आई० डी० ऑफिसर आदि की हैसियत से कई बड़े बड़े ओहदों पर रहकर लगभग ४० वर्ष तक काम किया और अपनी सचाई, ईमानदारी एवं कार्य कुशलता से राजा और प्रजा दोनों को बड़ा लाभ पहुँचाया। लोकोपयोगी कार्य भी इन के द्वारा बहुत से हुए। इन्होंने निज़ामत शेखावाटी तथा तोरावाटी में राज्य की ओर से कई गोशालाएँ, पाठशालाएँ एवं धर्मशालाएँ स्थापित करवाईं और अपनी तरफ से जयपुर के पारीक हाईस्कूल को ७००० रु० से अधिक का दान दिया। सं० १९८९ से इनको पेंशन मिलना शुरू हुआ है।

पंडित जी बड़े विद्याव्यसनी, सुशील एवं सदाचारी पुरुष हैं और विद्यार्थी-जीवन से ही हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। हिन्दी पत्र पत्रिकाओं में समय समय पर छपे हुए इनके लेखो तथा इनके ग्रंथों को पढ़ने का जिन्हें अवसर मिला है वे अच्छी तरह से जानते हैं कि इनकी लेखनी कितनी बलवती, साहित्यिक रुचि कितनी परिष्कृत तथा लेख कितने सुरुचि पूर्ण होते हैं। राजस्थान के संत साहित्य को प्रकाश में लाने का जो अखंड उद्योग पुरोहित जी ने किया है, वह इनके नाम को हिन्दी साहित्य में अमर रखेगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। पुरोहित जी बड़े कर्मण्य पुरुष हैं। इतिहास, साहित्य, धर्म आदि विषयो की आलोचना और लेखन ही इनकी दिन चर्या है। कहीं किसी उत्कृष्ट ग्रंथ का नाम सुनना चाहिये पंडित जी उसे अवश्य मँगाकर पढ़ेंगे। इनका अधिक समय साहित्याध्ययन में बीतता है और थोड़ा बहुत हमेशा ही लिख लेते हैं। इनके द्वारा रचित तथा संपादित ग्रंथों के नाम निम्न है। इनमें से कुछ मुद्रित और कुछ अमुद्रित हैं—

(१) विशूचिका निवारण (२) तारागण सूर्य हैं (३) महामति मि० ग्लैडस्टन (४) सतलड़ी (५) सुन्दरसार (६) महाराजा मिर्ज़ा राजा जयसिंह (७) महाराजा मिर्ज़ा राजा मानसिंह (८) ब्रजनिधि ग्रंथावली (९) गुरू गोविंद-सिंह के पुत्रों की धर्मबली (१०) सुन्दर ग्रंथावली (११) मीरा बृहद् पदावली (१२) श्री जगत शिरोमणि जी (१३) जयपुर की वंशावली (१४) महाराजा सवाई जयसिंह जी (१५) होली हज़ारा (१६) बारहमासी संग्रह (१७) बावनी संग्रह (१८) श्री शनिकथा संग्रह (१९) विक्रमादित्य और नवरत्न

(२०) राघवीय भक्तमाल (२१) सुन्दरोदय (२२) सुंदर समुच्चय (२३) बाजीद ग्रंथावली (२४) जन गोपाल ग्रंथावली (२५) माधवानल कामकन्दला (२६) भीपबावनी सटीक (२७) दादूचरित्र संग्रह (२८) जान कवि ग्रन्थावली (२९) शिखरिणी संग्रह सटीक (संस्कृत) (३०) भर्तृहरिशतकत्रय सटीक ब्रजनिधि की मंजरियों सहित (३१) गरीबदास ग्रंथावली (३२) ठाकुर शिवसिंह जी इत्यादि।

भाषा के विषय में पुरोहित जी बड़े उदार विचारों के लेखक हैं। अपने विचारों को ठीक तरह से व्यक्त करने के लिये जो शब्द इनको उपयुक्त प्रतीत होता है उसका निःशंक होकर प्रयोग करते हैं, शब्द चाहे हिन्दी का हो, चाहे अर्बी-फारसी का और चाहे राजस्थानी का। फिर भी संस्कृत शब्दों की ओर इनका झुकाव विशेष रहता है, यह कहना अयथार्थ न होगा। इनकी भाषा बहुत आलंकारिक, वर्णन शैली सरस तथा विचार-व्यंजना साहित्यिक होती है और बड़ी भावुकता एवं स्पष्टता के साथ अपने विषय का प्रतिपादन करते हैं। देखिये —

"जितने ग्रंथ हमें उपलब्ध हुए हैं उनके अवलोकन से स्पष्ट प्रकट होता है कि समग्र रचना-समूह एक अटल अनन्य भगवद्भक्ति, प्रभुप्रेम और सच्चे गहरे हरिरस का तरंगमय समुद्र है। उसमें आद्योपान्त शांतरस का शांत समुद्र (Pacific Ocean) है जिसकी गंभीर, धीमी, अनुद्विग्न, लीला-लोलित तरंग-मालाएँ मनरूपी जहाज को सुमधुर गति से भगवच्चरणारविन्दों में बहाए हुए ले जा रही हैं। कहीं शुद्ध पावन शृंगार रस अकेला ही विहार करता है तो कहीं वीर रस भी, सिद्धान्तियों के निषेध को विलीन करता हुआ शृंगार रस से ऐसा मिलता है, जैसे पीत रंग श्याम रंग से मिलकर— 'जातन की झांई परै, स्यामु हरित-दुति होइ'—मनोमुग्धकारी निराला रूप दिखाता और रंजक रंग जमाता है। महाराज नागरीदास का मानों दूसरा और निराला परन्तु कई बातों में मिलता-जुलता सर्वाङ्ग सुन्दर ठाट-बाट है। यद्यपि ये दोनों कवि समकालीन नहीं थे तो भी ऐसे प्रतीत होते हैं मानों अभिन्न हृदय मित्र थे। फिर भक्ति के मैदान में ऐसे रसिको का इकरंगी होना स्वाभाविक है।"[1]

---

१ ब्रजनिधि-ग्रन्थावली ; भूमिका, पृ० ११

(८) **दीवान बहादुर हरबिलास जी सारड़ा**—हरबिलास जी का जन्म वि० सं० १९२४ में अजमेर के एक वैश्य परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम हरनारायण था जो संस्कृत एवं अंग्रेज़ी के अच्छे विद्वान थे और गवर्नमेंट कॉलेज अजमेर में पुस्तकाध्यक्ष का काम करते थे। इन्होंने इन्टरमीडिएट तक की शिक्षा अजमेर में प्राप्त की और बाद में आगरा कॉलेज में भर्ती हुए जहाँ से संवत् १९४५ में कलकत्ता विश्वविद्यालय की बी० ए० की परीक्षा, अंग्रेजी में ऑनर्स लेकर, पास की और संयुक्तप्रान्त के समस्त विद्यार्थियों में प्रथम रहे। इसके एक वर्ष बाद ये गवर्नमेंट कॉलेज अजमेर में सीनियर अध्यापक नियुक्त हुए जहाँ से सं० १९४९ में इनकी अजमेर मेरवाड़ा के न्याय-विभाग में तबदीली हुई। तदनन्तर इन्होंने अजमेर-मेरवाड़ा के कई बड़े बड़े ओहदों पर काम किया और सं० १९८० में सरकारी नौकरी से रिटायर हुए। ये अजमेर मेरवाड़ा की ओर से तीन बार व्यवस्थापिका परिषद (Legislative Assembly) के मेंबर भी चुने जा चुके हैं। संवत् १९८२ में इन्होंने एसेम्बली के सामने 'सारड़ाबिल' रखा जो चार वर्ष बाद से कानून बनकर काम में आने लगा। इस 'सारड़ाएक्ट' की वजह से हिन्दुस्तान के छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब सभी तरह के लोग इनके नाम से परिचित हैं।

हरबिलास जी एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, गम्भीर विचारक, सच्चे समाज सुधारक तथा सहृदय साहित्यसेवी हैं और भारत सरकार तथा भारतीय जनता दोनों के हितचिन्तक और प्रीति पात्र रहे हैं। इनके राजनैतिक विचार नर्म हैं और इसलिये राजनीति के मामलों में इनकी कार्य-पद्धति और विचार-वृत्ति से कोई सहमत हो या न हो, यह एक दूसरी बात है। पर इनकी स्वदेशहितैषिता, बुद्धिमत्ता और नेकनीयती के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। सारड़ाजी हिन्दू-धर्म, हिन्दू जाति एवं हिन्दू संस्कृति के बड़े प्रशंसक और हिन्दू संगठन के ज़बरदस्त पक्षपाती हैं। राजस्थान के प्राचीन गौरव और वर्तमान वातावरण को तो इन्होंने खूब ही समझा है। महाराज पृथ्वीराज चौहान की लीला भूमि अजमेर से इन्हें ऐसा प्रेम है कि उसे छोड़कर ये नन्दन बन में भी रहना पसद नहीं करते। दीवान बहादुर भारत तथा भारत के बाहर की कई प्रसिद्ध २ साहित्यिक, सामाजिक एवं प्राचीन इतिहास का

खोज करने वाली संस्थाओं के मेंबर हैं और रहे हैं। संवत् १९९४ में इनकी आयु के ७० वर्ष पूरे हुए थे। इस अवसर पर गवर्नमेंट कॉलेज के प्रिंसिपल श्रीयुत पी० शेषाद्री ने इनके सम्मानार्थ एक अभिनन्दन ग्रंथ निकाला था, जिसमें भारत के बड़े २ राजा-महाराजाओं तथा अंग्रेज़ कर्मचारियों और देश के नेताओं ने इनके कार्यों की बड़ी सराहना की है।

सारड़ा जी ने राजनैतिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों में जितनी सफलता से कार्य किया है उतनी ही सफलता इन्हें साहित्य क्षेत्र में भी मिली है। इन्होंने महाराणाकुम्भा, महाराणा सांगा, महाराजा हम्मीर, हिन्दू सुपीरियोरिटी, अजमेर इत्यादि कई पुस्तकें लिखी हैं। ये सब ग्रंथ अंग्रेज़ी में हैं। पर सारड़ा जी हिन्दी के भी उत्कृष्ट लेखक हैं। इनके लेख हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में समय समय पर प्रकाशित होते रहते हैं। इन लेखों के विषय बहुधा राजनैतिक और ऐतिहासिक होते हैं। इनके लिखे राणा सांगा का अनुवाद भी छपा है। हरबिलास जी निष्पक्ष इतिहासकार हैं। इनके विषय-विवेचन में गम्भीर चिंतन का प्राधान्य रहता है और विषय के अनुरूप शैली भी प्रौढ़ एवं गुंफित होती है। ये बहुत सरल तथा सजीव भाषा लिखते हैं। इनके लिखने का ढंग भी बड़ा ही सुन्दर और हृदयग्राही होता है। इनकी भाषा का नमूना देखिये :—

"परन्तु जो बात ५० वर्ष पहले तक थी, वह आज नहीं है। पुराने जमाने में भारतीय रजवाड़ों की रक्षा इस कारण हुई कि उनके शासक तेजस्वी सिपाही और बहादुर थे। उस वक्त बाहर के हमलों से रियासतों को बचाना पहली ज़रूरत थी। यह रक्षा राजाओं और राजपूतों से मिल जाती थी। इसलिये रियासतें बच रहीं। परन्तु अब वह मुख्य कारण ही जाता रहा। शान्ति काल की आवश्यकता ही युद्ध काल से भिन्न रहती हैं। उस समय अनुशासन और संयम की आवश्यकता थी। अब शान्तिपूर्ण विकास के लिये शिक्षा और स्वतंत्रता ज़रूरी है। इसके अलावा उस जमाने में राजपूताना दूसरे प्रान्तों और देशों से साधारण संस्कृति और बौद्धिक गुणों में पिछड़ा हुआ नहीं था। अब वह बहुत पिछड़ गया है। अब वह उनकी बराबरी नहीं कर सकता और जब तक वह बुद्धि, नैतिकता और उद्योग में उनका समकक्ष

नहीं बन जाय, तब तक उसका शोषण होता ही रहेगा। जब भारतवर्ष में चारों ओर जागृति हो रही है तो राजपूताना भी वहीं नहीं पड़ा रह सकता, जहाँ वह १०० वर्ष पूर्व था।"*

(६) पं० विश्वेश्वरनाथ जो रेउ—रेउ जी के पूर्वज कई शताब्दियों से काश्मीर की राजधानी श्रीनगर में रहते थे। इस वंश में प्रकाश भट्ट* एक अच्छे विद्वान और गणितज्ञ हो गए हैं। उनके पुत्र का नाम फतेह (फिर) भट्ट था। फतेह भट्ट के पुत्र मिरज़ भट्ट के नाम से प्रसिद्ध हुए। फ़ारसी भाषा के विद्वान होने के कारण ही वे इस नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। उनके पुत्र गोविन्द भट्ट अच्छे वैयाकरण थे। गोविन्द भट्ट के पुत्र शंकर भट्ट वैदिक कर्म-कांड में प्रवीण हुए।

शंकर भट्ट के पाँच पुत्र थे:—वासुदेव, लक्ष्मण, मुकुन्द मुरारि, ऋषभदेव और महागणेश। इनमें से रेउ जी के पिता पण्डित मुकुन्द मुरारि जी का जन्म वि० सं० १९०६ की माघ सुदी १३ को हुआ था। इन्होंने संस्कृत का अध्ययन कर वैदिक कर्म काड में अच्छी विद्वत्ता प्राप्त कर ली थी। इसके बाद वि० सं० १९३५ में ये तीर्थ-यात्रार्थ घर से निकल घूमते घामते जोधपुर पहुँचे और यहीं पर बस गये।

वि० स० १९४७ की आषाढ़ सुदी १५ को जोधपुर में ही पडित विश्वेश्वर नाथ जी का जन्म हुआ। इनको माता का नाम चाँदरानी जी था और उनका संस्कृत भाषा से प्रेम होने के कारण वे प्रारम्भ से ही अपने पुत्र की रुचि भी उसी तरफ़ फिराने का प्रयत्न करती रहती थीं; इसी से विश्वेश्वर नाथ जी ने घर में ही अपने पिता से प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर सं० १९६१ में पञ्जाब यूनिवर्सिटी की प्राज्ञ-परीक्षा पास की और इसके बाद वि० सं० १९६५ में जयपुर कॉलेज से साहित्य की शास्त्री परीक्षा में और वि० सं० १९६६ में साहित्य की आचार्य परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इस अन्तिम परीक्षा में सर्व प्रथम रहने के कारण इनको जयपुर कॉलेज की तरफ़ से एक मैडल (पदक) भी मिला था। इस समय तक इन्होंने अंग्रेज़ी का भी अच्छा

* नवज्योति, २० अक्टूबर सन् १९३८, पृ० १७

* काश्मीर में भट्ट शब्द का प्रयोग पण्डित के लिये होता है।

अभ्यास कर लिया था। इसके बाद वि० सं० १९६७ में ये जोधपुर-राज्य के इतिहास कार्यालय में एक लेखक नियुक्त हुए। उस समय एशियाटिक सोसाइटी की प्रार्थना पर जोधपुर दरबार की तरफ़ से उसके लिये डिंगल (मारवाड़ी) भाषा की कविता का संग्रह किया जा रहा था। उस कार्य में अच्छी योग्यता दिखलाने के कारण उक्त सोसाइटी के उप प्रधान महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने अपनी सन् १९१३ ई० की रिपोर्ट में इनकी प्रशंसा की। इसके बाद वि० सं० १९७१ में ये जोधपुर के राजकीय अजायबघर के उपाध्यक्ष बनाए गये। साथ ही करीब डेढ़ वर्ष तक इन्होंने जोधपुर के जसवन्त कॉलेज में संस्कृत-प्रोफेसर का कार्य भी किया। पुरातत्व से प्रेम होने के कारण इन्होंने प्राचीन लिपियो, मुद्राओं, मूर्तियों और कारीगरी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इन्हीं के उद्योग से जोधपुर के अजायबघर में पुरातत्व विभाग खोला गया और साथ ही एक पब्लिक लाइब्रेरी की स्थापना भी हुई। इनके अच्छे कार्य के कारण वि० सं० १९७४ में ये उक्त अजायबघर और लाइब्रेरी के अध्यक्ष (सुपरिण्टेण्डेण्ट) बना दिये गये।

वि० सं० १९८३ में जब जोधपुर में आर्कियोलाजिकल डिपार्टमेण्ट (पुरातत्व का महकमा) खोला गया तब इन्हीं को उसके अध्यक्ष (सुपरिंटेंडेंट) का पद भी दिया गया। इस समय इनके अधिकार में निम्नलिखित महकमें हैं:—आर्कियोलाजिकल डिपार्टमेंट, सरदार-म्यूज़ियम (अजायबघर) इतिहास कार्यालय, पुस्तक प्रकाश (Manuscript Library) चण्डू पञ्चाङ्ग और सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी।

हाल ही में भारत सरकार ने इनको तीन वर्ष के लिये 'हिस्टोरिकल रेकार्ड कमीशन' का 'कोरस्पोंडिंग' मेम्बर भी चुना है।

रेउ जी बड़े सरल हृदय, मधुर भाषी एवं परिश्रमी सज्जन हैं। इनकी इतिहास विषयक जानकारी का अनुमान तो इसी बात से हो सकता है कि उस के आधार पर इंडियन ऐंटिक्वेरी के सम्पादक सर रिचर्ड टैंपलबार्ट ने अपनी रिपोर्ट में इनका नाम पचास वर्ष में होने वाले भारतीय इतिहास के चुने हुए विद्वानों में दिया है। इन्होंने एक ग्रन्थ अंग्रेज़ी में और चार ग्रन्थ हिन्दी में लिखे हैं। हिन्दी ग्रन्थों के नाम ये हैं—भारत के प्राचीन राजवंश, राजाभोज,

राष्ट्रकूटों का इतिहास और मारवाड़ का इतिहास। इनमें से भारत के प्राचीन राजवंश पर नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की ओर से पुरस्कार भी इन्हें मिला है। उल्लिखित मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने शैव सुधारक नामक वैष्णव ग्रन्थ का सरल भाषानुवाद तथा जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्त सिंह जी (प्रथम) विरचित वेदांत के पाँच ग्रन्थों का और महाराजा मान सिंह जी के लिखे हुए कृष्ण बिलास नामक ग्रन्थ का सम्पादन भी बड़ी योग्यता से किया है। इन्होंने इतिहास सम्बन्धी विषयों पर फुटकर लेख भी बहुत से लिखे हैं।

पण्डित जी बड़ी सरल, मंजी हुई एवं टकसाली भाषा लिखते हैं और कैसा भी शुष्क तथा विवाद ग्रस्त विषय क्यों न हो उसे बड़े ही साहित्यिक, एवं विश्वास-जनक (Convincing) ढंग से पाठकों के समक्ष रखते हैं।* इन की शैली में सरलता और सुलझाव है। विचारों को सरस-तर्कयुक्त भाषा में उपस्थित करने में ये बड़े निपुण हैं। इनकी भाषा का नमूना देखिये:—

"अजीतसिंह के अपने पुत्र बखतसिंह द्वारा मारे जाने का तो किसी ने भी विरोध नहीं किया है। परन्तु इस के कारण के विषय में मत-भेद है। टॉड को सूचना देने वालों ने उसे बतलाया था कि अपने बड़े भाई अभयसिंह के इशारे से ही बखतसिंह ने यह कार्य किया था और अभयसिंह उस समय देहली में होने से बादशाह के दबाव में था। इस हत्या के करने वाले के लिये ५५५ गाँवों सहित नागोर का परगना इनाम में रक्खा गया था। कहते हैं कि अभयसिंह की इस पाशविक प्रवृत्ति के उत्तेजित करने में कृतघ्न सैय्यद-भ्राताओं का भी हाथ था; क्यों कि वे फर्रुखसीयर के गद्दी से उतारने के समय अजीतसिंह द्वारा किये गये विरोध का बदला लेना चाहते थे। अब इस विषय में कुछ बातों पर साधारणतया विचार करना आवश्यक है। क्या ऊपर लिखा पारितोषिक बखतसिंह को इस हत्या के लिये उत्तेजित करने को पर्याप्त था? सम्भव है कि वह अधिक चालाक न हो, परन्तु वह इतना बेवकूफ भी न था कि जो ऐसी बदनामी को, अपने फायदे को छोड़ कर केवल अपने भाई के फायदे के लिये अथवा उस जागीर के लिये, जो कि राजपूतों के आम रिवाज के

अनुसार उसके पिता की प्राकृतिक मृत्यु के बाद भी उसे मिल जाती, अपने सिर लेता।"*

(१०) **पंडित सूर्य्यकरण जी पारीक एम० ए०**—सूर्य्यकरणजी का जन्म सं० १९६० में बीकानेर के एक पारीक कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम उदयलाल था, जो बीकानेर के प्रमुख साहित्य सेवी और सामाजिक कार्य-कर्त्ता थे। पारीकजी ने हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों में एम० ए० पास किया था। ये बिड़ला कॉलेज पिलाणी के वाइस प्रिंसिपल तथा हिन्दी और अँग्रेज़ी के प्रोफेसर थे। इन्हीं के प्रयत्नों से पिलाणी में राजस्थानी ग्रन्थमाला का संस्थापन हुआ था। दुख है कि गत १६ फरवरी, सन् १९३९ को इनका देहान्त हो गया। अपने पीछे पारीकजी एक वृद्ध माता, पत्नी, दो भाई और चार छोटे २ बच्चे छोड़ गये हैं, जो उनकी याद में आठ आठ आँसू रो रहे हैं। पर पारीकजी की मृत्युपर शोक मानने वाले की सख्या इतनी ही नहीं है। राजस्थान का प्रत्येक सहृदय व्यक्ति जिसे उनके ग्रन्थों के अवलोकन का अवसर मिला है उनकी असामयिक मृत्यु से दुखी है। क्योंकि पारीकजी जैसे प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार का अल्पायु में निधन हो जाना राजस्थान के लिये कोई साधारण शोक की बात नहीं है।

पारीकजी बड़े उत्साही साहित्यकार, हिन्दी-अँग्रेजी के पूर्ण विद्वान तथा उच्चकोटि के समालोचक थे और बड़ी सचाई (Sincerity) के साथ हिन्दी और राजस्थानी साहित्य की सेवा कर रहे थे। इन्होने अपना साहित्यिक कार्य कुछ तो अपने मित्रों के साथ और कुछ स्वतंत्र रूप से किया था। इनकी स्वतन्त्र कृतियों के नाम ये हैं—

(१) बोलावण नाटक
(२) राजस्थान री बातां
(३) राजस्थान की कहानियां
(४) राजविलास (संपादित)
(५) हिन्दी गद्यमाला संग्रह (सं०)

*माधुरी, मार्च सन् १९२८, पृ १४७

एक गद्य लेखक की हैसियत से पारीकजी का स्थान राजस्थान में बड़े महत्त्व का है। इस दृष्टि से वे एक शैलीकार भी कहे जा सकते हैं। पारीकजी बहुत प्रवाहमयी, सुसंस्कृत, सुगठित एवं मधुर भाषा लिखते थे और इस बात को खूब जानते थे कि किसी तथ्य को खाली लिख देना ही साहित्य नहीं है, जब तक कि उसके लिखने के ढङ्ग में कुछ और कुछ विशेषता, कुछ और कुछ अनूठापन न हो। इसलिये जिस बात को भी वे लिखते उसे ऐसे सुन्दर शब्दों में और ऐसी चित्रोपम शैली से लिखते थे कि यदि कोई पाठक उनके द्वारा प्रतिपादित विचारों से सहमत न होता तो भी उनके लेखन-चातुर्य की छाप तो उस पर अवश्य ही बैठ जाती थी। अँग्रेज़ी और हिन्दी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार होने से पारीक जी के हिन्दी गद्य में भी वही ओज और वैसा ही सौष्ठव मिलता है, जो अंग्रेज़ी भाषा के गद्य में पाया जाता है। जो लोग यह कहते हैं कि हिन्दी भाषा में सब प्रकार के भावों को अभिव्यक्त करने की वैसी शक्ति नहीं है, जैसी कि अँग्रेज़ी भाषा में है और इसलिये राष्ट्रभाषा बनने के लिये वह अनुपयुक्त है उन्हें पारीकजी की भाषा को देखकर अपना मत परिवर्तन करना चाहिये। इनकी भाषा का नमूना देखिये:—

"भारतवर्ष में भले दिनों का सूत्रपात्र हो रहा है। चारों ओर से आशा का नव प्रभात झलकने लगा है। इस नवयुग के प्रकाश में हमारे भाग्य-विधायकों का ध्यान सबसे पहले शिक्षा सुधार की ओर जाना स्वाभाविक है। तो क्या हम आशा न करें कि निकट भविष्य में हमारे विद्यालय इस नव-प्रभात की सुवर्णमयी कोमल किरणों के प्रकाश से देदीप्यमान वे सरस्वती के मंदिर बनेंगे, जिनमें प्रवेश करते हुए मातृ-भाषा की मधुर मुसकान हमारा दुलार करेगी, अपनी संस्कृति की द्वार-शिला पर मस्तक टेकते हुए हमारा हृदय श्रद्धा से भरा होगा, और सभ्य आचरण और उच्च विचारों के अन्तः प्रकाश में आत्म-विश्वास, देश-प्रेम, निर्भीकता, परमेश-भक्ति, उदारता, स्वाभिमान और विश्व-मैत्री का संपूर्ण राग हमारे कंठ से ध्वनित होता होगा? उस दिन जब हम मातृ-मंदिर की घंटी को विनय-सम्पन्न हाथों से छू देंगे, तब उसके झंकार को सारा संसार सम्मान पूर्वक कान लगा कर सुनेगा और माता के चरणों में अर्पित की हुई हमारी अंजलि के

पुष्पों की महक दिगन्त के रसलोभी भ्रमरो को उस ओर श्रद्धा पूर्वक आकृष्ट करेगी।"

(११) **श्रीयुत ठाकुर रामसिंह जी, एम० ए०**—बीकानेर के प्रसिद्ध साहित्य सेवी श्रीयुत ठाकुर रामसिंह जी का जन्म सं० १९५९ में हुआ था। ये तँवर राजपूत हैं। ठाकुर साहब बड़े कलाप्रेमी, सहृदय एवं साहित्य-रसिक पुरुष हैं और राजपूत होते हुए भी मदिरा मांस से परहेज़ करते हैं। सरल जीवन तथा शुद्ध व्यवहार के कारण बीकानेर में आज इनकी बड़ी प्रतिष्ठा है। ये हिन्दू विश्वविद्यालय में अँग्रेज़ी के प्रोफेसर तथा बीकानेर में डाईरेक्टर ऑफ़ रेज्यूकेशन भी रह चुके हैं। इनके द्वारा रचित तथा संपादित ग्रंथो के नाम नीचे दिये जाते हैं। इनमें से कणिका, चन्द्र सखी के भजन और सौरभ को छोड़ कर शेष सभी ग्रंथ श्री सूर्यकरण जी पारीक और श्रीयुत नरोत्तमदास स्वामी के साथ मिल कर लिखे गये हैं। इन ग्रंथों के नाम ये हैं:—

(१) कानन कुसुमांजली (२) मेघमाला (३) ज्योत्सना (४) गद्य गीतिका (५) सौरभ (६) कणिका (७) चन्द्र सखी के भजन (८) वेलिक्रिसन रुक्मिणी री (९) ढोला मारू रा दूहा (१०) जटमल ग्रंथावली (११) छंद राउ जैतसी रउ (१२) राजस्थान के लोक गीत।

ठाकुर साहब हिन्दी पद्य और गद्य दोनों लिखते हैं और बहुत अच्छा लिखते हैं। आपकी भाषा सरस, विचार व्यंजना कवित्वपूर्ण तथा वर्णन-शैली स्वाभाविक होती है। शब्द गुंथन की मधुर ध्वनि द्वारा मन को मुग्ध कर लेने की एक अद्भुत शक्ति जो आप में विद्यमान है वह आप ही की चीज़ है, आप ही की व्यक्तिगत विशेषता है। आपकी भाषा का सौन्दर्य देखिये:—

"उस पार के सघन कुंजों से वंशी-ध्वनि आ रही है, इस पार मैं दिन और रात्रि के मिले हुए सौन्दर्य में अकेली बैठी हूँ।

वंशी की आत्मा में मेरा नाम कौन फूँक रहा है? वह मुझे कौन बुला रहा है? इस वंशी में तो मेरे विस्मृत-स्वप्नों के स्वर भरे हैं—मैं इन्हें पहचानती हूँ; हाँ, कुहरे से ढँके हुए क्षितिज के हृदय की तरह पहचानती हूँ।

नदी पर कोई नाव नहीं दिखाई देती। श्वेत बिहग तरंगों को अपने तेज़ पंखों से छू-छूकर आकाश में विलीन हो जाते हैं। लहरों पर चढ़ कर वंशी का अंतिम स्वर मेरी ओर आता है और मैं मतवाली होकर उसके पकड़ने के लिए पानी में कूद पड़ती हूँ।

आँख खुलते ही मैं अपने आपको उसी कुंज में फूलों की सेज पर सोते पाती हूँ, जहां से वंशी-ध्वनि आ रही थी।

परन्तु, यह क्या! अब की उस पार के हरे खेतों से वंशी-ध्वनि आ रही है और इस पार मैं रात्रि और दिन की मिश्रित मुसकान में अकेली बैठी हूँ।"

(१२) श्री **नरोत्तमदास स्वामी, एम० ए०**—राजस्थान के अर्वाचीन साहित्यसेवियों में स्वामी जी का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इनकी आयु इस समय ३५ वर्ष के लगभग है। ये हिन्दी और संस्कृत दोनों में एम० ए० हैं और इस समय डूंगर कॉलेज, बीकानेर में हिन्दी के प्रोफेसर तथा हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं। स्वामी जी एक सहृदय साहित्यिक हैं और बड़ी लगन तथा बड़े विवेक के साथ राजस्थान के प्राचीन साहित्य को प्रकाश में लाने का उद्योग कर रहे हैं। बीकानेर में आज कल साहित्य विषयक इतनी चर्चा जो सुन पड़ती है उसका बहुत कुछ श्रेय इनको है। इन्होंने राजस्थानी साहित्य का कार्य अधिकतर अपने मित्र श्रीयुत ठाकुर रामसिंह जी, एम० ए० और पंडित सूर्य्यकरण जी पारीक, एम० ए० के साथ किया है। पर स्वतंत्ररूप से भी इन्होंने कुछ ग्रन्थ लिखे तथा कुछ का सम्पादन किया है। इनमें से 'राजस्थान रा दूहा' नामक ग्रंथ पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की ओर से 'मानसिंह पुरस्कार' भी इनको मिल चुका है। इनकी स्वतंत्र रचनाओं के नाम ये हैं :—

(१) राजस्थान रा दूहा (भाग १-२)
(२) मीरां मन्दाकिनी
(३) राजिया रा दूहा
(४) बीकानेर के वीर
(५) राजस्थानी कहावतें (अ० प्र०)

(६) राजस्थानी भाषा और साहित्य (अ० प्र०)
(७) राजस्थानी कोष (अ० प्र०)

नरोत्तमदास जी हिन्दी भाषा के प्रौढ़ लेखक तथा राजस्थानी भाषा, राजस्थानी साहित्य एवं राजस्थानी संस्कृति के अनन्य उपासक हैं। ये बहुत सरल, मधुर एवं सादी भाषा लिखते हैं और वह दिन भी बहुत दूर नहीं है जब हिन्दी के प्रथम पंक्ति के लेखकों में ये अपना स्थान सुरक्षित बना लेंगे। नीचे हम इनके गद्य का थोड़ा सा अंश उद्धृत करते हैं जो इनकी लेखन शैली का अच्छा प्रतिनिधित्व करता है:—

"बात को संक्षेप में और चुभते हुए ढंग से कहने के लिये दूहा बहुत ही उपयुक्त छन्द है। इसी कारण कबीर आदि सन्त-महात्माओं ने अपनी साखियाँ इसी छन्द में कहीं। रहीम और वृन्द जैसे नीति-कवियों ने भी इसी को पसंद किया और बिहारी, मतिराम, रसनिधि आदि ने अपनी अपूर्व रस धारा भी इसी में प्रवाहित की। इन लोगों को जो सफलता तथा लोक प्रियता प्राप्त हुई उसके विषय में कुछ कहना आवश्यक है। राजस्थानी का अधिकांश लौकिक साहित्य इसी छन्द में निर्मित हुआ है। प्राचीन काल से सैकड़ों दूहे लोगों की ज़बान पर चलते आये हैं, जिनका बात बात में कहावतों की भाँति प्रयोग किया जाता है। राजस्थानी जनता का सर्वप्रिय माँड राग का माधुर्य और आकर्षण भी उसके दोहों पर निर्भर है। प्राचीन लौकिक-वीरों (Popular Folk Heroes) की कीर्ति इन्हीं छोटे छोटे दूहों की बदौलत नाम-शेष हो जाने से बच गई है। आज भी प्राचीन ढंग के राजस्थानी कहानी कहने वाले लोग कहानियों के बीच बीच में भाव पूर्ण स्थलों पर दूहों का प्रयोग करके श्रोता लोगों को मुग्ध करते हैं।"*

(१३) **श्री जनार्दनराय नागर**—इनका जन्म सं० १९६८ में अपने नाना फूलशंकर जी के घर उदयपुर में हुआ था। इस समय इनकी अवस्था २७ वर्ष की है। ये नागर ब्राह्मण हैं। इनके पिता श्री प्राणलाल जी लीमड़ी (काठियावाड़) से आकर उदयपुर में बसे हैं। नागर जी की प्रारम्भिक शिक्षा उदयपुर ही में हुई। इन्होंने सं० १९८६ में इंटेन्स की सं० १९९०

* राजस्थान रा दूहा, भाग पहला, पृ० ५४ (भूमिका)

में इण्टरमीडिएट की और सं १९९२ में बी० ए० की परीक्षा पास की। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की उत्तमा परीक्षा भी इन्होंने पास की है। इस समय ये विद्या भवन, उदयपुर में हिन्दी के अध्यापक और हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं।

नागर जी प्रगतिशील-विचारों के उत्साही युवक हैं और बड़े निःस्वार्थ भाव से मेवाड़ में हिन्दी-प्रचार का कार्य कर रहे हैं। इनकी रहन-सहन सादी और प्रकृति बहुत सरल है। खादी पहनते हैं और सार्वजनिक कार्यों में बड़ी दिलचस्पी से भाग लेते हैं। सुलेखक हैं। अच्छे व्याख्यानदाता हैं। हिंदी की प्रायः सभी सुप्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कहानियाँ, लेख, गद्य काव्य आदि प्रकाशित होते रहते हैं। पहले पहल जब इनकी कहानियाँ पत्रों में छपी थीं तब प्रेमचन्द जी उन्हें पढ़कर बहुत प्रसन्न हुए थे। उन्होंने इनकी कहानियों की बहुत बड़ाई की है। इनकी कुछ कहानियों का अनुवाद गुजराती भाषा में भी हुआ है। इनके रचे ग्रथों के नाम ये हैं:—

(१) ध्रुवतारा (उपन्यास) (२) तिरंगा झंडा (उपन्यास) (३) आधीरात (नाटक) (४) पतित का स्वर्ग (नाटक) (५) जीवन का सत्य (नाटक) (६) विष का प्याला (नाटक)।

भाषा की स्वच्छता की अपेक्षा अनुभूति की मात्रा इनमें विशेष पाई जाती है। इनके घर की बोली गुजराती है जिसका रंग इनकी साहित्यिक रचनाओं पर भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इन्होंने कहीं २ राजस्थानी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग भी किया है। सफल उपन्यास लिखने के लिये दो गुण बहुत आवश्यक होते हैं—गाम्भीर्य और सत्यता। (High seriousness and truth) ये दोनों गुण इनमें विद्यमान हैं और इस दृष्टि से ये एक सफल उपन्यासकार कहे जा सकते हैं। इनके नाटक भी अच्छे हैं। पर वे अभिनय के लिये अनुपयुक्त हैं। इसके मुख्य कारण दो हैं। एक तो यह कि उनमें पात्रों की संख्या, कथा-वस्तु के महत्व को देखते हुए, बहुत अधिक है। दूसरे अतिशय भावात्मकता के कारण कथोपकथन कहीं २ बहुत अस्पष्ट हो गये हैं। कहानियों के लिखने में इन्हें बहुत सफलता मिली है। इनकी 'जीवन और मृत्यु' 'अमृत और विष,' 'कविता में दोष' आदि कहा-

नियाँ, हिन्दी साहित्य को इनकी अपूर्व देन है। पहले इनकी कहानियों में जीवन की बौद्धिक तथा मनोवैज्ञानिक व्याख्या का प्राधान्य रहता था। अब इन्होंने देश की सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को अपनी कहानियों का मूलाधार बना लिया है। आगे हम इनके 'आधी रात' नामक नाटक में से थोड़ा सा अंश उद्धृत करते हैं। इससे इनकी भाषा-शैली पर अच्छा प्रकाश पड़ता है :—

"काँधल—संध्या हो रही है, मैं भी चलूँ। इसके साथ इसका पाप है; मैं क्या करूँ? पर मैं जाऊँगा कहाँ? एक महाराणा यह मूर्छित पड़ा, एक का शव इन आँखों से देखा और दूसरा यह अभी गया! राजाओं का यह चक्र चलता ही रहता है। मैं क्या करूँ, यह सोच रहा हूँ। भगवान रुद्र! यह काँधल कहाँ जाये? प्रजा का राज तो आज स्वप्न है। और उसके बिना जैसे मैं अब जीना नहीं चाहता! यह मृत्यु का वैभव, अत्याचार और पक्षपात पर स्थित शासन मुझे नहीं चाहिये। कुंभा, तुम्हारे संदेश का सत्य इस शान्त सुनसान रण भूमि पर सजीव हो रहा है! मैं अज्ञात वास लूँगा (प्रस्थान)।"*

ऊपर राजस्थान के प्रमुख २ गद्य लेखकों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। इनके सिवा थोड़े से और हैं जिनके ग्रंथों तथा लेखों का भी विद्वत्-समाज में बड़ा सम्मान है। शोक है कि इन मनस्वी लेखकों में से कुछ अब नहीं रहे। उनकी कीर्ति मात्र रह गई है। चारण रामनाथ रत्नू, सीकर निवासी तेजमल जी के पुत्र थे। इन्होंने 'इतिहास राजस्थान' नामक एक छोटा सा ग्रंथ लिखा जिसमें करौली, धौलपुर और टोंक को छोड़ कर राजस्थान के १४ राज्यों का संक्षिप्त इतिहास वर्णित है। समर्थदान, अजमेर से निकलने वाले 'राजस्थान समाचार' नाम के साप्ताहिक पत्र के संपादक थे। ये बड़े निष्पक्ष समीक्षक, साहित्य-प्रेमी तथा अच्छे गद्य लेखक थे। शिवचन्द्र भरतिया (सं० १९१०-७२) आधुनिक राजस्थानी के हरिश्चन्द्र माने जाते हैं। ये राजस्थान निवासी नहीं थे, हैदराबाद के रहने वाले थे। पर इन्होंने राजस्थानी भाषा में भी दो-चार ग्रंथ लिखे हैं जिनमें से केसर विलास, फाटका जंजाल,

* आधीरात; पृ० २६३

बुढ़ापा की सगाई आदि इनके नाटक बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं। इन नाटकों में हिन्दू-समाज की, विशेषतः मारवाड़ी समाज की कुरीतियों के चित्र अंकित किये गए हैं और अभिनय के लिए भी उपयुक्त हैं। किशोरसिंह जी बारहट का स्वर्गवास हाल ही में हुआ है। ये सुयोग्य लेखक और इतिहासवेत्ता थे। इनकी अंतिम रचना 'करणी चरित्र' है जो राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता की ओर से छपी है।

श्री नाथू लाल जी व्यास, पं० गौरीशंकरजी ओझा के सहकारी हैं। ये अच्छे इतिहासज्ञ और हिन्दी के प्रौढ़ लेखक हैं। इनके इतिहास विषयक लेख बड़े रोचक और ओजपूर्ण होते हैं। श्रीयुत ठाकुर चतुरसिंह जी (रूपाहेली) इतिहास के अच्छे मर्मज्ञ हैं। इनका लिखा 'चतुर कुल चरित्र इतिहास' नामक ग्रंथ एक महत्वपूर्ण रचना है। श्री जगदीश सिंह जी गहलोत जोधपुर के रहने वाले हैं। कविराजा श्यामलदास जी, ओझा जी, रेउ जी आदि के ग्रंथों के आधार पर इन्होंने हाल ही में 'राजपूताने का इतिहास' नामक एक बहुत बड़ा ग्रंथ निकाला है। इनकी भाषा अमार्जित और शैली निर्जीव होती है। इन्होंने दो-एक संग्रह-ग्रंथ भी निकाले हैं। श्री ऋषिदत्त महता बूंदी के रहने वाले नागर ब्राह्मण हैं। अजमेर के 'राजस्थान' और 'रियासती' नामक दो साप्ताहिक पत्रों के संपादक हैं। बड़े त्यागी हैं। राजनैतिक विषयों पर इनके लेख बड़े मार्मिक होते हैं। श्री रामनारायण चौधरी अजमेर से निकलने वाले प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र 'नव-ज्योति' के सम्पादक हैं। इनकी जन्मभूमि जयपुर है। रियासती जनता के बड़े हित चिन्तक हैं और कई वर्षों से हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। श्री हरि-भाऊ उपाध्याय के नाम से सभी परिचित हैं। राजस्थान के प्रमुख राजनैतिक नेता हैं। बहुत उच्च कोटि के लेखक, ऊँचे विचारक और प्रतिष्ठित सम्पादक हैं। श्री रामेश्वर ओझा एम० ए०, पं० गौरीशंकर जी के सुयोग्य पुत्र हैं। हिन्दी पत्र पत्रिकाओं में समय २ पर निकले हुए इनके लेखों से इनके ठोस ऐतिहासिक ज्ञान और परिमार्जित भाषा-शैली का परिचय मिलता है। श्रीयुत ठाकुर जुगलसिंह, एम० ए०, हिन्दी-अंग्रेजी के प्रौढ़ विद्वान है। हिन्दी के अतिरिक्त राजस्थानी में भी लिखते हैं। काव्य-रचना में भी सिद्ध-

हस्त हैं। पं० मुरलीधर जी व्यास, हिन्दी के एक सफल लेखक हैं। ये राजस्थानी परिषद, बीकानेर के मंत्री और बड़े उत्साही कार्यकर्त्ता हैं। ये कहानियाँ भी अच्छी लिखते हैं। श्री पुरुषोत्तम दास स्वामी M. Sc. (बीकानेर) वैज्ञानिक विषयों पर प्रायः लिखा करते हैं। आजकल ये जन साधारण के लिये 'रसायन शास्त्र' नामक ग्रंथ का प्रणयन कर रहे हैं। श्री दशरथ शर्मा एम० ए० (बीकानेर) इतिहास और संस्कृत दोनों में एम० ए० हैं। हिन्दी प्रेमी और हिन्दी,के लेखक हैं। श्री अगर चन्द-भँवरलाल नाहटा, जैन साहित्य को प्रकाश में लाने का स्तुत्य प्रयत्न कर रहे हैं। इनके लेख जैन पत्रों में बहुधा प्रकाशित होते रहते हैं। इन्होंने दो ग्रंथ भी लिखे हैं— 'युग प्रधान जिन चंद्र सूरि' और 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह'। श्री गजराज ओझा (बीकानेर) की डिंगल भाषा में अच्छी पहुँच है। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में निकला हुआ 'डिंगल' शीर्षक इनका एक लेख बहुत मौलिक और महत्वपूर्ण माना जाता है। हिन्दी के उदीयमान लेखक हैं। श्री रघुनाथ प्रसाद सिंहानिया, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी कलकत्ता के प्रधान मंत्री हैं। राजस्थानी साहित्य को प्रकाश में लाने का उत्कट उद्योग कर रहे हैं। इन्होंने 'मारवाड़ी भजन सागर' नामक एक ग्रंथ का सपादन भी किया है। श्रीयुत ठाकुर भगवतीप्रसाद सिंह, 'राजस्थान' (कलकत्ता) नामक त्रैमासिक पत्र के सहकारी सम्पादक रह चुके हैं। इनसे हिन्दी को लाभ पहुँचने की पूरी आशा है।

उन नवीन लेखकों से, जिन्होंने अभी-अभी साहित्य-क्षेत्र में क़दम रखा है इस 'रूप-रेखा' का सम्बन्ध नहीं है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट

(कुछ फुटकर कवि)

(१)

बाबहियौ ने बिरहिणी, दुहुँवा एक सहाव ।
जब ही बरसै घण घणौ, तबही कहै पि-प्राव ॥
बिजुलियाँ नीलजियाँ, जलहरि तू ही लज्जि ।
सूँनी सेज विदेस प्रिय, मधुरइ मधुरइ गज्जि ॥
भरइ पलट्टइ भी भरइ, भी भरि भो पलटेहि ।
ढाढी हाथ संदेशड़ा, घण विललंती देहि ॥

—ढोला मारू रा दूहा (सं० १०००)

(२)

टोली सूँ टलियाँह, हिरणाँ मन माठा हुवै ।
बालम वीछुड़ियाँह, जीवै किण विध जेठवा ॥
जिण बिन घड़ी न जाय, जमवारो किम जावसी ।
विलखतड़ी बीहाय, जोगण करगो जेठवा ॥

—ऊजली (सं० ११००)

---

(१) **ढोला मारू रा दूहा**—यह राजस्थान का एक बहुत प्राचीन प्रेमगाथात्मक काव्य है। इसके रचयिता का वृत्त ज्ञात नहीं है। इसमें नरवर के राजकुमार ढोला और पूगल की राजकुमारी मारवणी की प्रेम-कथा का वर्णन है।

(२) **ऊजली**—यह चारण जाति की स्त्री थी, जो पोरबन्दर के जेठवा जाति के मेहा नामक राजा पर आसक्त हो गई थी। अपने प्रेम-पात्र मेहा को संबोधित कर ऊजली ने थोड़े से दोहे कहे है। दोहे संख्या में बहुत थोड़े है पर जितने भी है वे काव्य प्रेमियों के मर्म को स्पर्श करने वाले है।

(३)

ढोला मारिय ढिल्लि महँ, मुच्छिउ मेच्छ-सरीर ।
पुर जज्जलला मंतिवर, चलिअ बीर हम्मीर ॥
चलिअ बीर हम्मीर, पाअभर मेइणि कंपइ ।
दिगमग णह अंधार, धूलि सुररह आच्छाइहि ॥
दिगमग णह अंधार, आण खुरसाणुक उल्ला ।
दरमरि दमसि विपक्ख, मारू ढिल्ली महँ ढोल्ला ॥
—सारंगधर, रणथंभोर (सं० १३५०)

(४)

पिंधउ दिढ़ संणाह बाह उप्पइ पक्खर दइ ।
बंधु समदि रण धसउ साहि हम्मीर बअण लइ ॥
उड्डुउणह पह भयउ खग्ग रिपु सीसहि झल्लउ ।
पक्खर पक्खर ठिल्लि पिल्लि पब्बअ अप्फालउ ॥
हम्मीर कज्जु जज्जल भणई कोहाणल मह मइ जलउ ।
सुलितान सीस करबाल दइ तज्जि कलेवर दिअ चलउ ॥
—जज्जल, रणथंभोर (सं० १३५०)

---

(३) **सारंगधर**—ये रणथंभोर के चौहान राजा हम्मीर के आश्रित थे। इनके पिता का नाम दामोदर था। ये तीन भाई थे—सारंगधर, लक्ष्मीधर, और कृष्ण। कहा जाता है कि इन्होंने सारंगधर पद्धति, हम्मीर काव्य और हम्मीर रासो नामक तीन ग्रन्थ बनाये थे।

(४) **जज्जल**—ये रणथंभोर के चौहान राजा हम्मीर के सेनापति थे और वीर होने के साथ २ काव्य रचना में भी निपुण थे।

(५)

साफलै बिनै मांझी सधीर, वीरंमपाल देपाल वीर ।
धजवड़ां मुहे ऊड़ंत धूप, भड़ भड़े जुड़े भूप से भूप ॥
अरि मारि ऊरबारै अख्यात, वीरंम पड़े भड़ बीस सात ।
बाहरू वीर प्रभवास वारि, मुरब्बी मिथेन देवाल मारि ॥
—ढाढी बादर, मारवाड़ (सं० १४४०)

(६)

रउद्द सद्द आसमुद्द साहसिक्क सूरइ ।
कठोर थोर घोर छोर पारसिक्क पूरइ ॥
अहंग गाह अंग गाहि गालि बाल किज्जइ ।
विछोहि जोइ तेह नेहि मेच्छ लोडि लिज्जइ ॥
—श्रीधर (सं० १४५४)

(७)

धिन उमादे साँखली, तैं पिव लियौ भुलाय ।
सात बरस रो बीछुड्यो, तो किम रैण बिहाय ॥
किरती माथे ढल गई, हिरणी लूँबा खाय ।
हार सटे पिय आणियो, हँसे न सामो थाय ॥
—झीमा, बीकानेर (सं० १४७०)

(५) ढाढी बादर—ये मारवाड़ के राव वीरम जी के आश्रित थे। इन्होंने वीरमायण नामक एक ग्रंथ लिखा जिसमें वीरम जी के शौर्य पराक्रम का वर्णन है। पं० रामकर्ण आसोपा ने अपने ग्रंथ 'मारवाड़ का मूल इतिहास' में वीरमायण के रचयिता का नाम रामचंद्र बतलाया है।

(६) श्रीधर—इन्होंने 'रणमल्ल छंद' नामक एक ग्रंथ बनाया था। इसमे ईडर के राठोड़ राजा रणमल की वीरता का वर्णन है।

(७) झीमा—यह बीकानेर की रहने वाली चारण जाति की कवयित्री थी। इसके थोड़े से दोहे उपलब्ध हुये है। ये दोहे आज से लगभग ५५० वर्ष पहले के लिखे हुए है और इसलिये भाषा विज्ञान की दृष्टि से बड़े महत्व के हैं।

(८)

वध वाणी ब्रह्माणी कोमारी सरसत्ति ।
कीरत रिणमल नूँ करूं, देवी देहि समत्ति ॥
पौर दिखावे प्राण, गढ़ भेलै भेलै गिरै ।
सांमहियौ सुरताण, गुहिलोतां चढ़ियो गलै ॥
—गाडण पसाइत, मारवाड़ (सं० १४६०)

(९)

जद धर पर जोवती दीठ नागोर धरंती ।
गायत्री संग्रहण देख मन मांहि डरंती ॥
सुर कोटी तेतीस आण नीरन्ता चारो ।
नहिं चरंत पीवंत मनह करती हंकारो ॥
कुंभेण राण हणिया कलम आजस उर डर उतरिय ।
तिण दीह द्वार शंकर तणैं कामधेनु तंडव करिय ॥
—बारू जी बोगसा, मेवाड़ (सं० १५२०)

(१०)

संग्रामि भिड़इ हींदू सखेध, बाजइ गुरज्ज थिड़ बाणबेध ।
पिड़ि भोमि निहट्टइ खेड़पत्ति, धड़ पड़इ हेक घूमइ धरत्ति ॥
बिरदइतु जइतु रण वट्ट बंधि, सत्रु घाइ निजोड़इ गड़ासंधि ।
ऊँच दइ असुर-हरि धार ईम, भारथ्थि पईठउ जाणभीम ॥
—छन्द राउ जइतसी रउ (सं० १५९२)

---

(८) **पसाइत**—ये गाड़ण शाखा के चारण मंडोवर के राव रणमल के समकालीन थे। रणमल की प्रशंसा में लिखी हुई इनकी बहुत सी कविताएँ मिली हैं ।

(९) **बारू जी**—ये बोगसा खाँप के चारण मेवाड़ के महाराणा कुंभा के आश्रित थे ।

(१०) **छन्द राउ जइतसी रउ**—इसके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है। इसमें बीकानेर के राव जैतसी और बाबर के पुत्र कामरान के युद्ध का वर्णन है। वीर रस का बड़ा अनूठा काव्य है ।

(११)

आवत लाल गोबर्द्धन धारी;

आलस नैन सरस रस रंगित प्रिया प्रेम नूतन अनुहारी
बिलुलित माल मरगजी उर पर सुरति समर की लगी पराग;
चूँबत स्याम अधर रस गावत सुरति चाव सुख भैरव राग
पलटि परे पट नील सखी के रस में झीलत मदन तड़ाग;
वृन्दावन बीथिन अवलोकत कृष्णदास लोचन बड़ भाग।

—कृष्णदास पय अहारी,गलता (सं० १६००)

(१२)

बूझे पतसाह पता दे कूँची, धरा पलटी न कीजै धोड़।
गढ़ रो धणी कहे गढ़ माहरो, चुंडाहरो न दिये चितोड़ ॥१॥
गोळ्यां नाळ चत्र कोट गाजे धणी, हिन्दु तुरक आवटे घणा
जगा सुत न दीये जीवंतो, तीजा लोचन पृथी तणा ॥२॥
झटकां झड़ां ओझड़ा झाड़े, अटकां अर्भा रोकै यमराह
ऊभे पते च ढ्यो नहिं अकबर, पड़िये पते चढ़यो पतसाह ॥३॥
पतसाहो साल राण घर आड़ो, मुगलां मारण कियो मतो
उदियासिंह राणो इम आखे, धरा पलटी धणी पतो ॥४॥

—महाराणा उदयसिंह, मेवाड़ (सं० १५९४-१६२८)

---

(११) **कृष्णदास पय अहारी**—ये गलता (जयपुर) के रहने वाले प्रसिद्ध भक्त कवि अग्रदास के गुरू थे।

(१२) **महाराणा उदयसिंह**— ये मेवाड़ के महाराणा थे। महाराणा सांगा इनके पिता और प्रताप इनके पुत्र थे। इस गीत में इन्होंने सीसोदिया पत्ता की वीरता का वर्णन किया है, जो चितोड़ के तीसरे शाके के वक्त अकबर की सेना के विरुद्ध लड़ता हुआ काम आया था।

(१३)

प्रभू भजंतां प्राणियाँ, कीजै ढील न काय।
भर बत्थाँ अथ काढ़जै, मन्दिर जळतै माँय॥
जीह भणै भण जीह भण, कंठ भणे भण कंठ।
मो मन लागौ मह-महण, हीर पटोळे गंठ॥
हरिरस हररस हेक है, अनरस अनरस मान।
बिन हररस हर-भगति बिन, जन्म ब्रथा नर जान॥

—ईश्वरदास, मारवाड़ (जन्म सं० १५६५)

(१४)

प्रीतम प्राण आधारउ, मनमोहन भरतार।
माधव बंचिश्र प्रेम भरि, संदेशा सुविचार॥
कंता मइऊँ बाहरी, नयण गमाया रोय।
हाथेली छाला पड़या, चीर निचोय निचोय॥
हूँ कुमलाणी कंत विण, जिम जल बिहुणी वेलि।
विणजारा की धाह जिम, गयू धरवंती मेलि॥

—वाचक कुशललाल, जैसलमेर (सं० १६१६)

---

(१३) **ईश्वरदास**—ये मारवाड़ राज्यान्तर्गत भाद्रेस नामक ग्राम में पैदा हुए थे। जाति के चारण थे। इनके पिता का नाम सूजा था। इनके काव्य मे शान्तरस की प्रधानता है। इनके लिखे इतने ग्रन्थों का पता है—हरिरस, छोटा हरिरस, बाललीला, गुण भगवंत हंस, बैराट, गरुड़ पुराण, गुण आगम, निन्दास्तुति, रास कैलास, देवियाँण सभापर्व और फुटकर डिंगल गीत, पद आदि।

(१४) **कुशललाल**—ये जैसलमेर के रहनेवाले जैन यति थे। जैसलमेर के रावल मालदेव के कुँवर हरिराज के विनोदार्थ इन्होंने 'माधव कामकन्दला चरित्र' नाम का शृङ्गार रस का एक काव्य बनाया था।

(१५)

खीर नीर निरनै करै, पर उपगारी संत।
कहि जगजीवण साखि धर, पारब्रह्म को अंत॥
ये सब सम्पत जायगी, विपति पड़ेगी आय।
जगजीवण सोई भली, जै कोई खरचै खाय॥
—जगजीवण जी, जयपुर (सं० १६२०)

(१६)

द्योसा में इक भूसर सेवग ता सुत सुन्दर नाम कहाई।
ता जननी सुत आइ गुरू ढिंग पाद-सरोजहि देखि लुभाई॥
सुन्दर के सिर हाथ धर्यो गुरु कानहि में निज मंत्र सुनाई।
बालपने उपदेश दियो गुरू मात पिता घर तात रहाई॥
—माधवदास, मारवाड़ (सं० १६६१)

(१७)

पहली था सो अब नहीं, अब सौ पछै न थाइ।
हरि भजि बिलम न कीजिये, 'बखना' बारौ जाइ॥
'बखना' बाणी सो भली, जा बाणी में राम।
बकणा सुणना बोलणा, राम बिना बेकाम॥
—बखनाजी, जयपुर (सं० १६४०-७०)

---

(१५) **जगजीवण जी**—ये संत दादू दयाल के शिष्य थे। जाति के ब्राह्मण थे। पहले वैष्णव थे। बाद में दादू पंथ को स्वीकार कर लिया था। अच्छे विद्वान और कवि थे।

(१६) **माधवदास**—ये मारवाड़ राज्यान्तर्गत गूलर नामक गाँव के रहने वाले थे। ये दादू जी के शिष्य थे। इनके 'संतगुण सागर सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ का पता है।

(१७) **बखना जी**—ये जयपुर राज्य के नरायणा नामक कस्बे के रहनेवाले थे। दादू जी के शिष्य थे। सं० १६२० और १६४० के बीच किसी समय इनका दादू जी से साक्षातकार हुआ था। इनकी जाति के संबंध में मत-भेद है। कोई इन्हें लखारा, कोई कलाल और कोई मैरासी बतलाते हैं। इनकी 'वाणी' प्रकाशित हो चुकी है।

(१८)

मणियाँ सहस इकीस लै, पटसत माला पोइ ।
जगन्नाथ मन सुरति सों, रात दिवस भजि सोइ ॥
मन की मेरे कलपना, तन निश्चल जगनाथ ।
सुमिरन सों स्वासा रहै, चंचल रसन न हाथ ॥
—जगन्नाथदास, जयपुर (सं० १६६०)

(१९)

पद्मावति मुख-चंद, पदम-सुर-बास जु आवै ।
भमर भमैं चहुँ फेर, देख सुर असुर लुभावै ॥
आँगुल इकसठ आठ, ऊँच सो सुन्दर नारी ।
पहिलेइ सत्ताईस, वाहि चित लाय सँवारी ॥
मृगनैन वैण कोकिल सरस, केहर-लंकी कामिनी ।
अधर-लाल हीरे-दसण, भौंह-धनुष गजगामिनी ॥
—जटमल (सं० १६८०)

(२०)

रैण छमाही हो रही, आया नाँहीं पीव ।
संत सनेही कारणै, तलफै मेरा जीव ॥
बिरहणि विछुड़ी पीव सों, ढूँढत फिरै उदास ।
संतदास इक पीव बिन, निहचल नाँही वास ॥
—संतदास, जयपुर (मृत्यु सं० १६९६)

---

(१८) **जगन्नाथदास**—ये दादू जी के शिष्य और जाति के कायस्थ थे । इनके लिखे दो ग्रंथ कहे जाते हैं—'वाणी' और 'गुणगजनामा' ।

(१९) **जटमल**—ये नाहर गोत्र के ओसवाल जाति के महाजन थे । इनका लिखा 'गोरा बादल री बात' एक छोटा सा ग्रंथ प्रसिद्ध है । इस ग्रंथ में इन्होंने अपने को धर्मसी का पुत्र और सिंबुला नामक गाँव का निवासी बतलाया है । इन्होंने 'गोरा बादल री बात' गद्य में भी लिखी थी, ऐसा प्रसिद्ध है । इस विषय की छान-बीन हो रही है ।

(२०) **संतदास**—ये दादू जी के ५२ प्रधान शिष्यों में से थे । जाति के अग्रवाल महाजन थे । इनके 'बाणी' नामक ग्रंथ के छंदों की संख्या १२००० के लगभग बताई जाती है ।

(२१)

सतगुर सुन्दरदास जगत में पर उपगारी ।
धन्नि धन्नि अवतार धन्नि सब कला तुम्हारी ॥
सदा येक रस रहै दुक्ख द्वन्दर को नाँहीं ।
उत्तम गुन सो आहि सकल दीसै तन मांहीं ॥
सांखि जोग अरु भक्ति पुनि सबद ब्रह्म संजुक्ति है ।
कहि बालकराम बबेक निधि देखे जीवन मुक्ति है ॥
—बालकराम, फतहपुर (सं० १७००)

(२२)

सुखपालां ऊपरै, चलै नर बैठा कंधे ।
रंग पदमणी संग रमै, मेहलां सेझां मद्धे ॥
चीर हीर चामीर, अंग परमळ ओपावै ।
रस तंबोळ कपूर, अन्न मन वंछत खावै ॥
कुंजरां चढ़ै मोजां करै, अस कोतल चाले अगा ।
भोगवै इसा नर सुख भुवण, जियां रांम तूठौ जगा ॥
—जग्गा जी (सं० १७१५)

(२३)

संगति सुरझै प्राणी सब, चार वरण कुल सब्ब ।
हरि सुमिरण हित सूं करै, कारज होवै तब्ब ॥
कोटि कोटि कित कीजिये, जो कीजे सतसंग ।
सत संगत सुमरण बिना, चढ़ै न जिय के रंग ॥
—दामोदर दास, जयपुर (सं० १७१७)

---

(२१) बालकराम—ये ऊपर लिखित संतदास जी के शिष्य थे ।

(२२) जग्गा जी—ये खिड़िया शाखा के चारण थे । इन्होंने 'रतन महेश-दासोतरी बचनिका' नामक एक ग्रंथ की रचना की थी ।

(२३) दामोदरदास—ये दादू दयाल के शिष्य जगजीवण जी के पाटवी चेले थे ।

(२४)

रज्जब के चरणन कूँ छुवे को प्रताप ऐसो,पाप के पहार मानों फाटे हैं पराकि दे।
युग युग जीव जमद्वारे बँदिवान हो तो, संकल के संधि साल खूटे हैं खराकि दे॥
गौतम की तरुनी के करुनी ज्यौं कृपाल भये,साँचे है सराप तूटे ताँति ज्यों तराकि दे
ज्ञान के गयंद चढ़ि चलै है मोहन मन, ऊँचे असमान जाय बैठे हैं फराकि दे॥

—मोहनदास, जयपुर (सं० १७२०)

(२५)

कारज औ कारन तूं बिस्व बिस्तारन है, अखिल की पालक सुजोति चिदानंद की।
तूँही गति तूँही मति तूँही सुख संपति है, बिपति विहंडनी औ बलि है अनंद की॥
तेरे गुन गाइबे कौं बिधि हू समर्थ नाहि, तो कहा गति मेरी रसना मतिमंद की।
भक्तन की पत राखी ताके सुनै गीत साखी, पत राखी मेरता के बासी कवि वृन्द की

—माधोदास, किशनगढ़ (सं० १७४०)

(२६)

ग्यानवंत गम्भीर सूर सावन्त सुलच्छन।
पंच पचीसाँ मेलि भरम गुन इन्द्रिय भच्छन॥
दुरजन हूँ दल मोड़ि मोह मद मत्सर माया।
खल खबीस सब पीस सीस धरि ईस सजाया।
मैमन्त मता गुर ज्ञान मैं खेम बुद्धि लै अरि हते।
ध्यान अडिग धर धीर धुर जन रज्जब पूरे मते॥

—खेमदास, साँगानेर (सं० १७४०)

---

(२४) **मोहनदास**—ये दादू जी के शिष्य रज्जब जी के चेले थे।

(२५) **माधोदास**—ये किशनगढ़ के मीर मुंशी थे। वृन्द जी के शिष्य थे। इन्होंने चार-पाँच ग्रंथ बनाये जिनमें से 'शक्ति भक्ति प्रकाश' इनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है।

(२६) **खेमदास**—ये रज्जब जी के शिष्य थे। इनके ग्रंथों के नाम ये हैं—कर्म धर्म सम्बाद, सुख सम्बाद, चितावणी योग संग्रह और साखी।

(२७)

कछु मुसकत सतराय कछु, कह्यौ कुँवरि सकुचात ।
बात तिहारी ये कछू, मोंहि न समझी जात ॥
मोहि न समझी जात, कहा झकझोर मचाई ।
साँझी खेलन बेर, यहै अब नियमी आई ॥
कहि हैं गोप कुँवारि, गईं कब की कित न्यारी ।
गेह चलन की बेर, अबै क्यों करत अबारी ॥
—छत्र कुंवरि बाई, किशनगढ़ (सं० १७४५)

(२८)

कहा जानौं कैसी यह जरूर पै लियो हुतो,काहु काहु दियो अरु काहू को रहायगो ।
कीनौं है जतन ताको वल्लभ सुकवि कहैं,सावन्त बहादुर सौं मिलि कै बतायगो ॥
करै कौन बात ऐसी बन कै बसैया जैसी, फारक भयो है हाथ हाथ लछुवायगो ।
बाबर को वारन कौ चारन वध मारन को, दैनों दैन दारन कौ करज चुकायगो ॥
—वल्लभ कवि, किशनगढ़ (सं० १७५०)

(२६)

प्रीत आप परजलै, प्रीत अवरां परजालै ।
प्रीत गोत्र गालवै,प्रीत सुध वंश विटालै ॥
प्रीत काज घर नारि, छेह दै छोरू छोड़े'
प्रीत लाज परहरै, प्रीत पर खंड़े पाड़ै ॥
धन घटै देह दुख अंग मैं, अभख भखै अज रो जरै ।
उदैराज कहै सुणि आतमा, इसी प्रीति जिणऊँ करै ॥
—उदयराज, मेवाड़ (१७५०)

---

(२७) **छत्रकुँवरि बाई**—ये किशनगढ़ के प्रसिद्ध कवि सामन्त सिंह उपनाम नागरीदास की पोती थी । इनके पिता का नाम सरदार सिंह था । इनका विवाह कोटड़े के गोपाल सिंह जी खीची के साथ सं० १७३१ मे हुआ था । इनका एक ग्रंथ प्रेम विनोद प्रसिद्ध है ।

(२८) **वल्लभ कवि**—ये वृन्द कवि के पुत्र थे । इन्होंने वल्लभ विलास तथा वल्लभ मुक्तावली नामक दो ग्रंथ बनाये थे ।

(२६) **उदयराज**—ये जैन यति थे ।

(३०)

कीनौं तुम मान,मैं कियौ है कब मान अब,कीजै सनमान अपमान कीनौ कब मैं।
प्यारी हँसि बोलु और बोलैं कैसे बुद्धराज,हँसि हँसि बोलु हँसि बोलि हौं जु अब मैं
दृग करि सोहैं कोरि सोहैं करि जानत हैं, अब करि सोहैं अनसोहैं कीने कब मैं।
लीजे भरि अंक जाहि आये भरि अंक होन, काहु भरि अंक उर अंक देखे अब मैं॥

—महाराव राजा बुधसिंह (सं० १७६०)

(३१)

भूषण निवाज्यौ जैसे सिवा महाराज जू ने; बारन दे बावन धरा पै जस छाव है।
दिल्लीसाह दिलीप भये है खानखाना जिन,गंग से गुन को लाखैं मोज मन भाव है॥
अब कविराजन पै सकल समस्या हेत, हाथी घोड़ा तोड़ा दे बढ़ायो बहु नाँव है।
बुद्ध जू दिवान लोकनाथ कविराज कहै, दियो इकलौरा पुनि धौलपुर गाँव है॥

लोकनाथ चौबे, बूंदी (सं० १७६०)

(३२)

सोले से छीहोतरे, महिने आसू माह।
टीकायत बैठो तखत, सूर तणो गज साह॥
जहाँगीर दिल्ली हुतां, पठयो गज सिरपाव।
नौबत घोड़ा नव सहस, रिधू कमंधाँ राव॥
गज बंधी गांगाहरौ, दिल्ली दिसा किवाड़।
सांम ध्रंम नवसाह सौ, नड़ण अरां औनाड़॥

—हरिदास भाट, जोधपुर (सं० १७६३)

---

(३०) **महाराव राजा बुधसिंह**—ये बूँदी नरेश बड़े वीर और समर पटु थे। इनके पिता का नाम अनिरुद्ध सिंह था। कविता करने में भी निपुण थे। इनके लिखे 'नेहनिधि नामक एक ग्रंथ का पता है।

(३१) **लोकनाथ चौबे**—ये बूँदी के महाराव बुधसिंह के आश्रित थे। इन्होंने दो ग्रंथ बनाये थे—रस तरंग और हरिवंश चौरासी का भाष्य।

(३२) **हरिदास भाट**—ये जोधपुर के महाराजा अजीत सिंह के आश्रित थे। इन्होंने 'अजीत सिंह चरित्र' नाम का एक ग्रंथ बनाया था जिसमे जोधपुर के महाराजा जसवंत सिंह (प्रथम) और उनके पुत्र अजीत सिंह का इतिहास सं० १६९५ से १७६३ तक लिखा गया है।

(३३)

हँसि बोल्यो सुलतान, मान घण मूछ मरोड़ी।
रतनसेन कूं पकड़ि, चित्रगढ़ नाखहुं तोड़ी ॥
है कंपै चक च्यार, थरकि जलनिधि अकुलाणो ॥
सर गिइन्द्र खलभल्यो, पड़्यो दस दिसहि भगाणो।
फरमान देस देस हि फटै, सब दुनियाँ ऐसी सुनी।
मारि हैं रतन हिन्दुआन पति, साह पकड़ि हैं पद्मिनी ॥
—हेमरतन सूरि, मेवाड़ (सं० १७६५)

(३४)

आये निसि चोर चोरी करन हरन धन, देखे श्यामघन हाथ चाप सर लिए हैं।
जब जब आवें बान साध डरपावें ए तो, अति मँडरावें ए पै बली दूरि किए हैं ॥
भोर आय पूछे अजू साँवरो किसोर कौन, सुनि कर मौन रहे आँसु डारि दिए हैं।
दई सब लुटाइ जानी चौकी रामराई दई, लई उन्ह दिक्षा शिक्षा सुद्ध भए हैं।
—प्रियादास, जयपुर (सं० १७६६)

(३५)

हूल उठी हरम हिये में यह बात सुने, त्रास परी सारी बादशाही के अवास में।
खान सुलतान घने दांतन तिनूका धरैं, आतन पखेर-मीर मारे एक स्वास में ॥
भोज रतनेस से रुवाई करी राजा राव, बुद्ध बलवान वीरताई के अवास में।
अप्सरा आकास में तमासे लगी जा रुमैं सु, ता समै कटारी एक मारी आमखास में ॥
—भोजमिश्र, बूंदी (सं० १७७७)

---

(३३) हेमरतन—ये जैन यति थे। मेवाड़ के महाराणा अमर सिंह (दूसरे) के समय में इन्होंने 'पद्मिनी चौपई' नामक एक ग्रंथ की रचना की थी। इसी नाम का और करीब २ इसी तरह का एक ग्रंथ लालचंद नाम के किसी कवि का बनाया हुआ भी प्राप्त हुआ है। इन दोनों ग्रंथों की हस्त लिखित प्रतियां हमारे पास हैं।

(३४) प्रियादास—ये नाभादास के शिष्य थे। अपने गुरू के कहने से इन्होंने 'भक्तमाल की टीका' बनाई थी।

(३५) भोजमिश्र—ये बूंदी के रावराजा बुधसिंह जी के दरबारी कवि थे। इन्होंने 'मिश्र शृंगार' नामक एक ग्रंथ बनाया था।

(३६)

मन री तिसना नहु मिटै, प्रगट जोर पतवाण।
लाभ थकी बहु लोभ है, हैं तिसना हैराण ॥
है तिसना हैराण जाण नर विण नवि जाणै ।
पास जुड़या पंचास आस सौ उपरि आणै ॥
सौ जुड़ियां तब सहस धरै इच्छा लख धन री।
धापै किम धर्मसींह मिटै नहिं तृष्णा मन री॥
—धर्मवर्द्धन (सं० १७००-८१)

(३७)

कंचन कैरी किधौं जरिया बिधि नीलम को कनिका जर्यौ पावक ।
कै रवि को सुत जीव की गोद में मोद भर्यो दरसै रसनावक ॥
आनन-चंद चकोर से नैन लगै पुतरीन की कांति सुहावक ।
गूजरी ऊजरी ठोड़ी को बिन्दु गुलाब को फूल मिलिंद के शावक ॥
—महाराज सुजानसिंह, करौली (सं० १७६०)

(३८)

मंजुल कंज लिये कर में छबि बंजुल कुंजन में विकसी है।
खंजन के मद भंजन लोचन अंग अनंग कला सरसी है॥
आनँद कंदह नंदक नंदन चंदन बंदन बेंदि लसी है।
मंदह मंद मुकंद हँसे अरबिंद में कुंदकली दरसी है ॥
—हरिचरणदास, किशनगढ़ (जन्म सं० १७६६)

---

(३६) **धर्मवर्द्धन**—ये जैन साधु थे। बीकानेर, जोधपुर, जैसलमेर आदि राजस्थान के कई बड़े बड़े राज्यों मे समय समय पर रहे थे। इनके बनाये हुए २३ ग्रंथो का पता लग चुका है।

(३७) **महाराज सुजान सिंह**—ये करौली के राजघराने में पैदा हुये थे। इनके पिता का नाम विष्णुसिंह था। इन्होंने 'सुजान विलास' नाम का एक शृङ्गार रस प्रधान ग्रंथ बनाया।

(३८) **हरिचरणदास**—ये जाति के ब्राह्मण थे और किशन गढ़ के महाराजा बहादुरसिंह के आश्रय में रहते थे। इन्होंने केशव की 'कविप्रिया' तथा 'रसिकप्रिया' बिहारी की 'सतसई' और जसवंत सिंह के भाषा भूषण' की टीका लिखी थी। इनके रचे दो और ग्रंथो का पता लगा है—सभी प्रकाश और कवि वल्लभ।

(३९)

दिल्ली के बजार बीच जुत्थ उमरावन को, सूर समरत्थ जात रूप तहवरी को।
संग गड़दार फीळवान के न हाथ गज, आवत भयंकर भो समैं तिहिं घरी को ॥
साहस की सूरत संभार करवार विजै, सांवंत कुमार धीर जैतवार अरी को।
करी न अवेर सब देखतही तिहीं वेर, मार समसेर मुँह फेर दीनों अरी को ॥

—राय कवि, किशनगढ़ (सं० १७८०)

(४०)

श्रीगुरू पद बंदन करूँ, प्रथमहि करूँ उछाह।
दंपति गुरू तिहुँ की कृपा, करौ सफल मो चाह ॥
बार बार बंदन करौं, श्रीवृषभानु कुँवारि ।
जय जय श्रीगोपाल जू, कीजै कृपा मुरारि ॥
बंदौं नारद व्यास शुक, स्वामी श्रीधर संग।
भक्ति कृपा बंदौं सुखद, फलै मनोरथ रंग ॥

—व्रजदासी, किशनगढ़ (सं० १७८०)

---

(३९) **राय कवि**—ये किशनगढ़ के प्रसिद्ध कवि नागरीदास के आश्रित थे।

(४०) **व्रजदासी**—ये किशनगढ़ के महाराजा राजसिंह की रानी थी। इनका असली नाम बांकावत जी था। इन्होंने श्रीमद्भागवत का हिन्दी पद्यानुवाद किया था।

(४१)

जब लगि सूर सुमेर चंद्रमा शंकर उड़गन।
जब लगि पवन प्रताप, जगत मधि तेज अगिनि तन
जब लगि सात समुद्र, संयुगत धरा बिराजैं।
जब लगि सुर तैंतीस, कोटि आनंद समाजैं॥
तब लग्गि यहौ भाषा सुकृत सहस नाम जग में रहौ।
अगजीत कहै इनको पढ़त सुनत सकल सुख को लहौ॥

—महाराजा अजीतसिंह, जोधपुर (सं० १७३७-८१)

(४२)

धीरे झूलो री राधा प्यारी जी।
नवल रंगीली सबै झुलावत गावत सखियाँ सारी जी॥
फरहरात अंचल चल चंचल लाज न जात सँभारी जी।
कुंजन ओर दुरे लखि देखत प्रीतम रसिक बिहारी जी॥

—रसिक बिहारी, किशनगढ़ (सं० १७८७)

---

(४१) महाराजा अजीतसिंह—ये जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह (प्रथम) के पुत्र थे। इन्होंने ब्राह्मणों और चारणों को क़रीब ३५ गाँव दान में दिये थे। इनके प्रोत्साहन से संस्कृत, हिंदी और डिंगल के बहुत से ग्रंथ इनके समय में लिखे गये थे। ये स्वयं भी उच्चकोटि के कवि थे। इन्होंने दो ग्रंथ बनाये थे—गुणसागर और भाव विरही। इनके सिवा मिश्र बंधु विनोद में इनके दो-चार और ग्रंथों के नाम दिये हुए हैं। मालूम नहीं, ये नाम कहाँ तक ठीक है।

(४२) रसिक बिहारी (बनोठनी जी)—ये नागरीदास की दासी थीं। कोई कोई कहते हैं कि ये उनकी उपपत्नी थी।

(४३)

मोर मुकुट बनमाल, माल तुलसी नव मंजर ।
रुचि कुंडळ कल रतन, तिलक मंजुल पीतांबर ॥
मणि कङ्कण अमन्द, अमूल्य पद हाटक नूपुर ।
नवलासी नवरङ्ग, संग भुज बंसी सुन्दर ॥
बप रूप ओप नवघन बरण, हरण पाप अताप हरि ।
गुण मान दान चाहे सुग्रहि, कवि सुग्यान और ध्यान करि ॥
—वीरभांण, जोधपुर (सं० १७६०)

(४४)

ए अंखियाँ प्यारे जुलुम करैं ।
यह महरेटी लाज लपेटी झुक झुक घूमै भूम परैं ।
नगधर प्यारे होउ न न्यारे हाहा तो सौं कोटि टरैं ।
राजसिंह को स्वामी श्रीनगधर बिन देखे दिन कठिन परैं ॥
— महाराजा राजसिंह, किशनगढ़ (सं० १७३१-१८०५)

(४५)

एक ओर देखियत बड़े बड़े एक ओर, हैं अमीर उमराव बड़े परमान के ।
लाखन के पटा आए अरि को उड़ावें जंग, अचल पहार से अपार अभिमान के ॥
कामदार फौजदार बकसी अनेक और, पंडित बिबेकी बैद जोइसी सुजान के ।
राजन के राजा महाराजा लखपति जू को, सभा जैसी देखो तैसो काहू नहिं आन के ॥
—कुँवर कुशल, जोधपुर (सं० १७९६)

---

(४३) **वीरभांण**—ये रतनू शाखा के चारण जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के आश्रित थे । इन्होंने 'राजरूपक' नाम का एक ग्रन्थ बनाया था ।

(४४) **महाराजा राजसिंह**—ये किशनगढ़ के राजा थे । इन्होंने कविता करना वृन्द कवि से सीखा था । इनके ग्रन्थों के नाम ये हैं—राज प्रकाश, बाहुबिलास, रसपाय नायक ।

(४५) **कुंवर कुशल**—ये जोधपुर के रहने वाले जैन कवि थे । इन्होंने 'लखपति यश सिन्धु' नाम का एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बनाया था ।

(४६)

राम रट्यौ गलतान भयो ॥

सार को सार सकल तें ऊँचो सो या तन मे साधि लयो ॥१॥
आदि अनादि किता जन चीन्हो ताको सांसो दूरि भयो ॥२॥
वेद पुराण सकल में बोलै भक्ति मुक्ति विश्राम लयो ॥३॥
जैमलदास लग्यौ चित निश्चय दीपक ज्यूँ परकास भयो ॥४॥

—जैमलदास, बीकानेर (सं० १७६०–१८१०)

(४७)

मान महिपाल तें मुरत्तब सवायो देत, सोधि देत साथ बड़ी चमू चतुरङ्ग को ।
हाथी घोरे अम्बर जवाहर असंख्य देत, आयुध विजय भाखे पूरब प्रसङ्ग को ॥
कहै व्रजलाल महाराज माधवेस जाके, पूजै भुजदंड जस देत उतमङ्ग को ।
बार बार वेग में दिल्लीपति सूं बोल कहै, लाज पातसाही की निसान पचरङ्ग को ॥

—व्रजलाल, जयपुर (सं० १८१०)

(४८)

इक आवत इक जात है, चलो जात टकसाल ।
चौरासी का सन्तदास, मिटै नहीं जंजाल ॥
तन सराय मन पंथिया, बासो बसिया आय ।
एक रैण की गुदर है, फजर कूंच कर जाय ॥

—सन्तदास, मेवाड़ (सं० १८०६)

---

(४६) **जैमलदास**—ये बीकानेर राज्य के कोड़मदेसर नामक गाँव के प्रसिद्ध रामानंदी वैष्णव महन्त श्रीचरणदासजी महाराज के शिष्य थे ।

(४७) **व्रजलाल**—ये जयपुर के महाराजा माधवसिंह जी (प्रथम) के आश्रित थे ।

(४८) **संतदास**—ये शाहपुरे के रामस्नेहियों के मूलाचार्य रामचरणदास जी के दादा गुरु थे ।

(४९)

अठार सै त्रिये, ग्रंथ पूरब आरंभे।
चिरत गजण चित्रीया, सुणे जण तेण अचंभे॥
वरषे दाहोतरै, रित बरषा धण वदल।
तेरसि पुष्या अरक, मास भाद्रपद कृष्ण दल॥
मझ नयर रिणी सिध जोग मझि, वर्द्ध कृत चहुँवे वले।
सिरताज राज ग्रंथा सिरे, हूवौ कलस महि मन्डले॥

—गाडण गोपीनाथ, बीकानेर (सं० १८१०)

(५०)

अंबापुर गिर उदै, कीत उजळ किरणालं।
तप प्रताप दुन तेज, भाग भळहळ दुतभालं॥
अधम अलुक होय अंध, मित्र चकवाक प्रमोद्त।
अबुध तिमर घट ओज, असह उड़गण आक्रंदत॥
जयसाह बीया जग जय जपत, बन कंज कविद बिकासिया।
सुभीयांण मुकट हिंदुवाण सिर, पातल भाण प्रकासिया॥

—हुक्मीचन्द, जयपुर (सं०१८२०)

---

(४९) गोपीनाथ—ये बीकानेर के महाराजा गजसिंह के आश्रित थे। इन्होंने 'ग्रंथराज' नामक एक ग्रन्थ बनाया था, जिस पर प्रसन्न होकर उक्त महाराज ने इन्हे लाख पसाव दिया था।

(५०) हुक्मीचंद—ये खिड़िया गोत्र के चारण जयपुर राज्य के भड़ेड़िया गाँव के रहने वाले थे। जयपुर के महाराजा प्रतापसिंह जी उपनाम ब्रजनिधि के दरबार मे इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। डिंगल भाषा मे लिखे हुए इनके गीतों के कारण इनकी राजस्थान में बहुत प्रसिद्धि है। यह छप्पय इन्होंने महाराजा प्रतापसिंह जी की प्रशंसा मे लिखा है।

(५१)

अकुलाई त्रिया चढ़ि है सो अटा पर स्याम घटा दरसै दरसै ।
लागि रह्यो कर अम्बर धार सो नीर भरै सरसै सरसै ॥
भर से नद पूर सुताल भरै हिय हेत हतो हरसै हरसै ।
कल्यान कहै घनश्याम को देखि कै याद करै बरसै बरसै ॥

—कल्याण कवि, जैसलमेर (सं० १८२५)

(५२)

नर काहे को सोचि करै विकरै अति आतुर होय वृथा तरसै ।
भजु नन्द को लाल गुपाल दयाल कृपाल सदा सुख में सरसै ॥
दुख भंजन रंजन संजन ही चित ध्यान धरै हिय में सरसै ।
कवि नाथ कहै बसु बद्दल ज्यौं प्रभु याद करै बरसै बरसै ॥

—श्रीनाथ शर्म्मा, जैसलमेर (सं० १८२६)

(५३)

लोने लोने लोल लोल ललचोहैं नैनन सौं,
चौंकि चौंकि कुंजन के द्वार द्वार त्यों निहारि ।
गहरे उसास ले कै भले जू भले जू कहि,
कान्ह तुम्हें टेरि टेरि हेरत ही एक नारि ॥
आज लौं न देखी ऐसी कौन है कहाँ की है जू,
हाथ संवारी मनो मनमथ सांचे ढारि ।
नन्द के कुंवर रसरासि तुम्हें वाही की सौं,
सांची कहो रावरी ये कब की है लगवारि ॥

—रसरासि, जयपुर (सं० १८२७)

---

(५१) कल्याण कवि—ये जैसलमेर के महारावल मूलराज जी के सभासद और कृपापात्र थे ।

(५२) श्रीनाथ शर्म्मा—ये भी जैसलमेर के महारावल मूलराज जी के सभासद थे संस्कृत हिन्दी और डिंगल के प्रौढ़ विद्वान तथा उच्चकोटि के कवि थे । इनके ग्रन्थों के । नाम ये हैं:-मूलराज काव्य, अन्योक्ति मंजूषा, लोलिम्रराज भाषा और मूलविलास ।

(५३) रसरासि—इनका पूरा नाम रामनारायण था । ये जयपुर के महाराज प्रतापसिंह जी के दीवान जीवराज जी के यहाँ नौकर थे । अच्छे कवि थे ।

(५४)

इश्क अखाड़ा अजब है, गजब चोट है यार ।
तन को तिनके सम गिनैं, सोही पावै पार ॥
सिर उतार लोहू छिरक, उसही की कर कीच ।
आसिक बपरे परि रहे, उसी कीच के बीच ॥

—महाराणा अरिसिंह, मेवाड़ (सं० १८२५)

(५५)

सतगुरु के परताप तैं, नरिये नाम पियाह ।
प्यासा प्राण पिलाइया, पीवत ही जीयाह ॥
और सकल कूँ छाँड़ि करि, परस्या आतम राम ।
नरिया साँसा को नहीं, जाय मिल्या निज धाम ॥

—नारायण दास, बीकानेर (सं० १८०६-५३)

(५६)

छाकी प्रेम छाकन के नेम में छबीली छैल,
छैल की बँसुरिया के छलन में छली गई ।
गहरे गुलाबन के गहरे गरूर गरे,
गोरी की सुगन्ध गैल गोकुल को गली गई ॥
दर में दरीनहू में दीपति दिवारी दरी,
दंत की दमक दुति दामिनी दली गई ।
चौसर चमेली चारु चंचल चकोरन तैं,
चाँदनी में चन्द्रमुखी चौंकत चली गई ॥

—मुरलीधर भट्ट, अलवर, (सं० १८३७)

---

(५४) महाराणा अरिसिंह—ये मेवाड़ के महाराणा थे । किशनगढ़ के प्रसिद्ध कवि नागरीदास के इश्क चमन के उत्तर मे इन्होंने रसिक चमन बनाया था । सहृदय कवि और कवियों के आश्रय दाता थे ।

(५५) नारायणदास—ये रामस्नेही साधु हरिरामदासजी के शिष्य थे ।

(५६) मुरलीधर भट्ट—ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे । अलवर के राव राजा बख्तावर सिंह जी के आश्रित कवि थे ।

(५७)

जलपति ज्यौं जलेश दलपति महासेन,
बलपति बालि जैसे अहिपति शेष है।
रसापति इन्द्र जैसे दिगपति दिग्गज है,
सिद्धपति सिव जैसे गणपति गणेश है।
सुकवि खुमान द्वन्द्व-युद्ध पति भीमसेन,
पैजपति अंगद उदार अवधेश है।
विज्ञान पति गौ ऋषि ज्यौं ध्यान पति ध्रुव जैसे,
दानपति जद्दव महीप मदनेश है ॥

—खुमाणसिंह, करौली (सं० १८५०)

(५८)

सोहत अंग अनंग भरी न करी रस रंग तरंगन पेलें।
बाल लसै ढिंग लाल की सेज उरोज को तेज उरोज न झेलें ॥
फैलि चली रति में अलकें उपमा गणईश कपोलन खेलें।
चौमुख चन्द्र की चौंतरि झारि मनौं मणि को लखि नागिन खेलें ॥

—गणेश कवि, करौली (सं० १८४५)

---

(५७) खुमाण सिंह— ये जाति के भाट थे और करौली नरेश मदनपालजी के आश्रित थे। इनकी कविता से खुश होकर उक्त महाराज ने इन्हें उमेदपुरा गांव और एक हाथी पुरस्कार में दिया था।

(५८) गणेश कवि— ये चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनके रचे ग्रन्थों के नाम ये हैं:— रसचन्द्रोदय, कृष्ण भक्ति चन्द्रिका नाटक, सभा सूर्य, नग्न शतक और फागुन माहात्म्य।

(५९)

दुर्लभ या नर देह अमोलक पाइ अजान अकारथ खोवे ।
सो मतिहीन विवेक बिना नर साध मतंगहिं ईन्धन ढोवै ।।
कंचन भाजन धूरि भरै सठ मूढ़ सुधारस सौं पग धोवै ।
बोहित काग उड़ावन कारन डारि महा मणि मूरख खोवै ।।

—उत्तमचन्द भंडारी, जोधपुर (सं० १८६०)

(६०)

जलसुत - प्रीतम जानि तास सम परम प्रकासा ।
अहिरिपु स्वामी मध्य कियौ जिनि निश्चल बासा ॥
गिरिजापति ता तिलक तास सम सीतल जांनूं ।
हंस भषन तिस पिता तेम गंभीर सु मांनूं ।।
उदधि तनय बाहन सुनौं ता समतुल्य बखानिये ।
यौं सुन्दरदास सदगुर गुण अकथ तास पार नहिं जानिये ।।

—चत्रदास, फतहपुर (सं० १८५७)

---

(५९) उत्तमचन्द भंडारी—ये जोधपुर के महाराजा मानसिंह के समकालीन थे । इनके ग्रन्थों के नाम ये है—नाथ चन्द्रिका, अलङ्कार आशय, तारक तत्व, रत्न हम्मीर की बात और नाथ पंथियों की महिमा ।

(६०) चत्रदास—ये दादू पंथ के प्रसिद्ध महात्मा सुंदरदास जी की शिष्य-परंपरा में संतोषदास जी के शिष्य थे । इन्होंने राघवदास कृत 'भक्तमाल' की टीका लिखी थी ।

(६१)

कारज आछो औ बुरो, कीजै बहुत बिचार ।
कियै जलद नाहीं बनै, रहत हिये में हार ॥
पर नारी सब मातु सम, पर धन धूलि समान ।
सबै जीव निज जीव सम, देखै सो इगबान ॥
इक तरु सूखे की अगनि, जारत सब बनराय ।
त्योंही पूत कपूत तैं, वंश समूल नसाय ॥
—उम्मेदराम बारहट, अलवर (सं० १८७०)

(६२)

घूमत घटा से घनघोर से घुमड़ घोख,
उमड़त आए कमठान तैं अधीर से ।
चपट चपेट चरखीन की चलाचल तैं,
धूरि धूम धूसत धकात बलि बीर से ।
मसत मतङ्ग रामसिंह महिपाल जू के,
डाकिनि डराए मद छाकिनि छकीर से ।
साजे साँटमारन अखारन के जैतवार,
आरन के अचल पहारन के पीर से ॥
—कविराजा चंडीदान, बूंदी (सं० १८४८-६२)

---

(६१) **उम्मेदराम**—ये पालावत शाखा के चारण हूणत्या गाँव में पैदा हुए थे और अलवर के रावराजा बख्तावर सिंह जी के आश्रित थे । इनके पिता का नाम सामंत जी और पितामह का घासीराम जी था । इन्होंने रामाश्वमेध, जमक शतक आदि १४ ग्रंथ बनाये और केशव कृत कवि प्रिया तथा रसिक प्रिया की टीका लिखी थी ।

(६२) **कविराजा चंडीदान**—ये मिश्रण शाखा के चारण थे । इन्होंने 'बिरूद प्रकाश' नाम का एक ग्रंथ लिखा था जिस पर खुश होकर बूँदी के महाराव राजा विष्णु सिंह जी ने इन्हे होसूदा नामक गाँव, लाख पसाव तथा रहने को एक मकान दिया था। बिरूद प्रकाश के सिवा इनके ग्रंथों के नाम ये है —सारसागर, बलविग्रह, वंशाभरण और तीजतरंग ।

(६३)

बसिया छै जी नन्दकिसोर ।
मारे मन बसिया नन्दकिसोर ॥ टेक ॥
बिन देखे कल नांय परत है, नांय सुहावै कछु और ।
दरदवन्त सफरी ज्यूँ तलफत, सूझत और न छोर ॥१॥
दिन नहिं चैन रैण नहिं निद्रा, कल न परत निस भोर ।
भीम राण छुन छुन तन छीजत, बेग मिलो जी दौर ॥२॥
—महाराणा भीमसिंह, मेवाड़ (सं० १८३४-८५)

(६४)

फागुन नैन नचावत नाचत डोलत लार न छोरत मोरियाँ ।
बीन बजाय अबीर उड़ावत गावत आवत गोरियाँ होरियाँ ॥
फाग खिलारि नये भये मोहन नाहिँ करौ अब जोबन जोरियाँ ।
रोरियाँ मींड़ि कै रंग में बोरियाँ कान्ह पिछानी मैं चोरियाँ तोरियाँ ॥
—अमरसिंह, मेवाड़ (सं० १८८०)

(६५)

थारो जी बृन्दावन राधे राज पुष्पन छायो ॥ टेक ॥
निर्मल नीर निकट बहै यमुना दिन दिन रंग सवायो ॥ १ ॥
खुल रही लटा लिपट रही रजनी मुनि जन ध्यान लगायो ॥२॥
दोउ कर जोड़्याँ कहै बख्तावर हरष निरख गुण गायो ॥ ३ ॥
—बख्तावर (सं० १८६०)

---

(६३) **महाराणा भीमसिंह**—ये मेवाड़ के महाराणा थे। बड़े वीर, विद्वान और काव्य-निपुण थे।

(६४) **अमरसिंह**—ये महाराणा भीमसिंह जी के सब से बड़े कुँवर थे। अपने पिता की विद्यमानता ही में स्वर्गवासी हो गये थे।

(६५) **बख्तावर**—ये राजस्थान में एक प्रसिद्ध भक्त कवि हुए हैं। इनका इतिवृत्त ज्ञात नहीं है। कुछ लोगों ने इन्हे और अलवर के महाराजा बख्तावरसिंह जी को एक मान रखा है, जो भ्रमपूर्ण है।

(६६)

ब्रज स्याम बिहाय बिदेस बसै हरि देख कृपा सुध क्यों न लई ।
निस-बासर सोच रहै नित ही दुख ताप मिटै विध कौन दई ॥
घनश्याम बिना घन देखि घटा तरुनी विरहानल ताप तई ।
छिरक्यौ न गयौ उनको अंगना वर्षा अध बीच हू सूख गई ॥

—रावल मूलराज, जैसलमेर (सं० १८७६)

(६७)

हमारो तेरी नांय बने गिरधारी ॥ टेक ॥
तुम नन्द जी के छैल छबीले मैं बृषभानु दुलारी ।
मैं जल जमुना भरण जात ही मग में खड़े बनवारी ॥१॥
चीर हमारो देवो रे मोहन सास सुणै दे गारी ।
तुमरो चीर जभी हम दे'गे जल से हो जावो न्यारी ॥२॥
जल से न्यारी किस विधि होवे तुम पुरुष हम नारी ।
चन्द्रसखी भजु बालकृष्ण छबि तुम जीते हम हारी ॥३॥

—चन्द्रसखी, (सं० १८८०)

(६८)

आदर करै अपार, तो भोजन भाजो भली ।
आणै मन अहँकार, कड़वा घेवर किसनिया ॥
सोनो घड़ै सुनार, कंदोई खाजा करै ।
भोगे भोगणहार, करम प्रमाणे किसनिया ॥

—किसनिया, (सं० १८९०)

---

(६६) रावल मूलराज—ये जैसलमेर के राजा थे। ब्रजभाषा में बड़ सरस कविता करते थे।

(६७) चंद्रसखी—इनके जन्म, बंश, माता, पिता आदि का विवरण अंधकार में है। मीराबाई के पदों को तरह इनके पद भी राजस्थान मे घर-घर में गाये जाते हैं।

(६८) किसनिया—किसी चारण ने अपने नौकर किसनिया को संबोधित कर थोड़े से नीति विषयक सोरठे कहे हैं। इन सोरठों का राजस्थान में बहुत प्रचार है।

(६९)

दुनियाँ घड़िया देवता, परहर ताकी पूज ।
अणघड़ देव अराधिये, मेटो मन की दूज ॥
मनसा वाचा कर्मणा, रटौ रैण दिन राम ।
नरक कुंड में ना परौ, पावो मुक्ति मुकाम ॥
—परशराम मारवाड़ (सं० १८२४-९६)

(७०)

चतुरभुज झूलत श्याम हिंडोरे ।
कंचन खम्भ लगे मणि मानिक रेसम की रंग डोरें ॥
उमड़ि घुमड़ि घन बरसत चहुँ दिसि नदियाँ लेत हिलोरें ।
हरि हरि भूमि लता लपटाई बोलत कोकिल मोरें ॥
बाजत बीन पखावज बंसी गान होत चहुं ओरें ।
जामसुता छवि निरख अनोखी वारूँ काम किरोरें ॥
—प्रतापबाला, जोधपुर (सं० १८९०)

(७१)

सधर रतन इल सोहियो, कमधाँ पत वीकाण ।
तै पाट प्रतपै रतन सा, भूपतियां वंस भाण ॥
ऐवासां नरपत अरस, रहत सलूणै रंग ।
त्रेता सतजुग ने कहै, विध किण आ वीरंग ॥
—वीठू भोमा, बीकानेर (सं० १८९०)

---

(६९) **परशराम**—ये रामस्नेहियो की विरक्त शाखा के प्रवर्त्तक थे। इनकी अनुभव वाणी की संख्या १५००० के लगभग बताई जाती है ।

(७०) **प्रतापबाला**—ये जोधपुर के महाराजा तख्तसिंह जी की रानी थी ।

(७१) **वीठू भोमा**—ये जाति के चारण थे । बीकानेर के महाराजा रतनसिंह जी के आश्रित थे ।

(७२)

उनमत्त मतंग लता द्रुम तोरैं, निशंक ह्वै दौरहिं स्यार ससा ।
बिनु चिन्तहु चीते चरित्र करैं रु, बघेरे बड़प्पन लाय नसा ॥
मृग ह्वै गति मन्द तहाँ बिहरैं, मिलि खोदत सूकर वृन्द रसा ।
वनराज विहीन बड़े बन की, जु भई कछु और की और दसा ॥

—भारतीदान, जोधपुर (सं० १९००)

(७३)

है प्रियवादित शील वहै नित बोलत सत्य सु अमृत बानी ।
एकहि सत्य उचारि निखालस ना करि डारित मान की हानी ॥
जो वह मिष्ट कहै सब ही दिन औ गुन की तिहिं होय बढ़ानी ।
है कहनो द्वय साथ गुमान जु मानहु दूध में मिश्री मिलानी ॥

—गुमानसिंह, मेवाड़ (जन्म संवत १८९७)

(७४)

पूजत चिरायु चहूं चन्द्र गोल वासिन के, धर्म अभिलापन के सिर पर कर है ।
रूप रण रणक समान त्रप भापा पुरी, पत के प्रमाणदान धरि भूमिधर है ॥
पातक दरद धुपे दरसन ही तें पद, परसत उच्च फल बाहु बल वर है ।
करमधुज वंस छत्रधारी जसवन्त चित्त, हरिपद कमल कुमारी की लहर है ॥

—चंडीदान, कोटा (मृत्यु संवत १९३७)

---

(७२) **भारतीदान**—ये जोधपुर के प्रसिद्ध कवि मुरारिदान के पिता थे ।

(७३) **गुमानसिंह**—ये मेवाड़ राज्य के बाठरडा गाँव के स्वामी दलेलसिंह जी के छोटे भाई थे । बहुत अच्छे कवि और योगसिद्ध सज्जन थे । इनकी कविता का प्रधान विषय आध्यात्मवाद है ।

(७४) **चंडीदान**—ये जाति के चारण थे और कोटे के महाराव राजा रामसिंह जी के आश्रित थे । इनको कविराज की उपाधि थी । देवी की स्तुति में एक-आध कवित्त हमेशा बनाने का इनका नियम था ।

(७५)

जमुना तट रंग की कीच बही ॥ टेक ॥
प्यार जी के प्रेम लुभानी आनंद रंग सुरंग चही ॥ १ ॥
फूलन हार-गुथे सब सजनी युगल मदन-आनंद लही ॥ २ ॥
तन मन सुन्दरि भरमति बिह्वल विष्णु कुंवरि है लेत सही ॥ ३ ॥

—विष्णु प्रसाद कुंवरि, जोधपुर (जन्म सं० १६०३)

(७६)

होरी खेल रहै सिवसंकरजी चहुँ रङ्ग बरसै माइ ।
भेरी मृदंग बजै डमरू धुनि झनन झनन झाँझ झनकाइ ।
चंग उपंग खंजरी बेणु नूपुर की धुनि छाइ ।
रङ्ग रङ्ग कै माट भरे बहु भर पिचकारी चलाइ ।
उड़त गुलाल लाल भये अंबर सोभा बरनी न जाइ ॥
गिरिजा संग सखियन मतवारी घेर लियो त्रिपुराउ ।
मुख मींड़े गागर सिर ढोरे हँसि हँसि गारि सुनाइ ॥
बहुत बेर में भंग उतरि गई छुन छुन लेत जंभाइ ।
पुरुषोतम मन जाणि गोरज्याँ नीके घोट पिलाइ ॥

—पुरुषोत्तम, मेवाड़ (सं० १६०५)

---

(७५) **विष्णु प्रसाद कुंवरि**—ये रीवां के प्रसिद्ध कवि महाराजा रघुराज सिंह की पुत्री और जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह जी (दूसरे) के भाई किशोरसिंह जी की पत्नी थी । इन्होंने तीन ग्रंथ बनाये थे—अवध विलास, कृष्ण विलास और राधा रास विलास ।

(७६) **पुरुषोतम**—ये जाति के ब्राह्मण थे ।

(७७)

लखी कति कामिनि श्यामल चीर, सधूम कि अग्नि शिखा समसीर।
भुजंगम वेष्टित चंदन भ्रांति, किधौं घन मध्य दिवाकर कांति।
कसौटिय में कस हेम कि कीन, लसै मनु मंगल अंबर लीन।
मनो जमुना जल में जल जात, किधौं तड़िता घनमें चमकात।

—फतहकरण, मेवाड़ (सं० १६०६-७८)

(७८)

कंपित गात कहा उतपात न जानि न जात रहौं सचु पाई।
रोम उठै जल अंग छुटै न घटै चख की छिन चंचलताई ॥
हौं अस द्वै दिन तैं दिक री सखि री लखि री उरमाँहि ऊँचाई।
दीजिय धूनी मँगाय दया करि हौं तो गई सुनिये नजराई ॥

—ज्ञारसी राम चौबे, बूंदी (जन्म सं० १६१०)

(७९)

हँसि खेलन की चित चाह नहीं परवाह न राग रू रंग की है।
तिय नेह उमंगन अंगन में नहीं संचय द्रव्य प्रसंग की है॥
कवि ईश्वर मान हू को नहिं ध्यान पसन्द न वीरता जंग की है।
कछु और न साध रही मन में इक चाह अबै सतसंग की है॥

—ईश्वर सिंह, अलवर (जन्म संवत १९१३)

---

(७७) **फतह करण**—ये जाति के चारण थे। मारवाड़ राज्य के ऊ नामक गांव के रहने वाले थे, जहां से महाराणा सज्जनसिंह जी के समय में मेवाड़ में चले आये थे। इनके लिखे पत्र प्रभाकर नामक एक ग्रंथ का चारण कवियों में बहुत प्रचार है।

(७८) **ज्ञारसीराम**—ये बूंदी के रावराजा रघुबीरसिंह जी के कृपापात्र थे। राजकीय चित्रशाला के अध्यक्ष थे। इनके ग्रंथ ये हैं—वंश प्रदीप, सर्व-समुच्चय, ललित लहरी और रघुबीर सुयश प्रकाश।

(७९) **ईश्वर सिंह**—ये अलवर के प्रसिद्ध कवि बिड़दसिंह उपनाम माधव कवि के लघु भ्राता थे।

(८०)

अवधू नश्वर है यह काया || टेक ||
हाड़ माँस का बणा पींजरा, ता पै रंग चढ़ाया ।
विनशत बार नेक नहीं लागै, तू जिस पर गरवाया || १ ||
इस पिंजरे के दस दरवाजे, सुन्दर सुघड़ बनाया ।
भीतर मल भंडार भरा है, देखत मन मचलाया || २ ||
लगा उबटने मल मल न्हाया, सुन्दर वस्त्र सजाया ।
दर्पण देख मोद में भरिया, बहुत घणा इतराया || ३ ||
क्षण में रूप बिगड़ जाय सारा, वृथा फिरै भरमाया ।
'अमृत' रूप लखे बिन भोले ! शान्ति कबहु नहिं पाया || ४ ||
—अमृतनाथ, जयपुर (सं० १६०६—७३)

(८१)

मो सम कौन अधम जग भाई || टेक ||
सगरी उमर विषयन में खोई, हरि की सुधि बिसराई ।
मन भायो सोई तो कीनो, जग में भई हँसाई || १ ||
कुल की कान वेद मर्य्यादा, यह सब धोय बहाई ।
सब ही जानूँ सब मुख भाखूँ, चलती नांव चलाई || २ ||
जिनके संग ते करै विसासी, साँप होय डस जाई ।
सब की बैठ के करूं निन्दा, अपनी लेत छिपाई || ३ ||
काम-क्रोध मद लोभ मोह के, घेरे हुए सिपाई ।
इनते मोहिं छुड़ाओ स्वामी, 'गिरिराज है शरणाई || ४ ||
—गिरिराज कुंवरि, भरतपुर (सं० १६२०-८०)

---

(८०) **अमृतनाथ**—इनका जन्म पिलाणी में चैनराम नामक एक जाट के घर में हुआ था। माता-पिता, घर-बार आदि को छोड़ कर नाथ संप्रदाय के गुरू चंपानाथ के शिष्य हो गये थे। इनका देहान्त फतहपुर में हुआ था।

(८१) **गिरिराज कुंवरि**—ये भरतपुर की राजमाता थी। हिन्दी गद्य और पद्य दोनों लिखती थीं।

(८२)

निकट नित रहन चहत मतवारे।
मधु ऋतु में मधुकर मन मोहित पंख प्रसून पसारे।
चल चल त्रिविध समीर चहूँ दिस ताप त्रिविध कूं टारे ॥ १ ॥
बिपिन बहार अपार बतावें किंसुक सुभ रतनारे।
चैत्र चन्द्रिका चाह चकोरन हिय यों हरष हमारे ॥ २ ॥
पाय प्रभात गुलाब कलिन के कान परत चटकारे।
बारि सकुन बिथुरै पत्रन पर बारिज छवि बिस्तारे ॥ ३ ॥
कोकिल डाल रसाल कुहुकै पुहुप पराग पसारे।
रसिक सनेही यह ऋतुराजा तुम राजन उजियारे ॥ ४ ॥
—महाराणा सज्जन सिंह, मेवाड़ (सं० १६१६--४१)

(८३)

दस दस नारिन कै पृथक् पृथक् वृन्द,
एकै संग कूदि पर्यो करि किलकारी कौं।
एक हाथ अबीर गुलालन की रोका पोट,
एक हाथ दृगन बचावो पिचकारी कौं ॥
अब 'घनश्याम' आयो होरी को खिलारी ताहिं
ऐंचि लाओ अंक भरि प्यारी जू अगारी कौं।
लहँगा पहिराओ चोखी चूनरी ओढ़ाओ बेंदि,
काजर लगाओ ह्याँ नचाओ गिरधारी कौं ॥
—घनश्याम कवि, नाथद्वारा (सं० १९१६—६८)

---

(८२) **महाराणा सज्जनसिंह**—ये मेवाड़ के महाराणा थे। बड़े काव्य-मर्मज्ञ और कला-प्रेमी थे। काव्य रचना में भी निपुण थे। कवियों, विद्वानों आदि का बड़ा सम्मान करते थे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को इन्होंने १०००) रु० और सिरोपाव आदि देकर सम्मानित किया था। हिन्दी की उन्नति के पक्षपाती थे।

(८३) **घनश्याम कवि**—ये कांकडोली में पैदा हुए थे, जहाँ से जीविकार्थ नाथद्वारे में चले आये थे। इनकी कविता से खुश होकर महाराणा फतहसिंह जी ने इन्हें ५००) रु० पुरस्कार में दिया था।

(८४)

लखि कै उदास निज दूत जमराज कहै,
बैठे क्यों असेस एक ठौर मान मारे सों।
जाओ क्यों न विश्व पातकी कौं क्यों न लाओ यहां,
चाहत है काम भयो, बंधक है सारे सों॥
माथुर कहत सुनि वचन कृतान्त मुख,
बोले कर जोर सबै चित्त आन खारे सों।
गम ना तुम्हें तो कछू दम ना करत नित्य,
हम ना कहेंगे जमुना के न्हान वारे सों।

—जगन्नाथ चौबे, बूँदी (जन्म सं० १९२४)

(८५)

दीन कर ध्यान कर सबै सनमान कर,
औ धन को हीन कर पंथ भव तरिगो।
मँगन कौं साथ सर्व करि कै अनाथ अति,
भारत में राखे जस वात जस वरिगो॥
अंग को अनंग रूपवान गुन खान भान,
कवि कुल भंग को सरोज फुल्ल जरिगो।
राघव भनत मेरे जान जसवंत जात,
दीन जन पंछिन को अखैबट परिगो॥

—राघोदान, सिरोही (सं १९५०)

---

(८४) **जगन्नाथ चौबे**—ये झारसीरामजी (नं० ७८) के पुत्र थे। इनके ग्रंथों के नाम ये हैं—अलंकार माला, रामायण सार, माथुर कुल कल्पद्रुम, शिक्षा दर्पण और जमुना पच्चीसी।

(८५) **राघोदान**—ये दुरसा जी की वंश परंपरा में सिरोही के दरबारी कवि थे। इनको कविराज की उपाधि थी।

(८६)

टक्का बिन पति को न मानत है तिय पति,
टक्का बिन नातो को ! भतीजा कौन कक्का को ।
टक्का बिन सास अरु ससुर बुले हैं नाहिं,
टक्का बिन साले बंधु कुटुम्ब न सक्का को ।।
भूप कवि टक्का बिन सज्जन तुरावे नेह,
टक्का बिन रूप कुल खावत है धक्का को ।
टक्का बिन जक्का को रू तक्का को अनादर है,
हक्का को बे हक्का होत टक्का बिन टक्का को ।।

—भोपालदान, धानणी (सं० १६५०)

(८७)

गोबिन्द के पास आओ मन में विचार लाओ,
पाप कट जाय जाय दरसन पाये तैं ।
ध्यान लाओ मन में श्रवण में उसे रमाओ,
मन मिल जाय वाहि गुन गुन गाये तैं ।।
गुरू के भजन प्यारे गोविन्द सुभाव ही से,
दिल हू में प्रेम बढ़ै वाको छबि छाये तैं ।
चरन में सीस नाओ भगती में रम जाओ,
कलि हू के पार जाओ भक्ति उपजाये तैं ।

—रणछोड़ कुँवरि, जोधपुर (ज० सं० १६४६)

---

(८६) भोपाल दान—ये जाति के चारण थे ।

(८७) रणछोड़ कुंवरि—ये जोधपुर के महाराजा तख्तसिंह जी की रानी थी ।

(८८)

कर कै प्रकास खास बुद्धि के बिलास ही तैं,
टार्‌यो भ्रम रूप तम दीनो ज्ञान दान है ।
भूल प्राचीनन कृत निशा निरमूल कीनी,
चारन कमल फूल फूलत प्रमान है ॥
अलंकार जेते तेते नाम में प्रकासे सबै,
आन ग्रंथ तैं निदान विमल विधान है ।
भान के समान कविराजा है मुरारिदान,
कवि आन साहित्य के जुगनू समान है ॥

—हरदान, मोगड़ा (सं० १९६०)

(८९)

बात कबौं न करैं हँसि राज की जाति में जाय कै नैकु न बोलैं ।
त्यौं जगदीस हजारन की हिय बात सुनैं अपनी नहिं खोलैं ॥
प्रीत परोसिन तैं न तजैं पर वस्तु सदा विष कै सम तोलैं ।
झूठ कबौं न कहै मुख तैं हरि नाम जपै नर होत अमोलैं ॥

—जगदीशलाल, बूँदी (सं० १९६०)

---

(८८) **हरदान**—ये सिंढायच कुलोत्पन्न जाति के चारण थे ।

(८९) **जगदीश लाल**—ये बूंदी के प्रसिद्ध गोस्वामी गदाधर लाल जी के वंश में थे । इन्होंने साहित्य-सार आदि १८ ग्रंथ बनाये थे ।

(६०)

मूकि जातीं सौतैं सब दीरघ दिमाक देखि,
रसिक बिलोकि होत बिकल निहारे मैं ।
झरत न झारे थके गारडू बिचारे जरी,
जंत्र-मंत्र बिबिध प्रकार उपचारे मैं ॥
दत्त कवि कहै मन धरत न धीर अजौं,
कैसे बचैं कुटिल कटाच्छ फुसकारे मैं ।
विषधर भारे नाग कारे नैन कामिनि कै,
काटि छिपि जात हाय पलक पिटारे मैं ॥

—उमादत्त, अलवर (सं० १६७०)

(६१)

ये री वृषभानु की कुमारी सुकुमारी तेरी
दीठि अनियारी नैं दबायो दिल दौरि कै ।
हाँसी हरषाय भुलवाय बर बैनन से,
बस में बसाय ताहि नासा नैकुमौरि कै ।
रामनाथ कीनौ कछु टोना सो भ्रमाय भौंह,
लीनौं मोल मोरवारी बेसर में जौरि कै ॥
नंद के कुमार वृन्दाविपिन बिहारी पर,
जुलुम करौ न जाल जुलफन छौरि कै ॥

—रामनाथ, बूँदी (सं० १६७५)

---

(९०) उमादत्त—ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण अलवर के दरबारी कवि थे ।

(९१) रामनाथ—ये बूंदी के प्रसिद्ध कवि राव गुलाब जी के दत्तक पुत्र थे । इन्होंने छोटे मोटे कुल मिलाकर ११ ग्रंथ लिखे थे ।

(९२)

भक्तिज्ञान हित शांत वीर नाहर जब मार्यो।
राजावत अरु बणीठणी सों शुचि रस सार्यो॥
कथा व्यास हित करुण रौद्र माणकचँद ऊपर।
अद्भुत मृग कौं पकरि कूबरी तैं लिय भूपर॥
वीभत्स सर्प ठोड़ी मली भय हू वामें कछु सरस।
फाग खेल मधि हास्य यों नव रस मय नागर सुजस॥

जयलाल किशनगढ़ (सं० १९८०)

(९३)

फूलै ना पलास ये हैं भाजन हुतास भरे, भौंरन की भीर नाँहि धूप-धूम धारे हैं।
मंजुल रसाल-मोर ना बुहारी झारबै की, कोकिला की कूक नाँहि मंत्र को उचारे हैं।
मारुत मलय नाँहि बार बार फूँकत है, चुटकी गुलाब नाँहि फट-फटकारे हैं।
कहै 'साँमतेश' यह है नहीं बसंतकाल, जाङ्गलिक मानिनी को मान-विष झारे हैं॥

—सामन्तसिंह, पिपलाज (सं० १९४१-८९)

(९४)

जंग भटवाड़े माहिं कोटा और जयपुर की, चमू चतुरंगिनी सों कंपित थली भई।
जालिम प्रतापी वीर झल्ल तब क्रुद्ध होय, कोष तैं कृपाण काढ़ि कर में भली लई।
घोर घमसान युद्ध माच्यौ जब आपस में, चंडिका प्रसन्नतार्थ शत्रुन बली दई।
मान भयो मर्दन न गर्दन उठन पाई, झंडा छिनवाय सेना भाग के चली गई॥

—महाराज जसवन्त सिंह जी, झालावाड़ (सं० १९९०)

---

(९२) जयलाल—ये वृन्द कवि की वंश-परंपरा में बलदेव जी के पुत्र थे।

(९३) सामन्त सिंह—ये मेवाड़ राज्य के पिपलाज ठिकाने के ठाकुर साहब के संबंधियों में से थे।

(९४) महाराज जसवंत सिंह जी—इनका जन्म सं० १९२७ में हुआ था। झालावाड़ के वर्तमान महाराजा साहब ने इनको 'राज-रत्न' की उपाधि से विभूषित किया है।

(६५)

अंक विधिना कै बंक निरखि निसंक कहौं,
राजन तैं रंक लौं कलंक की अछूती को।
धन्य छत्री जाति पारीजात सी मनात हूँ ती,
छिति सरसात छत्र राजस विभूती को ॥
हा हा वह कलिकाल में बिहाल बनी,
नाम न निशान राख्यो मन मजबूती को।
खोय दीनों क्षात्र धर्म बोय दीनों बंस जस,
निपट डुबोय दीनों वट रजपूती को ॥

—बारहट केसरीसिंह, कोटा (सं० १९९०)

(९६)

सरबस सौंपके सुदामा को बढ़ायो मान
इन्द्र अभिमान हर्यो वारि धार टारी है।
गोकुल गलीन गेह-गेह मोह मोद छायो,
कंस के महल मच्यौ हाहाकार भारी है ॥
चीर को बढ़ाय धाय राखी लाज द्रौपदी की,
पय को पिलावत ही पूतना पछारी है ॥
सुर सुखकारी है मुरारी भी तुही है फेर,
कैसे कहूँ केवल तू सर्व हितकारी है ॥

—श्रीमान महाराजाधिराज श्री राजेन्द्र सिंह जी देव बहादुर, झालावाड़

---

(९५) **केसरी सिंह जी**—ये वंश भास्कर के प्रसिद्ध टीकाकार कृष्णसिंह जी बारहठ के पुत्र हैं। शाहपुरे के पोलपात हैं, पर इस समय कोटे में रहते हैं। राष्ट्रीय विचारों के सहृदय व्यक्ति है। राजनैतिक क्षेत्र में खूब काम किया है।

(९६) **श्री महाराज राणा राजेन्द्रसिंह जी बहादुर**—ये झालावाड़ के वर्तमान अधिपति है। प्रतिभावान कवि और काव्य मर्मज्ञ है। कविता में अपना नाम प्रायः सुधाकर रखते हैं।

(६७)

जहँ अश्वहु बेच बसावै गधे, कसतूरी कपूर समान बिकाई।
न्याय अन्याय बराबर है, अरू मूरख टोली बसै चितलाई॥
निंदक नीच रहैं जिहिं ग्राम में, ज्ञान की बात कछू न सुहाई।
आदर है न गुनी जन को तिहिं देस को दूर प्रणाम सदाई॥

—विजय माणिक्य रुचि, भींडर (जन्म सं० १६४६)

(६८)

टोपन कौं फारि दीनै कवचन तोरि दीनैं,
हवद विथोरि दीनैं धधकि धकायो है।
म्लेछन कौं मारि दीनैं हाथिन पछारि दीनैं,
तुरंग उथारि दीनैं फुल्लि विफरायो है॥
गिरिन हलाय दीनैं दिग्गज डुलाय दीनैं,
अचल चलाय दिग्घ पौरुष दिखायो है।
वीर जयमल रन ठेलि कै दुरग काज,
ऐसो खग-खेल खेल सुरग सिधायो है॥

—कवि राव मोहन, मेवाड़ (जन्म संवत् १६४६)

---

(६७) विजय माणिक्य रुचि—ये मेवाड़ के रहने वाले जैनयति हैं। सुकवि होने के साथ साथ बड़े सदाचारी और साहित्य प्रेमी हैं। इनकी कविताओं के दो संग्रह पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं।

(६८) कवि राव मोहन जी—ये बख्तावर जी राव के प्रपौत्र है। इन्होंने मोहन सतसई, प्रताप यश चन्द्रोदय आदि १०-१२ ग्रंथ बनाये है जिनमें से दो-एक छप चुके हैं। सुकवि है।

(६६)

कारी होत देह शीत-घाम अरु मेह सहैं,
तन मन वारैं कष्ट नेकु ना विचारे हैं।
ग्राम पुर छांड़ि गिरि कानन निवास करैं,
जीवन बितावें एक ईश के सहारे हैं॥
सेवा करैं 'सेविका' सदैव निज देश हेतु,
पूजा पाठ, पर उपकार व्रत धारे हैं।
आह भी न करैं जो सतावैं दुराचारी उन्हें,
सच्चे तपधारी भक्त कृषक हमारे हैं॥

—मुक्तादेवी, झालावाड़ (जन्म सं० १६६६)

(१००)

बिजया पीबौ है बुरो, कहौं सुनौ दे कान।
बितै समय बकवाद में, खास क्रोध की खान॥
खास क्रोध की खान, वित्त-बल-बुद्धि विनासै।
पूरण करै प्रमाद, कामना परम प्रकासै॥
सत्य कहैं 'रणबीर', जराये देवत जीया।
सिरढ़ी करै जु सुस्त, बिगारत सुध बुध बिजिया॥

—ठाकुर रणबीर सिंह, पिपलाज (जन्म सं० १६६७)

---

(६६) मुक्तादेवी—ये कॉन्विन गर्ल्स स्कूल, झालावाड़ में अध्यापन का कार्य करती हैं। काव्य रचना में सिद्धहस्त हैं।

(१००) ठाकुर रणवीर सिंह—ये ठाकुर सामंत सिंह जी के पुत्र हैं। हिन्दी गद्य और पद्य दोनों लिखते हैं।

अनुक्रमणिका

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	८	उसका	उनका
१८	१५	मिट्टी ढेले	मिट्टी के ढेले
२४	५	श्रेताओं	श्रोताओं
२५	८	भाखड़ी	भाषड़ी
२७	१०	निश्चिय	निश्चित
२८	२१	तक तक	तब तक
३०	८	ससूकीया	सहूकीया
३०	१४	पाटलइ	पालटइ
३६	४	श्यामलदान	श्यामलदास
४१	४	मेघ	मेछ
४१	१४	इनमें	इसमें
४५	४	होना था	होता था
५६	२२	ताज	लाज
६३	७	सू रतनि	सूरतनि
६३	१७	गोघोख	गोघोख
६४	१५	निहालो	तुहालो
६९	१३	जमान	जमात
७६	२२	गाम्भीर्र्य	गाम्भीर्य
७७	२३	घिरकै	छिरकै
७८	५	घूल्यो रे	बघूल्यो रे
७८	६	डुल्यो रे	ढूल्यो रे
७९	१७	अबनि	सबनि
८२	७	दरियाराव जी	दरियाव जी
८४	६	जति	जाति
८५	१९	पीजनी	पीजने
८६	७	नमक	नामक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९०	४	पड़्या	पड़्यौ
६३	७	विशिष्ठ	विशिष्ट
६४	२६	नौर	और
६६	२८	गाऊँ	गाउँ
६६	२९	नाऊँ	नाउँ
९७	४	परारौं	पराएँ
९७	११	जी गननु	जीगननु
६७	११	कह्यौ	कह्यौ न
१०८	२६	उज्जैमि	उज्जैनि
११०	१४	करि	कटि
११२	६	बहादुरशाह	बहादुर सिंह
११०	९	हादुरसिंह	बहादुरसिंह
१२२	८	बाट्टहीं	बाहहीं
१२३	८	छाँट्टहीं	छाँहहीं
१२३	६	करात्टहीं	कराहहीं
१२४	४	दरा	दए
१२४	४	भरा	भए
१२४	२३	प्रैतृक	पैतृक
१२६	४	सं० १९२१	सं० १८२१
१३४	५	सिए	लिए
१३७	२१	शेखाटीवा	शेखावाटी
१३८	२८	खूंट	खूंद
१३८	२८	पैलारी	पैलारी
१७५	२०	घर	घरी
१७८	१७	रोज़	राज़
१८०	१९	गारव	गौरव
१८२	१८	विज्ञासियों	विज्ञसियो
२०९	९	रेज्यूकेशन	एज्यूकेशन
२०९	१०	कणिका	किणका
२२४	१४	कुशलला	कुशललाभ

कुछ अनुपम पुस्तकें